पद पौर्णमासी में प्रयुक्त नहीं हैं, वहाँ सूक्तवाक पद का प्रयोग किसी प्रमाण से बाधित नहीं होता। वह अपने रूप में पूर्ण सूक्तवाक है। फलतः पौर्णमासी और अमावास्या में देवता-निर्देश के अनुसार विभाग करके सूक्तवाक-सन्दर्भ का प्रयोग करना चाहिए। इस अधिकरण के निर्णय के अनुसार शास्त्र में 'सूक्तवाकन्याय' व्यवहृत होता है ॥१८॥ (इति सूक्तवाकानामर्थानुसारेण विनियोगाऽधिकरणम्—६)

(काम्ययाज्यानुवाक्यानां काम्यमात्राङ्गताऽधिकरणम्—७)

मैत्रायणी संहिता काण्ड ४ के प्रपाठक १०-१४ में कतिपय काम्येष्टियाँ पठित हैं। किसी विशिष्ट कामना की पूर्त्ति के लिए देवताविशेष को उद्देश्य कर जो कर्मानुष्ठान किया जाता है, काम्येष्टि (काम्या-इष्टि, कामना को लेकर कियागया यजन) है। इस प्रकरण का नाम 'काम्ययाज्यानुवाक्या काण्ड' है। वहाँ याज्या-अनुवाक्या-संज्ञक कतिपय ऋचाएँ पठित हैं—'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' [ऋ० ३।१२।९], 'प्र चर्षणिभ्यः' [ऋ० १।१०९।६], 'इन्द्राग्नी नवतिं पुरः' [ऋ० ३।१२।६], 'श्रथद् वृत्रम्' [ऋ०६।६।१] इत्यादि। यह दो-दो ऋचाओं का युगल है। अनुवाक्या-संज्ञक ऋचाएँ इष्टि के पहले पढ़ी जाती हैं, याज्या-संज्ञक पश्चात्। 'इन्द्राग्नी रोचना' ऋचा ऐन्द्राग्न इष्टि कर्म की अनुवाक्या है, और 'प्र चर्षणिभ्यः' याज्या है। ऐसे ही 'इन्द्राग्नी नवतिं' ऋचा ऐन्द्राग्न कर्म की अनुवाक्या, और 'श्रथद् वृत्रम्' याज्या है।

इनसे अतिरिक्त अन्य भी काम्य इष्टियाँ हैं—'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद् यस्य सजाताः वीयायुः' [मैत्रा० २।१।१]—इन्द्र और अग्नि देवतावाले एकादश कपाल पुरोडाश का निर्वाप करे, जिसकी सन्तान अल्पायु में मर जाते हों। 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद् भ्रातृव्यवान्' [मै० सं० २।१।१]—इन्द्र और अग्नि देवतावाले एकादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे, जिसके शत्रु विद्यमान हों। 'अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपेद् रुक्कामः'—कांति की कामनावाला व्यक्ति वैश्वानर अग्नि के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे। 'अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपेद् सपत्न-(समान्त)-मभिद्रोक्ष्यन्' [मै० सं० २।१।२]—शत्रु से द्रोह करता हुआ व्यक्ति वैश्वानर अग्नि के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश निर्वाप करे, इत्यादि।

शिष्य जिज्ञासा करता है—इन याज्या-अनुवाक्या-संज्ञक ऋचाओं के विषय में सन्देह है—क्या जितना भी इन्द्राग्नी देवतावाला कर्म है, वहाँ सर्वत्र इस इन्द्राग्नी-वाले याज्या और अनुवाक्या ऋचाओं के जोड़े का प्रयोग होना चाहिए? अथवा इस इन्द्राग्नी देवतावाली काम्या इष्टि में ही प्रयोग होगा? इसी प्रकार वैश्वानरीय याज्या-अनुवाक्या के विषय में भी सन्देह है—क्या इसी वैश्वानरीय इष्टि

में इनका प्रयोग मान्य है ? अथवा जितना वैश्वानर अग्निवाला कर्म है, वहाँ सर्वत्र इनका उपयोग किया जायगा ? मन्त्रपठित देवतावाचक पदों के सामर्थ्यरूप लिङ्ग से ज्ञात होता है कि इन याज्या-अनुवाक्या ऋचाओं का प्रयोग उन समस्त कर्मों में माना जाना चाहिए, जो उस देवता के उद्देश्य से अनुष्ठेय हो। देवता-सामर्थ्य-लिङ्ग से ऐन्द्राग्न, वैश्वानरीय, अग्नीषोमीय, जातवेदस आदि सभी कर्मों में इनका प्रयोग प्राप्त होता है। यद्यपि समाख्या = संज्ञा तथा क्रम के आधार पर जहाँ ये पठित हैं, वहीं इनका प्रयोग होना चाहिए, सर्वत्र नहीं; तथापि शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार क्रम और समाख्या की अपेक्षा बलवान् होने से लिङ्ग उनको बाधित कर सकता है।

मीमांसा सूत्र [३।३।१४] द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान (=क्रम), समाख्या, इन निर्णायक साधनों में जब अनेक साधन किसी निर्णय के लिए एकसाथ उपस्थित होते हैं, तब पूर्व की अपेक्षा पर-साधन दुर्बल माना जाता है। पूर्व-साधन पर-साधन को बाधित कर देता है। ऐसी स्थिति में लिङ्ग, क्रम और समाख्या को बाधित कर याज्या-अनुवाक्या के ऐन्द्राग्न आदि सर्वत्र काम्य इष्टियों में प्रयोग का प्रयोजक होगा। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

लिङ्गक्रमसमाख्यानात् काम्ययुक्तं समाम्नानम् ॥१९॥

[लिङ्गक्रमसमाख्यानात्] लिङ्ग का सहयोग प्राप्त कर क्रम से और समाख्या=नाम से [काम्ययुक्तम्] काम्या इष्टि से केवल सम्बद्ध है, [समाम्नानम्] ऋचाओं का पाठ।

उक्त याज्या-अनुवाक्या ऋचाओं का सम्बन्ध केवल उसी काम्या इष्टि से अभिमत है, जिस स्थान (—क्रम) में और जिस नाम के काण्ड में वे पठित हैं। उनका प्रयोग सर्वत्र काम्य इष्टियों में नहीं होगा। कारण यह है कि काम्ययाज्या-नुवाक्या काण्ड में जो क्रम लिङ्ग का अर्थात् तत्तत् दैवत काम्य कर्म का है, वही क्रम इन याज्या और अनुवाक्या ऋचाओं का है। इसलिए यहाँ लिङ्ग उनका बाधक न होकर सहयोगी रहेगा। इस कारण ये याज्या-अनुवाक्या ऋचाएँ उन्हीं काम्य इष्टियों के अङ्गभूत हैं, जहाँ पठित हैं। यहाँ समाख्या बलवती है, क्योंकि उसके बिना इन ऋचाओं का याज्या होना या अनुवाक्या होना ही नहीं जाना जाता। तब अन्यत्र पठित कर्मों की ये याज्या-अनुवाक्या होंगी, यह प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए यहाँ पठित कर्मों एवं ऋचाओं के क्रम (स्थान) की उपेक्षा नहीं की जा सकती। लिङ्ग यहाँ प्रतियोगिता में नहीं आता। क्योंकि याज्या-अनुवाक्या यहाँ वही ऋचाएँ हैं, जिनमें वचनबोध्य देवता-सामर्थ्य विद्यमान है। वह स्थान (=क्रम) का विरोध क्यों करेगा ?

यह भी ध्यान देने की बात है कि इन ऋचाओं की समाख्या—संज्ञा=याज्या-अनुवाक्या, काम्या इष्टियों की ही याज्या-अनुवाक्या होने को प्रकट करती है, सब कर्मों की नहीं। यदि इनके इस नाम का आदर नहीं किया जाता, तो इन ऋचाओं का याज्या-अनुवाक्यारूप में अस्तित्व ही रहता। तब इस काण्ड का 'काम्य-याज्यानुवाक्याकाण्ड' नाम भी अनादृत होगा, जो सर्वथा अवाञ्छनीय है। जब इस नाम को स्वीकार किया जाता है, तो तत्तत् देवतावाले सभी कर्मों की ये ऋचाएँ याज्यानुवाक्या नहीं हो सकतीं। केवल उन्हीं काम्येष्टियों के ये अङ्गभूत हैं, जो इस काण्ड में पठित हैं ॥१९॥ (इति काम्ययाज्यानुवाक्यानां काम्यमात्राङ्गताऽधिकरणम्—७)।

(आग्नीध्राद्युपस्थाने प्राकृतानां मन्त्राणां विनियोगाऽधिकरणम्—८)

संहिता-[तै० ३।१।६।१ तथा सूत्र मानव श्रौ० २।३।११]-ग्रन्थों में ज्योतिष्टोम प्रसंग से इस प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है—'आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते, ऐन्द्र्या सदः, वैष्णव्या हविर्धानम्'—अग्निदेवतावाली ऋचा का उच्चारण करते हुए आग्नीध्रसंज्ञक अग्नि का उपस्थान करता है, अर्थात् उसके समीप जाता है; इन्द्र देवतावाली ऋचा से सदस्थान और विष्णु देवतावाली ऋचा से हविर्धान-स्थान—का उपस्थान करता है। इस विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या प्रस्तुत प्रकरण में पठित उक्त देवतावाली ऋचाओं से उपस्थान करना चाहिए? अथवा ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं भी पठित उक्त देवतावाली ऋचाओं का उपस्थान में विनियोग करना चाहिए? प्रतीत होता है, ऋग्वेद में कहीं भी पठित ऋचाओं का विनियोग यहाँ सम्भव है, क्योंकि उक्त वाक्यों में साधारण रूप से यह कहा है कि 'अग्नि देवतावाली ऋचा से यह कार्य करे।' प्रकरण-पठित ऋचा से ही करे, ऐसा विशेष अवधारण नहीं किया है। शिष्य के सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप से प्रस्तुत किया—

अधिकारे च मन्त्रविधिरतदाख्येषु शिष्टत्वात् ॥२०॥

[अधिकारे] ज्योतिष्टोम के अधिकार=प्रकरण में पठित अथवा ज्योतिष्टोम क्रतु के समीप में पठित [मन्त्रविधिः] मन्त्रों का विधान उक्त कार्य के लिए जानना चाहिए। [अतदाख्येषु] ज्योतिष्टोम प्रकरण से अन्यत्र पठित मन्त्रों में [च] भी उपस्थान-विधि जाननी चाहिए, [शिष्टत्वात्] उक्त वाक्यों में सामान्य रूप से कथन होने के कारण।

'आग्नेय्या, ऐन्द्र्या, वैष्णव्या' पद साधारण रूप में कहे गये हैं। ज्योतिष्टोम प्रकरण में तथा अन्यत्र पठित अग्नि आदि देवताओंवाली ऋचाओं से उक्त

उपस्थान-कार्य किया जाना सम्भव है। यहाँ ऐसा विशेष कथन नहीं है कि प्रकरण-पठित ऋचाओं से ही उपस्थान-कार्य किया जाय। साधारण कथन में प्रकरण-अप्रकरण-पठित किन्हीं भी ऋचाओं से कार्य किया जा सकता है। परन्तु प्रकरण-पठित ऋचाओं का प्रकरण में स्तोत्र-शस्त्र आदि अन्य कार्य भी निर्दिष्ट है। विहित कार्य को सम्पन्न कर वे ऋचा अन्य कार्य के लिए निरपेक्ष हैं। कार्यान्तर में प्रवृत्ति के लिए उनकी कोई उत्सुकता नहीं रहती। तब ऋग्वेद में कहीं भी अन्यत्र पठित अग्नि आदि देवताओंवाली ऋचाओं का विनियोग उपस्थान-कार्य में किये जाने के लिए कोई बाधा नहीं है। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित ऋचाओं से ही उपस्थान-कार्य सम्पादन किया जाय ॥२०॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत किया—

तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ॥२१॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य है, ऋग्वेद के किसी भी स्थल से आग्नेयी आदि ऋचाओं का ग्रहण यहाँ नहीं करना चाहिए, प्रत्युत [तदाख्यः] उस ज्योतिष्टोम में आख्यात = पठित मन्त्रों का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि [प्रकरणोपपत्तिभ्याम्] प्रकरण और उपपत्ति = युक्ति से ऐसा ही जाना जाता है।

आग्नीध्र आदि के उपस्थान के लिए ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित ऋचाओं का ही क्यों ग्रहण करना चाहिए; इसमें हेतु हैं—प्रकरण और उपपत्ति।

प्रकरण—उपस्थान-कार्य ज्योतिष्टोम का अङ्ग है। ज्योतिष्टोम-सम्बन्धी कोई अङ्गभूत कार्य उपस्थित होने पर उस कार्य के सम्पादन के लिए प्रकरण-पठित ऋचाएँ तत्काल उपस्थित होंगी। उनका प्रेरणक गुण सान्निध्य = सामीप्य है। यद्यपि अन्यत्र पठित ऋचाओं में अग्निदेवतारूप लिङ्ग-प्रकरण से बलवान् माना जाता है, वह प्रकरण को बाधित करेगा। तब अप्रकरण-पठित ऋचा क्रतु-कार्य उपस्थान के सम्पादन के लिए प्रवृत्त होंगी। परन्तु यह कथन युक्त नहीं है; क्योंकि लिङ्ग से प्रकरण की बाधा वहीं सम्भव है, जहाँ प्रकरण लिङ्ग का विरोध कर रहा हो। यहाँ विरोध का अवकाश ही नहीं; क्योंकि प्रकरणपठित ऋचाओं में जैसे अग्निदेवता लिङ्ग है, वैसे ही अप्रकरणपठित ऋचाओं में अग्नि आदि देवता लिङ्ग हैं। यदि प्रकरण अन्य किसी देवतालिङ्ग को प्रस्तुत करता, तो प्रकरण बाधित होता। दोनों जगह देवतालिङ्ग समान होने से प्रकरण अनुगृहीत होता है, इससे और अधिक सबल बनता है। इस कारण ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित ऋचा, ज्योतिष्टोम क्रतु के अङ्गभूत कार्य को सम्पादन करने के लिए सान्निध्य के कारण तत्काल उपस्थित होंगी। किसी एक कार्य को सम्पन्न करने के अनन्तर ऋचा कोई थक नहीं जातीं जो कार्यान्तर की सम्पन्नता के लिए प्रवृत्त न हो

सकें। इसलिए प्रकरणपठित ऋचाओं से ही उपस्थान-कार्य किया जाना युक्त है।

उपपत्ति—इसका अर्थ युक्ति है। किसी कार्यविशेष के लिए विनियोज्य मन्त्र यदि प्रकरण में पठित है, तो उसको ग्रहण करने में लाघव रहता है, अतिरिक्त आयास नहीं करना पड़ता। यदि अप्रकरणपठित मन्त्र को प्रकरणगत कार्य में विनियोग के लिए वहाँ लाया जायगा, तो उसके विधान के लिए अलग वाक्य की कल्पना करनी होगी, जिसमें गौरव (गुरुतर कार्य करना) होता है ॥२१॥

इसी उपपत्ति को आचार्य सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

अनर्थकश्चोपदेशः स्याद् असम्बन्धात् फलवता न हि
उपस्थानं फलवत् ॥२२॥

[फलवता] फलवाले ज्योतिष्टोम के साथ प्रकरण से अन्यत्र पठित मन्त्र का —[असम्बन्धात्] सम्बन्ध न होने के कारण उस मन्त्र का [उपदेशः] उपस्थान के लिए उपदेश=कथन [अनर्थकः] अनर्थक [च] भी अथवा ही [स्यात्] होगा। [हि] क्योंकि [उपस्थानम्] उपस्थान—प्रधान कर्म ज्योतिष्टोम का—अंगभूत होने से [फलवत्] अपने स्वतन्त्र फलवाला [न] नहीं होता।

उपस्थान-कार्य ज्योतिष्टोम का अंगभूत है। उसके सम्पादन के लिए विधान है—'आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते'। आग्नेयी (अग्नि देवतावाली) ऋचा का उच्चारण करता हुआ आग्नीध्र अग्नि के समीप बैठता है; ऐन्द्री ऋचा का उच्चारण करता हुआ सदस्थान, तथा वैष्णवी ऋचा का उच्चारण करता हुआ हविर्धान-स्थान पर उपस्थित होता है। इस विधान के सान्निध्य में ही आग्नेयी आदि ऋचा पठित हैं। 'आग्नेय्या' आदि पद उन्हीं की ओर संकेत करते हैं। उपस्थान-कर्म का अपना कोई स्वतन्त्र फल नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि प्रकरण की उपेक्षा कर अन्यत्र कहीं से आग्नेयी आदि ऋचाओं का ग्रहण किया जाता है, तो यह उपस्थान-कार्य ज्योतिष्टोम का अङ्ग न रहकर अलग हो जाता है। तब यह कर्म निरर्थक होगा। न इसका कहीं ऐसा विधान है कि अमुक आग्नेयी आदि मन्त्रों से इसका सम्पादन किया जाय; और न इस उपस्थान-कर्म के फल का कहीं निर्देश है। यह सर्वथा फलरहित रहेगा। ऐसे अशास्त्रीय निष्फल कर्म का अनुष्ठान कोई मन्द भी न करेगा। इसके अतिरिक्त यह भी समझना चाहिए कि यदि उपस्थान-मन्त्र कहीं अन्यत्र से लिये जाते हैं, तो ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित 'आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते' इत्यादि उपदेश अनर्थक हो जायगा। इसलिए ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत उपस्थान-कर्म में प्रकरणपठित आग्नेयी आदि ऋचाओं का ही विनियोग मान्य है ॥२२॥

एक कार्य में विनियुक्त ऋचाओं का कार्यान्तर में विनियोग नहीं होना

चाहिए, यह कथन भी अमान्य है; सूत्रकार ने बताया—

सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् ॥२३॥

[च] क्योंकि [सर्वेषाम्] सब मन्त्रों का वाचस्तोम-संज्ञक कर्म में [उपदिष्टत्वात्] उपदेश = विनियोग होने से।

सोमयाग में रात्रि का चतुर्थ प्रहर प्रारम्भ होने पर आश्विन शस्त्र पढ़ा जाता है। पढ़ते-पढ़ते यदि सूर्योदय न हो, तो उस अवान्तर-काल में ऋक्, यजुः, साम का कहीं से भी पाठ किया जाता है, जब तक सूर्योदय न हो। इसका तात्पर्य है, उस काल में ऋत्विक् आदि मानुषवाणी का प्रयोग न करें। अश्वमेध प्रकरण में पारिप्लव-आख्यान ऐसा ही कर्म है, जिसमें अपेक्षित सब मन्त्रों के विनियोग का विधान है। जिन मन्त्रों का इन प्रसंगों में प्रयोग अथवा विनियोग किया जाता है, उनमें से अनेक मन्त्रों का विनियोग कर्मान्तरों में किया गया होता है। इसलिए यह कहना न्याय्य नहीं है कि एक मन्त्र का विनियोग एक ही कर्म में होता है। फलतः ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित आग्नेय आदि मन्त्रों का स्तोत्र-शस्त्र में विनियोग होने पर उपस्थान-कर्म में विनियोग होने के लिए भी कोई बाधा नहीं है ॥२३॥ (इति आग्नीध्राद्युपस्थाने प्राकृतानां मन्त्राणां विनियोगाऽधिकरणम्—८)।

(भक्षमन्त्राणां यथालिङ्गं ग्रहणादौ विनियोगाऽधिकरणम्—९)

सोमयाग के अन्तर्गत ज्योतिष्टोम प्रसंग में सोम-हवि के भक्षण का मन्त्र पठित है—**'भक्षे हि माऽऽविश दीर्घायुत्वाय ..... उपहूतो भक्षयामि।'** यह लम्बा मन्त्र है, तैत्तिरीय संहिता के तीसरे काण्ड के दूसरे प्रपाठक का पाँचवाँ पूरा अनुवाक है। यहाँ केवल कतिपय प्रारम्भिक और अन्तिम पदों का निर्देश किया है। आहवनीय अग्नि में सोमरस की आहुति के अनन्तर शेष सोम का—सदो-मण्डप में बैठकर याज्ञिक—भक्षण (पान) करते हैं। प्रस्तुत अनुवाक में इसी प्रसंग के मन्त्र हैं। इसी आधार पर अनुवाक नाम 'भक्षानुवाक' है।

सोमभक्षण-अवसर के चार व्यापार होते हैं—ग्रहण, अवेक्षण, पान (=भक्षण), पाचन (=जारण)। चमस में सोमरस को भरकर हाथ में लेना या पकड़ना ग्रहण' है। उसे अच्छी तरह देखना 'अवेक्षण' है कि इसमें कोई तृण या मक्षिका आदि कीट तो नहीं है? अनन्तर तीसरा मुख्य व्यापार पान (भक्षण) है। अन्तिम चौथा व्यापार उसका पाचन व जारण है। शक्ति के अनुसार जितना पचाया जा सके अथवा सहन किया जा सके, उतना ही लिया जाय।

इस विषय में शिष्य जिज्ञासा करता है—यहाँ यह सन्देह है, क्या इस समस्त

अनुवाक का केवल सोमभक्षण में विनियोग है ? अथवा अर्थानुसार विभिन्न अंशों का अलग-अलग विभिन्न व्यापारों में विनियोग है ? प्रतीत होता है, समस्त अनुवाक का विनियोग केवल सोमभक्षण में होना चाहिए; क्योंकि अनुवाक का प्रारम्भ 'भक्षे' क्रियापद से होता है, और अन्त में भी 'भक्षयामि' क्रियापद है। इस मान्यता में अनुवाक के उपक्रम और उपसंहार का सामञ्जस्य अनुगृहीत होता है। तब व्यापारों में सोमभक्षण-व्यापार के मुख्य होने से भी समस्त अनुवाक का विनियोग उसी में मानना उपयुक्त है। शेष व्यापार तो उसके अनुषंगी-मात्र हैं, केवल पिछलग्गू। शिष्य के सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष-रूप में सूत्रित किया—

लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ॥२४॥

[लिङ्गसमाख्यानाभ्याम्] 'भक्षे' एवं 'भक्षयामि' लिंग से तथा भक्षानुवाक नाम से [अनुवाकस्य] प्रस्तुत अनुवाक का [भक्षार्थता] भक्षण-प्रयोजन के लिए होना ज्ञात होता है।

सम्पूर्ण अनुवाक का सोमहवि के भक्षण में विनियोग होना चाहिए, यह तथ्य अनुवाक में पठित 'भक्षे, भक्षयामि' आदि स्पष्ट कथन से सिद्ध होता है। इसी आधार पर आचार्यों ने अनुवाक का नाम 'भक्षानुवाक' निर्धारित किया है। तब सम्पूर्ण अनुवाक का विनियोग सोमहवि-भक्षण के लिए होने में कोई बाधा दिखाई नहीं देती। अनुवाक में अन्य पद भी भक्षण को ही सहयोग देनेवाले हैं।

यह कहना भी युक्त न होगा कि अनुवाक के कुछ अंश—ग्रहण, अवेक्षण, पाचन के—निर्देशक होने से, उनका विनियोग ग्रहण आदि में होना चाहिए, क्योंकि 'भक्षानुवाक' यह संज्ञा सम्पूर्ण अनुवाक की है, किसी अंश-विशेष की नहीं। इसलिए अनुवाक के किसी भाग का विनियोग सोमहविभक्षण को छोड़कर अन्यत्र 'ग्रहण' आदि में नहीं हो सकता ॥२४॥

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा का समाधान किया—

तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वात् ॥२५॥

[तस्य] उस भक्षानुवाक का [अपकर्षः]अपकर्ष=पार्थक्य होता है। तात्पर्य है—अनुवाक का विभाग करके उपयुक्त अंश का विनियोग 'ग्रहण' आदि में होता है; कारण है—[रूपोपदेशाभ्याम्] ग्रहण आदि अर्थों के रूप=प्रकाशनसामर्थ्य तथा उपदेश=उन वाक्यों द्वारा विशेष अर्थ का कथन [अर्थस्य] ग्रहण आदि अर्थ के [चोदितत्वात्] उन वाक्यों द्वारा विधान किए जाने से।

सम्पूर्ण अनुवाक का विनियोग केवल 'सोमहविभक्षण' में है, ऐसा कथन युक्त नहीं; क्योंकि उसके विभिन्न अंश, भक्षण के विभिन्न व्यापारों को अभिव्यक्त

करते हैं।

'एहि' से लेकर 'सध्यासम्' तक का भाग वाक्यार्थ के प्रकाशन-सामर्थ्य से ग्रहण का वाक्य है। सोम के ग्रहण-व्यापार में इसका विनियोग है। वाक्य का अर्थ है—

हे निवास के हेतु सोम! तू निवास के लिए हमें प्राप्त हो। हे पुरुवसो! अत्यधिक धनादि से युक्त वास करानेहारे सोम, तू मेरे हृदय का प्रिय है। अश्विदेवों के बाहुओं से तुझे ग्रहण करता हूँ।

यह वाक्यार्थ उस तथ्य के लिए लिङ्ग है, हेतु है कि इस वाक्य का विनियोग कहाँ होना चाहिए। यदि वाक्यार्थ की उपेक्षा करके उसका विनियोग अन्यत्र किया जाता है, तो अभिधावृत्ति को छोड़कर लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना होगा, जो अवाञ्छनीय है। इसके अतिरिक्त वाक्य की दृष्टार्थता को छोड़कर अदृष्ट-प्रयोजन की कल्पना करनी होगी, जो अन्याय्य है। वाक्यार्थ के अनुसार—सोम-पूर्ण चमस को हाथों से ग्रहण करना—वाक्योच्चारण का दृष्ट प्रयोजन होगा। यदि उसका विनियोग ग्रहणव्यापार में न कर, भक्षण-(पान)-व्यापार में किया जाता है, तो उसके किसी अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना करनी होगी, जो शास्त्रीय मान्यता के अनुकूल नहीं है।

इसी प्रकार 'नृचक्षसम्' से लेकर 'अवख्येषम्' तक का भाग सोम के अवलोकन में विनियुक्त है, क्योंकि वह वाक्य अपने अभिधावृत्तिबोध्य 'सोमदर्शन' अर्थ को अभिव्यक्त करता है। अन्यथा लाक्षणिक अर्थ कल्पना करना होगा, जो पूर्वोक्त प्रकार से अन्याय्य है। इस वाक्य का अर्थ है—

हे देव सोम! मनुष्यों को देखनेहारे तुमको, उत्तम आँखोंवाला अच्छा देखनेवाला मैं देखता हूँ। ग्रहण के विवरण के समान सब स्थिति को यहाँ भी समझना चाहिए।

ऐसे ही 'हिन्व मे गात्रा' से लेकर 'नाभिमतिगाः' पर्यन्त सन्दर्भ का विनियोग सोमहवि के पाचन में है। क्योंकि यह सन्दर्भ अपने रूप—अर्थात् अभिधावृत्ति-

---

१. अनुवाक का प्रारम्भिक अपेक्षित भाग इस प्रकार है—

भक्षे हि माऽऽविश दीर्घायुत्वाय शन्तनुत्वाय रायस्पोषाय वर्चसे सुप्रजास्त्वाय।
एहि वसो पुरोवसो प्रियो मे हृदोऽस्यश्विनोस्त्वा बाहुभ्यां सध्यासम्।
नृचक्षसं त्वा देव सोम सुचक्षा अवख्येषम्।
हिन्व मे गात्रा हरिवोगणान् मे मा वितीतृषः। शियो मे सप्तर्षीन् उपतिष्ठस्व मे मेऽवाङ् नाभिमतिगाः।
मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यतु॥

बोध्य अर्थ के प्रकाशन-सामर्थ्य से सोमहविपाचन में विनियुक्त है। यदि ऐसा न माना जाय और सन्दर्भ का विनियोग सोमहविभक्षण (पान) में कहा जाय, तो अवाञ्छनीय एवं अशास्त्रीय लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना होगा, तथा सोमपाचन-रूप दृष्टार्थ का परित्याग कर अन्याय्य अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना करनी होगी। इसलिए सम्पूर्ण अनुवाक का केवल सोमहवि-भक्षण में विनियोग मानना युक्त नहीं है।

यद्यपि भक्षण के मुख्य होने से सम्पूर्ण अनुवाक का नाम 'भक्षानुवाक' है, पर ग्रहण, अवलोकन, पाचन भी अपने रूप में स्वतन्त्र कर्म हैं, किसी के विशेषण या पिछलग्गू नहीं हैं। ये उन पृथक् वाक्यों से कहे जाते हैं, जो ग्रहण, अवलोकन, पाचन अर्थों को प्रकाशित करने की क्षमता रखते हैं। यही उन सन्दर्भों का रूप है। भले ही ग्रहण आदि भक्षण के अङ्ग हों, पर अङ्गभूत कर्म भी अपने रूप में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। यदि ऐसा न माना जाय, और इन सन्दर्भों का भी भक्षण में विनियोग मानकर सम्पूर्ण अनुवाक को भक्षण में विनियुक्त कहा जाय, तो ग्रहण आदि के अदृष्ट प्रयोजन की अशास्त्रीय कल्पना करनी होगी, जो इस कथन की अमान्यता में उपपत्ति है, युक्ति है। इस प्रकार रूप और उपपत्ति के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि सम्पूर्ण अनुवाक का केवल सोमहवि के भक्षण-व्यापार में विनियोग न होकर ग्रहण, अवलोकन, भक्षण, पाचन आदि सभी क्रियाओं में पृथक्-पृथक् उन वाक्यों का विनियोग है, जो ग्रहण आदि अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं ॥२५॥ (इति भक्षणमन्त्राणां यथालिङ्गं ग्रहणादौ विनियोगाऽधिकरणम्—९)।

(मन्द्राभिभूतिरित्यादेर्भक्षयामीत्यन्तस्यैकशस्त्रताऽधि-करणम्—१०)

गत अधिकरण में भक्षानुवाक के प्रारम्भिक भाग में पठित वाक्यों के सम्बन्ध का विशेष विवेचन किया गया। शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या उसके आगे 'मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यतु' से लेकर अन्तिम वाक्य 'वसुमद्गणस्य सोमदेवते मतिविदः प्रातःसवनस्य गायत्रच्छन्दसोऽग्निष्टुत इन्द्र-पीतस्य मधुमत उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि' पर्यन्त एक ही मन्त्र है? अथवा 'मन्द्राभिभूतिः' से 'तृप्यतु' पर्यन्त पृथक् और 'वसुमद्गणस्य' से 'भक्षयामि' तक पृथक् मन्त्र हैं? प्रतीत होता है, ये दो मन्त्र हैं, क्योंकि गत सूत्र के निर्देशानुसार इनके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम वाक्य का तृप्ति-अर्थ भिन्न है; अन्तिम वाक्य का भक्षण-अर्थ भिन्न। तृप्ति और भक्षण एक नहीं होते। तृप्ति भक्षण का परि-णाम है, स्वयं भक्षण नहीं। इसलिए ये वाक्य भिन्न मन्त्र माने जाने चाहिएँ। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात् तयोरेकार्थसंयोगात् ॥२६॥

[गुणाभिधानात्] गुण के कथन होने से [मन्द्रादिः] 'मन्द्र' से लेकर 'भक्षयामि' पर्यन्त [एकमन्त्रः] एक मन्त्र [स्यात्] है। [तयोः] उन दोनों का [एकार्थसंयोगात्] एक अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से।

तृप्ति भक्षण का परिणाम है, इसलिए भक्षण का गुण है। भक्षण मुख्य है। तृप्ति और भक्षण दोनों का भक्षणरूप मुख्य अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से इस सम्पूर्ण मन्त्र का भक्षण-व्यापार में विनियोग है। तृप्ति, भक्षण-सम्बन्धी कोई व्यापार नहीं है, प्रत्युत उसका परिणाम होने से अंगभूत हुआ उसी में अन्तर्हित है। फलतः यह 'मन्द्र' से लेकर 'भक्षयामि' पर्यन्त सम्पूर्ण मन्त्र एक है, और उसका सोमहवि के भक्षण-व्यापार में विनियोग है ॥२७॥ (इति मन्द्राभिभूतिरित्यादेर्भक्षयामीत्यन्तस्यैकशस्त्रताऽधिकरणम्—१०)।

(इन्द्रपीतस्येत्यादिमन्त्राणां सर्वेषु भक्षेषूहेन विनियोगाऽधिकरणम्—११)

गत अधिकरण में भक्षानुवाक-विषयक एक निर्णय किया गया। इसी ज्योतिष्टोम प्रसंग में इन्द्र देवता के लिए तथा इन्द्र से भिन्न मित्रावरुण आदि देवताओं के लिए सोम की आहुतियों का कथन है। उनके शेष सोमरस के भक्षण का भी निर्देश है। शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या भक्षानुवाक मन्त्र का विनियोग केवल इन्द्राहुति के शेष सोमभक्षण में ही है? अथवा इन्द्र से भिन्न देवताओं को दी गई आहुतियों से बचे सोमरस के भक्षण में भी है? अनुवाक-मन्त्र में 'इन्द्रपीतस्य' लिंग के विद्यमान होने से केवल ऐन्द्र सोमाहुति से बचे सोम के भक्षण में ही मन्त्र का विनियोग होना चाहिए, ऐसा प्रतीत होता है। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य के सुझाव को पूर्वपक्षरूप से सूत्रित किया—

लिङ्गविशेषनिर्देशात् समानविधानेष्वनैन्द्राणामन्त्रत्वम् ॥२७॥

[समानविधानेषु] समान विधानवाले सोमाहुति-शेषों के भक्षण में [लिङ्गविशेषनिर्देशात्] 'इन्द्रपीतस्य'—इन्द्र द्वारा पिये गए—ऐसा विशेष लिङ्ग = कथन का निर्देश होने से [अनैन्द्राणाम्] इन्द्र से भिन्न देवतावाले हविशेषों का [अमन्त्रत्वम्] मन्त्ररहित भक्षण होता है, ऐसा समझना चाहिए।

इन्द्र से भिन्न देवतावाली हवियों का भक्षण मन्त्रोच्चारण न करते हुए ही करना चाहिए, क्योंकि इन हवियों का विधान समान रूप से एक प्रकरण में हुआ है। उनमें 'इन्द्रपीतस्य' यह मन्त्र इन्द्र से भिन्न देवता द्वारा पिये गये सोमहवि को नहीं कह सकता। इसलिए उन हवियों का भक्षण मन्त्ररहित होगा। इन्द्र

के लिए दी गई सोमाहुति के बचे सोम के भक्षण में ही मन्त्र का विनियोग है। हवियों का एक प्रकरण में विधान होने से ऊह सम्भव नहीं, जो मन्त्र में 'इन्द्र' के स्थान पर अन्य देवता का नाम पढ़ा जा सके। ऊह का क्षेत्र वस्तुतः विकृतियाग होते हैं। ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग है। इसलिए इन्द्र से भिन्न देवतावाली हवियों में भक्षण मन्त्ररहित होता है ॥२७॥

आचार्य सूत्रकार जिज्ञासा का समाधान करता है—

यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति ॥२८॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य है—इन्द्र से भिन्न देवतावाली हवियों का भक्षण मन्त्ररहित होता है, यह कथन अयुक्त है। [यथा-देवतम्] देवता के अनुकूल ऊह करके समन्त्रक भक्षण होता है। [हि] क्योंकि [तत्प्रकृतित्वम्] उस इन्द्र देवतावाली हवि का प्रकृतिरूप होना [दर्शयति] शास्त्रीय विधान बतलाता है।

सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में 'वा' पद द्वारा—पूर्वोक्त पक्ष से भिन्न पक्ष का निर्देश कर—पूर्वपक्ष का निराकरण किया है। प्रथम यह कहा गया है कि ऊह का क्षेत्र विकृतियाग हैं; क्योंकि ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग है, इसलिए यहाँ ऊह का अवसर न होने के कारण ऐन्द्र हवि के भक्षण में ही 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र का विनियोग होगा; अनैन्द्र हवि के भक्षण में नहीं। अतः अनैन्द्र हविभक्षण अमन्त्रक होगा। इसके विपरीत प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग के अवसर पर ऊह के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। सूत्रकार का संकेत है—शास्त्रीय विधान के अनुसार ज्योतिष्टोम के उक्त अवसर पर ऊह की उद्भावना करना न्याय्य है। वह इस प्रकार है—

सोमयाग में देवताओं के निमित्त सोमहवि प्रदान करने के लिए दस 'चमस'-संज्ञक पात्र होते हैं। इनको 'ग्रह' नाम से भी कहा जाता है। आहवनीय अग्नि में सोमहवि प्रदान करने के लिए द्रोणकलश से इनमें सोम ग्रहण किया जाता है। यही इनके 'ग्रह' नामकरण का कारण है। 'चमस' पद से 'चमचा' अर्थ समझना ठीक नहीं। यह चौकोर आकार का विशेष नाप का यज्ञिय पात्र है। इनकी दस संख्या याज्ञिक और यजमान की संख्या पर आधारित है। उनके स्तर के आधार पर उनके विशिष्ट नाम हैं। ये पात्र मूठ-सहित गूलर-काष्ठ के बनाये होते हैं। उद्गाता, ब्रह्मा, होता और यजमान के चार पात्र 'ध्रुव चमस' कहाते हैं। शास्त्र में 'उद्गाता' आदि चार को 'मध्यतःकारी' नाम से कहा जाता है। शेष याज्ञिक मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक और आग्नीध्र नामक ऋत्विजों के छह चमस 'होत्रक' अथवा 'होतृचमस' कहे जाते हैं। प्रथम चार चमसों के 'ध्रुवचमस' नाम का कारण ज्योतिष्टोम में किसी भी अवसर पर

सोमहवि-प्रदान के लिए इन्हें न छोड़ा जाना है। प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, तृतीय (=सायं) सवन के प्रारम्भ में इन्हीं चार चमसों द्वारा सर्वप्रथम हवि प्रदान किये जाने के कारण इनका 'सवनमुखीय' नाम भी कहा जाता है, जबकि प्रातःसवन में अच्छावाक चमस का उपयोग नहीं किया जाता। शेष सवनों में दसों चमस उपयोग में आते हैं।

ध्रुवसंज्ञक चमसों द्वारा सोमहवि-प्रदान निर्धारित रूप से इन्द्रदेवता के लिए होता है। अन्य होत्रक चमसों द्वारा किये जानेवाले होम में प्रथम होम का देवता इन्द्र रहता है। आगे द्वितीय होम में मैत्रावरुण आदि देवता रहते हैं। इन्द्र सभी का समान देवता है।

सोमभक्षण-व्यवस्था—होतृ-चमसों द्वारा एक बार इन्द्र के लिए होम करने पर, उनमें सोम के शेष भाग का भक्षण किये बिना ही पुनः द्रोणकलश से सोम भरकर मित्रावरुण आदि देवताओं के लिए होम किया जाता है। उसका हुतशेष भक्षण किये जाने की व्यवस्था है। यह ऊह के आधार पर व्यवस्थित है। सोम-याग की सात संस्था (=भाग) हैं—ज्योतिष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम। शास्त्रीय विधान के अनुसार अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण किया जाता है—'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'। षोडशी में भक्षमन्त्र गायत्री छन्द का विनियुक्त होता है, अतिरात्र में अनुष्टुप् छन्द का। षोडशी का अतिरात्र में ग्रहण होने पर ऊह द्वारा गायत्री के स्थान पर अनुष्टुप् का प्रयोग किया जाता है। यहाँ इन्द्र देवता के ध्रुवचमसों को प्रकृतियाग मानकर शेष होत्रक चमसों को उनका विकृति माना गया है। इस प्रकार इन चमसों में प्रकृतिविकारभाव माने जाने पर जैसे ऊह द्वारा छन्द में परिवर्तन हुआ, ऐसे ही 'इन्द्रपीतस्य' में—विकारभूत होतृचमसों के शेष सोमहविभक्षण में 'इन्द्र' पद के स्थान पर ऊह द्वारा 'मित्रावरुण' का उच्चारण किया जायगा। सोमयाग-प्रसंग में इस प्रकार ऊह का मार्ग खुल जाने पर भक्षण यथादेवत होगा, तथा सम्पूर्ण भक्षण समन्त्रक होगा ॥२८॥ (इति इन्द्रपीतस्येत्यादिमन्त्राणां सर्वेषु भक्षणेषूहेन विनियोगाऽधिकरणम्—११)।

(अभ्युन्नीतसोमभक्षणे इन्द्रस्याप्युपलक्षणाऽधिकरणम्—१२)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत अधिकरण में कहा गया है, होतृचमसों द्वारा प्रथम एक बार इन्द्र के लिए होम करने पर, उनमें—शेष सोम का भक्षण किए बिना ही—पुनः द्रोणकलश से सोम भरकर मित्रावरुण आदि देवताओं के लिए होम किया जाता है। तदनन्तर चमसों में बचे सोम का भक्षण होता है। यहाँ यह सन्देह है—क्या प्रथम उपस्थित देवता इन्द्र का और मित्रावरुण आदि सब का—ऊह के आधार पर—भक्षमन्त्र में निर्देश होना चाहिए? अथवा इन्द्र को

छोड़कर शेष मित्रावरुण आदि सबका ? तात्पर्य है—'इन्द्रपीतस्य' में ऊह 'इन्द्र-मित्रावरुणपीतस्य' होना चाहिए ? अथवा केवल 'मित्रावरुणपीतस्य' ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात् ॥२९॥

[पुनः अभ्युन्नीतेषु] चमसों से इन्द्र के लिए प्रथम होम करके उन्हीं हुतशेष-सहित चमसपात्रों में पुनः गृहीत सोम से होम करने पर शेष सोम के भक्षण में [सर्वेषाम्] इन्द्रसहित सभी देवताओं का [उपलक्षणम्] उपलक्षण=निर्देश करना चाहिए, [द्विशेषत्वात्] बचे हुए सोम में दोनों बार का शेष होने से।

तीनों सवनों में होम प्रारम्भ होने पर होता 'वषट्' कहकर निर्देश देता है—मध्यतःकारियों (होता, ब्रह्मा, उद्गाता, यजमान) के अध्वर्यु लोगो ! सवनमुखीय चमसों से इन्द्र देवता के लिए सोम हवि का प्रदान करो। 'अनुवषट्' कहकर होता निर्देश करता है—होत्रक चमसोंवाले अध्वर्यु लोगो ! एक बार इन्द्र देवता के लिए होम करके द्रोणकलश से पुनः चमसों में सोम भरकर लौटो; मित्रावरुण आदि देवताओं का यजन करो।

अनुवषट्कार में विभिन्न देवताओं का यजन किया जाता है—मित्रावरुण का 'मित्रं वयं हवामहे' [ऋ० १।२३।४] मन्त्र से; ब्राह्मणाच्छंसी इन्द्र का 'इन्द्रं त्वा वृषभं वयम्' [ऋ० ३।४०।१] मन्त्र से; पोता-मरुतों का 'मरुतो यस्य हि क्षये' [ऋ० १।८६।१] मन्त्र से; नेष्टा-त्वष्टा और पत्नियों का 'अग्ने पत्नीरिहावह' [आश्व० श्रौ० ५।५।१८] मन्त्र से; आग्नीध्र अग्नि का 'उक्षान्नाय वशान्नाय' [ऋ० ८।४३।११] मन्त्र से।

उक्त चमसों से होम करने में प्रथम इन्द्र देवता के लिए सोमहवि का प्रदान किया जाता है। पुनः उन्हीं चमसपात्रों में सोम ग्रहण करके मित्रावरुण आदि का यजन किया जाता है। इन विकृतियाग के छह चमसपात्रों में जो शेष भाग है, वह इन्द्र का और मित्रावरुण आदि सब देवताओं का है। इसलिए भक्षमन्त्र में 'इन्द्रपीतस्य' के स्थान पर 'इन्द्रमित्रावरुणपीतस्य' ऐसा ऊह करना चाहिए ॥२९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—इन्द्र देवता का हुतशेष, उसी पात्र में मित्रावरुण आदि के लिए भरे गए सोम से बाधित हो जाता है; तब 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र में केवल 'मित्रावरुणपीतस्य' ऊह करना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अपनयाद्वा पूर्वस्यानुपलक्षणम् ॥३०॥

[वा] 'वा' पद पूर्वोक्त के निवारण के लिए है। तात्पर्य है—शेष सोमभक्षण में दो देवताओं का ऊह नहीं करना चाहिए। [पूर्वस्य अपनयात्] प्रथम हुत इन्द्र

देवता के हुतशेष के बाधित हो जाने से, दो देवतावाले सोमभक्षण में [अनुपलक्षणम्] प्रथम हुत देवता का कथन नहीं करना चाहिए।

प्रारम्भ में सर्वप्रथम इन्द्र देवता के लिए सोमहवि-द्रव्य का प्रदान किया जाता है। हुतशेष का भक्षण आदि कुछ भी अन्य प्रयोग न करके उसी पात्र में मित्रावरुण देवता के निमित्त सोम भरकर आहवनीय अग्नि में आहुति दी जाती है। अनन्तर विकृतियाग की शेष पाँचों आहुतियाँ देकर हुतशेष सोम का भक्षण किया जाता है। प्रथम उपस्थित इन्द्र देवता का हुतशेष अपनीत—दूरापेत—दूर हटा हुआ हो जाता है। इस प्रकार बाधित होकर उसके भक्षण का अवसर निकल जाता है। यह ऐसी ही स्थिति है, जैसे गुरु ने शेष अन्न को चैत्र के लिए भक्षणार्थ दिया। चैत्र ने अपने शेष अन्न को मैत्र के लिए दे दिया। मैत्र यही निर्देश करता है कि मैं चैत्र के शेष अन्न को खा रहा हूँ। गुरु के शेष अन्न को खा रहा हूँ, ऐसा नहीं कहता। इसलिए प्रथम उपस्थित देवता इन्द्र को भक्षण-मन्त्र (=इन्द्रपीतस्य) में—ऊह के आधार पर—निर्दिष्ट नहीं करना चाहिए ॥३०॥

उक्त जिज्ञासा का सूत्रकार ने समाधान किया—

अग्रहणाद् वाऽनपायः स्यात् ॥३१॥

[वा] 'वा' पद पूर्वोक्त के निवारण के लिए है। तात्पर्य है—प्रथम उपस्थित देवता इन्द्र के हुतशेष का अपनप=बाध हो जाता है, यह युक्त नहीं है। [अग्रहणात्] इन्द्र देवता के हुतशेष का—मित्रावरुण आदि देवता के लिए आदिष्ट सोम में—ग्रहण न होने से [अपनायः स्यात्] इन्द्र-निमित्त हुतशेष का अपाय—निराकरण नहीं होता।

जिस चमसपात्र में इन्द्र देवता का हुतशेष सोम है, उसी पात्र में होता की घोषणा के अनुसार मित्रावरुण आदि देवता के लिए द्रोणकलश से सोम भरा जाता है। होता की घोषणा यह होती है कि—होत्रक चमसों द्वारा देवता के लिए सोमहवि-आहुति देनेवाले अध्वर्यु लोगो! मित्रावरुण आदि देवता के लिए द्रोण-कलश से सोम भरकर लौट आओ, आहवनीय अग्नि में हवि प्रदान करो। इस घोषणा में यह नहीं कहा गया कि इन्द्र देवता का हुतशेष मित्रावरुण देवता के लिए आहवनीय में प्रदान करो। होता की घोषणा के अनुसार मित्रावरुण आदि देवता के लिए सोमहवि वही है, जो द्रोणकलश से भरकर लाया गया है। इन्द्र का हुतशेष घोषणा में गृहीत नहीं है। वह होता की घोषणा से अछूता रहता है; मित्रावरुण आदि देवता के लिए आहुत नहीं होता। तब उसको अपनीत—बाधित कहना अयुक्त है। घोषणा में इन्द्र देवता और उसके हुतशेष का कोई उल्लेख न होने से वह अपनी स्थिति में अबाध बना रहता है। उसका भक्षण किया जाता है।

फलतः भक्षणमन्त्र में इन्द्रसहित सब देवताओं का निर्देश होना चाहिए ॥३१॥ (इति अभ्युन्नीतसोमभक्षणे इन्द्रस्याप्युपलक्षणाऽधिकरणम्— १२)।

(पात्नीवतभक्षणे इन्द्रादीनामनुपलक्षणाऽधिकरणम्— १३)

तैत्तिरीय संहिता [६।५।८।१] में इस प्रकार का पाठ है—'यदुपांशुपात्रेणाऽऽग्रयणात् पात्नीवतं गृह्णाति' जो उपांशु पात्र के द्वारा आग्रयण पात्र से पात्नीवत ग्रह में सोम लेता है। इससे पूर्व ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन नामवाले दो-दो देवताओं के निमित्त सोम की आहुति देकर शेष सोम बूंद-बूंद आदित्य-स्थाली में टपकाया जाता है। तृतीय सवन में वह सोम आग्रयण पात्र में ले लिया जाता है। आग्रयण-स्थाली में रक्खे सोम को अन्य एक पात्र में उलटकर उसे पुनः चार धाराओं से आग्रयण-स्थाली में लिया जाता है।

इस आग्रयण-स्थाली से उपांशुग्रह द्वारा पात्नीवत ग्रह में सोम लिया जाता है। पात्नीवत ग्रह के होम करने पर उसके हुतशेष सोम का भक्षण करने के विषय में शिष्य ने सन्देह प्रकट किया—क्या सोमभक्षण के समय पात्नीवत देवता के साथ इन्द्र-वायु आदि देवताओं के जोड़े का निर्देश भक्षणमन्त्र में करना चाहिए? अथवा नहीं करना चाहिए? शिष्य ने सुझाव दिया—गत अधिकरण के निर्णय के अनुसार तो इन्द्र-वायु आदि देवताओं का निर्देश करना चाहिए, क्योंकि पात्नीवत के हुतशेष में उन देवताओं का हुतशेष भी सम्मिलित है। शिष्य-सुझाव को पूर्व-पक्षरूप से आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

पात्नीवते तु पूर्ववत् ॥३२॥

[पात्नीवते] पात्नीवत देवताविषयक भक्षणमन्त्र में [तु] भी [पूर्ववत्] पहले अधिकरण के निर्णय के समान इन्द्रवायु आदि देवताओं का निर्देश करना चाहिए।

गत अधिकरण में मित्रावरुण आदि देवताओं के हुतशेष के साथ इन्द्र देवता का हुतशेष सम्मिलित होने से भक्षणमन्त्र में मित्रावरुण आदि के साथ इन्द्र के निर्देश का निर्णय जैसे किया गया है, उसी प्रकार पात्नीवत देवता के हुतशेष में इन्द्र-वायु आदि देवताओं के हुतशेष सोम का अंश सम्मिलित रहता है; इसलिए यहाँ भी पात्नीवत देवता के हुतशेष-भक्षण-मन्त्र में पात्नीवत के साथ इन्द्र-वायु आदि देवताओं का निर्देश होना चाहिए ॥३२॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

ग्रहणाद् वाऽपनीतः स्यात् ॥३३॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष के निवारण के लिए है। तात्पर्य है—पात्नीवत देवता

के हुतशेष-भक्षण-मन्त्र में इन्द्रवायु आदि द्विदेवत्य का निर्देश करना युक्त नहीं है। [ग्रहणात्] आग्रयण-पात्र से पात्नीवत सोम का ग्रहण होने के कारण, द्विदेवत्य आदि शेष [अपनीत:] दूरापेत—दूर हटा हुआ [स्यात्] हो जाता है।

गत अधिकरण में जो निर्णय किया गया, उसके साथ पात्नीवत देवता के हुत-शेष का साम्य नहीं; वैषम्य है। वहाँ इन्द्र देवता के लिए जिस चमस से सोमहवि आहुत किया गया है, उसमें बचे सोम का—अन्य किसी प्रकार का भी प्रयोग न करके सीधे उसी चमस में द्रोणकलश से मित्रावरुण आदि देवता के लिए सोम ग्रहण किया जाता है। इसके विपरीत पात्नीवत देवता को सोमहवि प्रदान करने के लिए सोम का ग्रहण आग्रयण-पात्र में संगृहीत सोम से किया जाता है। आग्रयण-पात्र में सोम का संग्रह जिस प्रक्रिया से होता है, उसके अनुसार इन्द्र-वायु आदि द्विदेवत्य हुतशेष सोम आग्रयण-पात्र में पहुँचने तक अपने अस्तित्व को समाप्तप्राय कर बैठता है। आग्रयणपात्र से उपांशु ग्रह द्वारा पात्नीवत देवता के लिए सोमग्रहण करने के अवसर पर इन्द्र-वायु आदि का द्विदेवत्य हुतशेष इतनी दूर जा पड़ता है कि पात्नीवत हुतशेष के भक्षणमन्त्र में द्विदेवत्य के नामनिर्देश की उपेक्षा करना ही युक्त है। आग्रयणपात्र में सोमसंग्रह की प्रक्रिया ३१वें सूत्र के भाष्य में प्रकट कर दी गई है।

इस प्रकार इन्द्र और मित्रावरुण के हुतशेष पात्र एक ही होने से मित्रावरुण के हुतशेष-भक्षमन्त्र में मित्रावरुण आदि के साथ इन्द्र का ऊह किया जाना युक्त है। पात्नीवत में यह स्थिति नहीं है। यहाँ सोम का संग्रहपात्र और आहुतिपात्र दोनों भिन्न हो गए हैं। यहाँ सोम के आधार पात्र आग्रयण तक द्विदेवत्य हुतशेष पहुँचते-पहुँचते दम तोड़ बैठता है। तब भक्षणमन्त्र में उसका निर्देश न होना युक्त ही है॥३३॥ (इति पात्नीवतभक्षणे इन्द्रादीनामनुपलक्षणाऽधिकरणम्—१३)।

(पात्नीवतशेषभक्षे त्वष्टुरनुपलक्षणीयताऽधिकरणम्—१४)

पत्नीवान् देवता-सम्बन्धी सोम-आहुति के प्रसंग से तैत्तिरीय संहिता [१।४।-२७] में मन्त्र है—'अग्ना३इ पत्नीवा३: सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब' हे पत्नीवान् अग्ने! त्वष्टा देव के साथ तुम प्रीतिपूर्वक सोम का पान करो। इस विषय में सन्दि-हान शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या पात्नीवत सोम के शेष का भक्षण करते हुए भक्षमन्त्र में त्वष्टा का निर्देश करना चाहिए? अथवा नहीं करना चाहिए? मन्त्र में साथ पीने का उल्लेख होने से प्रतीत होता है, भक्षमन्त्र में त्वष्टा का निर्देश होना चाहिए। शिष्य-सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष-रूप से सूत्रित किया—

त्वष्टारं तूपलक्षयेत् पानात् ॥३४॥

[पानात्] आहुति-मन्त्र में त्वष्टा के सोमपान का निर्देश होने के कारण

[त्वष्टारम्] त्वष्टा को [तु] तो [उपलक्षयेत्] भक्षमन्त्र में उपलक्षित = सम्मिलित करना चाहिए।

'सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब' इस होम-मन्त्र का उच्चारण करते हुए पात्नीवत सोम त्वष्टा के साथ पत्नीवान् अग्निदेवता के लिए आहवनीय अग्नि में प्रदान (आहुत) किया जाता है। यह अग्नि के लिए और उसके साथी त्वष्टा देवता, दोनों के लिए सहदान होता है। जैसे लोकव्यवहार में कहा जाता है—'यज्ञदत्त के साथ देवदत्त को सौ रुपए दे दो' ऐसा कहने पर दोनों को ही वह धन दिया जाता है। इससे स्पष्ट होता है वह पात्नीवत सोम त्वष्टा देवतावाला भी है, अतः भक्षमन्त्र में त्वष्टा देवता का निर्देश करना चाहिए। गत अधिकरण में वर्णित इन्द्र के समान त्वष्टा भी सोमपान करता है, तब भक्षमन्त्र में उसका निर्देश क्यों न हो ?॥३४॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥३५॥

[तु] त्वष्टा के तो [अतुल्यत्वात्] पत्नीवान् अग्नि के तुल्य न होने के कारण [एवम्] इस प्रकार भक्षमन्त्र में निर्देश [न स्यात्] नहीं होना चाहिए।

भाष्यकार शबरस्वामी ने यहाँ पातञ्जल व्याकरण महाभाष्य का एक वाक्य[1] उद्धृत कर बलपूर्वक यह कहा है कि हम शब्द-प्रमाण को माननेवाले हैं; शब्द जो कुछ बताता है, वही हमारे लिए मान्य है। शब्द-प्रमाणरूप में यहाँ विधिवाक्य है—'पात्नीवतं गृह्णाति' पात्नीवत सोम का ग्रहण करता है। इसमें त्वष्टा का कोई संकेत नहीं है। अन्य भी कोई ऐसा विधिवाक्य नहीं है, जिससे यह सोम या इसका भाग त्वष्टा के लिए जाना जा सके।

होममन्त्र में जो 'त्वष्ट्रा सोमं पिब' पद हैं, उनसे यह निर्णयात्मक रूप में सिद्ध नहीं होता कि अग्नि के सोमपान में त्वष्टा सहयोगी है। 'त्वष्ट्रा' पद में तृतीया विभक्ति अप्रधान अर्थ में है। यद्यपि 'सह' पद का योग यहाँ नहीं है, फिर भी यदि सह का अर्थ अभिप्रेत हो, तो भी अप्रधान (गौण) अर्थ में तृतीया हो जाती है। पाणिनि ने स्वयं 'पुमान् स्त्रिया' [अष्टा० १।२।६७] प्रयोग कर उक्त भावना को अभिव्यक्त किया है। 'पुत्रेण सह आगतः पिता; शिष्येण सह गतः आचार्यः' पुत्र के साथ पिता आया; शिष्य के साथ आचार्य गया; यहाँ आना-जाना क्रिया के साथ मुख्य सम्बन्ध पिता व आचार्य का है; पुत्र-शिष्य गौण हैं। पर यह ध्यान देने की बात है, गौण पुत्र व शिष्य को पिता व आचार्य की आना-जाना क्रिया का पूर्ण अनुष्ठान करना होता है। वे क्रिया में पूर्ण सहयोगी रहते हैं। यदि पुत्र-शिष्य

---

१. 'शब्दप्रमाणका वयम्; यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' महाभाष्य, अ० १, पा० २, आह्निक १।

पिता-आचार्य की क्रिया में सहयोगी न रहें, तो उक्त प्रयोग हो नहीं सकते। इसी के अनुसार गौण होने पर भी त्वष्टा सोमपान में अग्नि का सहयोगी होता है, तो भले ही रहे, पर वह सोमपान मुख्यरूप में पत्नीवान् अग्नि का है; क्योंकि विधि-वाक्य के अनुसार सोम का ग्रहण उसी के लिए हुआ है। उस दशा में होममन्त्र के पदों का अर्थ होगा—'जो तू त्वष्टा के साथ विद्यमान है, सो तू सोम का पान कर'।

गम्भीरता से विचारने पर जाना जाता है, यह नितान्त आवश्यक नहीं कि प्रधान की क्रिया में अप्रधान सहयोगी हो। सहयोगी न होने पर भी ऐसे प्रयोग प्रामाणिक माने जाते हैं, जैसे—'सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी'। यहाँ आवश्यक रूप से यह अभिप्रेत नहीं है कि गर्दभी के दसों पुत्र भारवहन-क्रिया में सहयोगी हैं। अनेक पुत्र भारवहन में अल्पवय व रुग्ण होने आदि से असमर्थ हो सकते हैं। ऐसे प्रसंगों में दस पुत्रों की विद्यमानतामात्र विवक्षित है। इसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में त्वष्टा की केवल विद्यमानता अभिहित होती है; सोमपान-क्रिया में वह सहयोगी नहीं। तब भक्षमन्त्र में उसके नाम के ऊह का कोई प्रश्न नहीं उठता ॥३५॥ (इति पात्नीवतशेषभक्षे त्वष्टुरनुपलक्षणीयताऽधिकरणम्—१४)।

(पात्नीवतशेषभक्षे त्रिंशतोऽनुपलक्षणाऽधिकरणम्—१५)

पूर्वोक्त पात्नीवत कर्म में याज्या-मन्त्र पठित है—

ऐभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः।
पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ॥

—ऋ० ३।६।९॥

हे अग्ने! इन आगे जानेवाले तेतीस देवों के साथ समान रथवाले=एक रथवाले=एक रथ में बैठकर समीप आओ। अथवा क्योंकि तुम्हारे अश्व विविध रूपों को ग्रहण करने में समर्थ हैं, इसलिए नानारथों पर बैठकर आओ।

शिष्य जिज्ञासा करता है—इस विषय में सन्देह है—क्या भक्षमन्त्र में तेतीस देवों का निर्देश करना चाहिए? अथवा नहीं करना चाहिए? याज्या-मन्त्र के अनुसार तो यही प्रतीत होता है कि तेतीस देवों का निर्देश करना चाहिए, क्योंकि मन्त्र में तेतीस देवों को सोम देने का उल्लेख है। अग्नीत् ऋत्विज् अग्नि को मानो इस प्रकार आदरपूर्वक प्रेरित करता है—हे अग्ने! समीप आओ, तेतीस देवों के साथ एक रथ पर बैठकर अथवा नाना रथों से आओ; तुम्हारे अश्व विविध रूपों को ग्रहण करने में समर्थ हैं। इस अनुष्वध=सोम को पत्नीवत् तेतीस देवों के लिए प्राप्त कराओ। यहाँ अग्नीत् तेतीस देवों की तृप्ति के लिए इच्छा करता है, ऐसा ज्ञात होता है। मन्त्र में प्रधानरूप से जिसका उल्लेख है, उसके लिए सोम है। यद्यपि विधिवाक्य में पत्नीवान् अग्निदेवता कहा गया है, पर वहाँ अन्य देवता का

निषेध भी नहीं किया गया। इससे निर्बाधरूप में मन्त्रवर्ण से प्राप्त तेतीस देवता विधिवाक्य में समझने चाहिएँ।

त्रिंशच्च परार्थत्वात् ॥३६॥

[त्रिंशत्] तीस [च] और तीन अर्थात् तेतीस देवता—गत अधिकरण में वर्णित त्वष्टा के समान—पात्नीवत सोम में सम्मिलित नहीं होते, [परार्थत्वात्] मन्त्र में उनके उल्लेख का स्तुति आदि अन्य प्रयोजन होने से।

'ऐभिरग्ने' मन्त्र में न तो अग्निदेवता किसी को बुलानेवाला कहा है, और न सोम परोसनेवाला। तेतीस देवताओं के यजन से यहाँ कोई प्रयोजन सिद्ध होता हो, ऐसा भी नहीं कहा गया है। अग्निदेवता को इन कार्यों के लिए सत्कारपूर्वक प्रेरित किया गया हो, ऐसा भी यहाँ नहीं है। मन्त्र में केवल अग्निदेवता को सम्बोधन किया गया है; यजन के लिए उसी का आवाहन है। तेतीस देवों को प्रकाशित करता हुआ सूर्य आग्नेय तत्त्व का केन्द्र है। यह सम्मिलित देवों की स्तुतिमात्र है। सोम-हवि की आहुति सूर्य में नहीं दी जाती; पत्नीवान् अग्नि में दी जाती है, जो वेदि में आहवनीय रूप से अवस्थित है। विधिवाक्य 'पात्नीवतं गृह्णाति' में उसी के लिए सोमहवि के ग्रहण किए जाने का विधान है। जिसके लिए विधान है, वही प्रधान देवता है। उसी का सोम है। इसलिए हुतशेष सोम के भक्षमन्त्र में अन्य तेतीस आदि देवों के निर्देश का प्रश्न नहीं उठता।

वस्तुतः यह साधारण वैज्ञानिक तथ्य है कि आहवनीय अग्नि में द्रव्याहुति प्रदान करने पर अन्य सब देव स्वतः तृप्त व हर्षित होते रहते हैं; और उसके प्रतिदान रूप में प्राणी के कल्याण के लिए जीवनी शक्तियों की अनवरत वर्षा करते रहते हैं। इसी आधार पर वह अग्नि पत्नीवान् है, सबका रक्षक है, जीवन-रक्षा में अनुपम सहयोग प्रदान करता है। इन्हीं वैदिक भावनाओं को हृदयंगम कर गीता में कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥

प्रजापति परमात्मा ने सर्गरचनाकाल में यज्ञसहित प्रजाओं की सृष्टि कर कहा—इसके सहयोग से अपनी जीवनी शक्तियों को बढ़ाओ, यह तुम्हारी अभिलषित कामनाओं की सफलता के लिए अनवरत स्रोत है।

देवों को इससे प्रसन्न करो, देव तुम्हें प्रसन्न करेंगे। परस्पर के सहयोग से परम कल्याण को प्राप्त करोगे।

यज्ञ से प्रसन्न हुए देव अभिलषित भोगों को तुम्हें प्रदान करेंगे। उनके दिए अतुल भोगों को भोगते हुए यदि तुम यज्ञ द्वारा उन्हें हवि प्रदान नहीं करते, तो तुम चोर ही कहे जाओगे। इसी आशय को मनु ने भी एक श्लोक में अभिव्यक्त किया है।

फलतः सोम या अन्य द्रव्याहुति का प्रधान देवता अग्नि है। ऋग्वेद के मन्त्र में उसी का निर्देश है। तेतीस देवों का निर्देश केवल प्रासंगिक अस्तित्व—स्तवन को अभिव्यक्त करता है, तथा उनके व्यवहार की उस प्रक्रिया को प्रकट करता है, जिसका उल्लेख गत पंक्तियों में किया गया ॥३६॥ (इति पात्नीवतशेषभक्षे त्रिंशतोऽनुपलक्षणाऽधिकरणम्—१५)।

(भक्षणेऽनुवषट्कारदेवताया अनुपलक्षणाऽधिकरणम्—१६)

ऐतरेय ब्राह्मण [३।५] में पाठ है—" 'सोमस्याग्ने वीहि' इत्यनुवषट् करोति"—'सोमस्याग्ने वीहि' मन्त्र से अनुवषट् करता है। सोम-याग में मध्यतः[1]-कारियों के ध्रुवसंज्ञक अथवा सवनमुखीय-संज्ञक प्रकृति यागीय चमसों के वषट्कार से इन्द्रदेवता के लिए होम करने के अनन्तर 'सोमस्याग्ने वीहि वौषट्' अनुवषट्कार आहुति का विधान है। स्विष्टकृत् आहुति के समान यह उस कर्म की अन्तिम आहुति होती है। शिष्य जिज्ञासा करता है—यहाँ सन्देह है—क्या अनुवषट्कार की देवता का भक्षमन्त्र में निर्देश करना चाहिए? अथवा नहीं करना चाहिए? प्रतीत होता है, निर्देश करना चाहिए; क्योंकि गत अधिकरण में वर्णित तेतीस देवताओं की परार्थता के समान अनुवषट्कार देवता की परार्थता नहीं जानी जाती। तब भक्षमन्त्र में उसके निर्देश के लिए कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

वषट्कारश्च कर्त्तृवत् ॥३७॥

[कर्तृवत्] वषट्कार के करनेवाले होता-पोता-अध्वर्यु को जैसे भक्षमन्त्र में 'होतृपीतस्य, पोतृपीतस्य, अध्वर्युपीतस्य' के रूप में निर्दिष्ट नहीं किया जाता, उसी के समान [वषट्कारः] अनुवषट्कार के देवता को [च] भी निर्दिष्ट नहीं करना चाहिए।

---

१. 'मध्यतःकारी' शास्त्र में होता, ब्रह्मा, उद्गाता, यजमान इन चार का नाम कहा जाता है। २८ सूत्र के भाष्य में इसका उल्लेख किया गया है।

सूत्र में 'वषट्कारः' पद से अनुवषट्कार अभिप्रेत है। कुतूहलवृत्तिकार ने पाठ ही 'अनुवषट्कारः' स्वीकार किया है। यद्यपि अनुवषट्कार का देवता अग्नि है, क्योंकि आहुति अग्नि में ही दी जाती है, परन्तु यह आहुति अग्निदेवता के उद्देश्य से नहीं दी जाती, अपितु कर्म की सम्पन्नता के संकेतरूप में दी जाती है। होता-पोता-अध्वर्यु आदि भी अनुष्ठेय कर्म की सम्पन्नता के लिए समर्पित अथवा उपस्थित रहते हैं। उनको जैसे भक्षमन्त्र में निर्दिष्ट नहीं किया जाता, वैसे ही अनुवषट्कार देवता को भी।

मध्यतःकारियों के चमसों से इन्द्र देवता के लिए आहुतियाँ प्रदान करने के अनन्तर अन्तिम आहुति के मन्त्र का उच्चारण करते हुए होता अन्त में 'वौषट्' पद का उच्चारण करता है। यह इस बात का संकेत है कि सोमयाग के प्रस्तुत कर्म की यह अन्तिम आहुति दी जा रही है। इसी प्रक्रिया का नाम अनुवषट्कार है। इसका तात्पर्य है, प्रकृतियाग के सवनमुखीय चमसों से आहुतियाँ इन्द्र देवता के लिए दी जाती हैं। वहाँ अग्नि देवता उद्दिष्ट नहीं होता। जो कार्य वषट्कार प्रकृतियाग में किया है, वही कार्य अनुवषट्कार में करने योग्य माना गया है। इसलिए जैसे वषट्कार में अग्नि देवता उद्दिष्ट नहीं है, वैसे ही अनुवषट्कार में भी उद्दिष्ट न होगा। तब भक्षमन्त्र में उसके निर्देश का प्रश्न ही नहीं उठता ॥३७॥ (इति भक्षणेऽनुवषट्कारदेवताया अनुपलक्षणाऽधिकरणम्—१६)।

(अनैन्द्राणाममन्त्रकभक्षणाऽधिकरणम्—१७)

शास्त्रीय मान्यता के अनुसार 'ऊह' केवल विकृतियागों में होता है; प्रकृतियाग में नहीं। इसके विपरीत गत २८वें सूत्र में एकदेशी मत से प्रकृतियाग में भी 'ऊह' की कल्पना की जाती है, यह बताया। उसी के अनुसार अनैन्द्र हवि का भक्षण समन्त्रक किये जाने का सुझाव दिया है। उसी विषय को पूरा करने की भावना से सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र द्वारा बताया—

छन्दः प्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात् ॥३८॥

[तु] 'तु' पद सूत्र २८ में किये गये एकदेशी के कथन की निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य है, सोमयाग के एककर्म होने से उसमें प्रकृति-विकृतिभाव की कल्पना नहीं की जा सकती, [सर्वगामित्वात्] सोमयाग में अभिषव आदि सोमधर्मों के सर्वगामी होने से, अर्थात् तीनों सवनों में सोमधर्मों के विद्यमान होने से। [छन्दःप्रतिषेधः] षोडशी में अनुष्टुप् छन्द का कथन, षोडशी के तृतीय सवन में होने से वहाँ जगती छन्द के प्रतिषेधरूप है; जगती की जगह अनुष्टुप् की 'ऊह' नहीं है।

ज्योतिष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम—

इन सात संस्थाओं = भागों में सम्पूर्ण होनेवाला सोमयाग एक ही याग है। तीनों सवनों में अभिषव आदि सोम के धर्म विद्यमान रहते हैं। 'ध्रुव'-संज्ञक एवं 'होत्रक'-संज्ञक पात्रों द्वारा हविप्रदान में इनके प्रकृति-विकारभाव की कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि यह सब प्रधानभूत सोमयागरूप एक ही कर्म है। इसलिए यहाँ 'ऊह' की कल्पना निराधार है। इसी कारण वह कथन असंगत है, जो सूत्र २८ की व्याख्या में कहा गया है कि—'अतिरात्र' में 'षोडशी' का ग्रहण होने पर अतिरात्र के जगती छन्द की जगह षोडशी के अनुष्टुप् छन्द की 'ऊह' की जाती है। अतिरात्र के तृतीय सवन में षोडशी का ग्रहण होता है; उतने अंश में षोडशी-अनुष्टुप् से अतिरात्र-जगतीछन्द प्रतिषिद्ध हो जाता है, बाधित हो जाता है। ऊह की कल्पना निराधार है। तब भक्षमन्त्र में 'इन्द्र' के स्थान पर 'मित्रावरुण' आदि की ऊह के लिए षोडशी को उदाहरण या लिङ्गरूप में प्रस्तुत करना अयुक्त है।

सारांश है, ऐन्द्र-अनैन्द्र भिन्न याग नहीं हैं। एक ही सोमयाग के ये अभ्यास-विशेष हैं। प्रधान सोमयाग के ये सब गुणभूत हैं; इनके पृथक् धर्म नहीं होते। 'ऐन्द्रः सोमो गृह्यते मीयते च'—ऐन्द्र सोम गृहीत होता है, और मापा जाता है, इत्यादि सब याग के धर्म हैं, इसलिए ये सम्पूर्ण सोमयाग के धर्म कहे गये हैं। सोम भी यागार्थ है। यह जो 'ऐन्द्रः सोमो गृह्यते मीयते च' कहा गया है, इससे ज्ञात होता है, इन्द्र देवता के लिए सोम का ग्रहण मन्त्रोच्चारणपूर्वक होना चाहिए। अन्य देवताओं के लिए सोम का ग्रहण—उनका ध्यान करते हुए—होना अभीष्ट है। इस कारण इन्द्र-भिन्न सोम का भक्षण मन्त्ररहिता है ॥३८॥ (इति अनैन्द्राणाम-मन्त्रकभक्षणाऽधिकरणम्—१७)।

(ऐन्द्राग्नभक्षस्यामन्त्रकताऽधिकरणम्—१८)

इन्द्र से अतिरिक्त देवताओं के सोम का भक्षण अमन्त्रक होना चाहिए,—यह निश्चित होने पर ऐन्द्राग्न सोम के विषय में विचार करना अपेक्षित रहता है। ज्योतिष्टोम में ऐन्द्राग्न सोम-पठित है, 'ऐन्द्राग्नं गृह्णाति' इति—इन्द्र और अग्नि देवता के सोम का ग्रहण करता है। शिष्य ने जिज्ञासा की—यहाँ भक्षण समन्त्रक होना चाहिए, अथवा अमन्त्रक? समन्त्रक प्रतीत होता है, क्योंकि ऐन्द्राग्न सोम में सोम का अंश इन्द्र द्वारा भी पिया जाता है, वहाँ 'इन्द्रपीतस्य' निर्देश समञ्जस होता है। शिष्य के सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप से सूत्रित किया—

ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात् स्यात् ॥३९॥

[ऐन्द्राग्ने] इन्द्र और अग्नि उभयदेवतावाले सोम में [तु] तो [लिङ्ग-

मावात्] इन्द्र का लिङ्ग=स्पष्ट निर्देश होने से सोमभक्षण मन्त्रयुक्त [स्यात्] होना चाहिए। तात्पर्य है, इन्द्र और अग्नि दोनों के लिए गृहीत सोम में इन्द्र का भी अंश है, इन्द्र उसका पान करता है, तब 'इन्द्रपीतस्य' निर्देश उत्पन्न होता है।

ऐन्द्राग्न सोम में इन्द्र द्वारा सोमांश पिये जाने से 'इन्द्रपीतस्य' वाक्य का आनुकूल्य बना रहता है; तब ऐन्द्राग्न सोम के मन्त्रयुक्त भक्षण में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए ॥३९॥

सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

एकस्मिन् वा देवतान्तराद् विभागवत् ॥४०॥

[एकस्मिन्] अकेले इन्द्र से पिये गये सोम के भक्षण में [वा] ही 'इन्द्र-पीतस्य' मन्त्र लागू होता है। [देवतान्तरात्] क्योंकि इन्द्रदेवता इन्द्राग्नीदेवता से भिन्न है। इन्द्राग्नी इन्द्र नहीं है, [विभागवत्] पुरोडाश के विभाग के समान। जैसे 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' अग्निदेवतावाले पुरोडाश का चार विभाग करना, दो देवतावाले अग्नीषोमीय पुरोडाश में लागू नहीं होता; क्योंकि अग्नि देवता अग्नीषोमीय देवता नहीं है, ऐसे ही एकमात्र इन्द्र के द्वारा पिये गये सोम से भक्षण में प्रयुक्त 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र ऐन्द्राग्न सोम के भक्षण में लागू नहीं होगा, क्योंकि इन्द्राग्नी देवता इन्द्र नहीं है। इन्द्र भिन्न है, इन्द्राग्नी मिलित भिन्न है।

यह अर्थ 'आग्नेय' 'ऐन्द्राग्न' आदि पदों में प्रयुक्त तद्धित प्रत्यय के आधार पर अभिव्यक्त होता है। 'आग्नेय' में अग्नि पद से तद्धित प्रत्यय उसी अर्थ में होता है, जब अग्नि देवता को लक्ष्य कर हवि प्रदान किया जाता है। इसीलिए 'आग्नेय' पुरोडाश के चतुर्धाकरण का विधान 'अग्नीषोमीय' पुरोडाश में लागू नहीं होता; क्योंकि यह पुरोडाश 'अग्नि' देवता को लक्ष्य करके प्रदान नहीं किया जाता; प्रत्युत 'अग्नीषोम' देवता को लक्ष्य कर प्रदान किया जाता है। इसी प्रकार 'ऐन्द्र' और 'ऐन्द्राग्न' हवि के प्रदान में समझना चाहिए। 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र का विनियोग सोमभक्षण में वही होगा, जो ऐन्द्रहवि का शेष है। 'ऐन्द्राग्न' हवि का प्रदान इन्द्र को लक्ष्य कर नहीं किया जाता, प्रत्युत इन्द्राग्नी को लक्ष्य कर किया जाता है। अतः ऐन्द्राग्न सोमभक्षण में 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र का विनियोग न होने से यह अमन्त्रक ही होगा।

यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि 'इन्द्राग्नी' देवता हैं क्या? अधिभूत पक्ष में आहवनीय अग्नि 'अग्नि' देवता है, और सूर्य 'इन्द्र' देवता है। हवि-प्रदान प्रथम आहवनीय अग्नि में होता है; अनन्तर उसका पान किरणों द्वारा सूर्य करता है। ऐसी स्थिति में यह विभाजन सर्वथा अशक्य है कि हवि में अमुक अंश अग्नि का और अमुक अंश इन्द्र का है। यद्यपि ऐन्द्रहवि का प्रदान भी आहवनीय

अग्नि के माध्यम से ही इन्द्र को दिया जाता है, तथापि वहाँ साक्षात् उद्दिष्ट देवता इन्द्र है, इसलिए 'इन्द्रपीतस्य' का विनियोग वहीं उपपन्न हो सकता है। अध्यात्म-पक्ष में अग्नि परमात्मा और इन्द्र जीवात्मा समझना चाहिए। प्रत्यक्ष हवि-प्रदानों से ऐश्वरीय ऋत द्वारा जीवात्मवर्ग को अदृश्य जीवनीय शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। यही इसका रहस्य है ॥४०॥ (इति ऐन्द्राग्नभक्षस्यामन्त्रकताऽधिकरणम्—१८)।

(गायत्रछन्दस इत्यादिमन्त्राणामनेकछन्दस्के विनियोगाऽधिकरणम्—१९)

शिष्य जिज्ञासा करता है—'इन्द्रपीतस्य' के साथ 'गायत्रच्छन्दसः' पद पठित है, जो उस पद का विशेषण है। तात्पर्य है—इन्द्र के उद्देश्य से दी जानेवाली सोमहवि गायत्री छन्दवाले मन्त्रों के उच्चारण के साथ दी जाती है। यहाँ सन्देह है—क्या केवल गायत्री-मन्त्रों के उच्चारण के साथ दी जानेवाली ऐन्द्र सोमहवि के शेषभक्षण में ही 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र का विनियोग होना चाहिए? अथवा अन्य छन्दोंवाले मन्त्रों के साथ दी जानेवाली सोमहवि के शेषभक्षण में भी 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र का विनियोग होगा? प्रतीत होता है, 'गायत्रच्छन्दसः' पद के 'इन्द्रपीतस्य' पद का विशेषण होने के कारण केवल गायत्रीच्छन्दवाले मन्त्रों के साथ दी जानेवाली सोमहवि के शेषभक्षण में ही 'इन्द्रपीतस्य' का विनियोग होना चाहिए, अन्यत्र नहीं। शिष्य के सुझाव को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

छन्दश्च देवतावत् ॥४१॥

[छन्दः] छन्द [च] भी [देवतावत्] देवता के समान समझना चाहिए। तात्पर्य है, जैसे 'इन्द्रपीतस्य' में केवल इन्द्र का ग्रहण होता है, ऐसे ही 'गायत्रच्छन्दसः' में केवल गायत्री छन्द का ग्रहण होना चाहिए, अन्य छन्दों का नहीं।

पूर्व-निर्णय के अनुसार जैसे अन्य देवता के साथ पठित इन्द्र के सम्बन्ध में 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र का विनियोग नहीं होता, वैसे ही अन्य छन्दवाले सोम में 'गायत्रच्छन्दसः' मन्त्र का प्रयोग नहीं होना चाहिए ॥४१॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

सर्वेषु वाऽभावादेकच्छन्दसः ॥४२॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है, अन्य छन्दवाले सोम में 'गायत्रच्छन्दसः' मन्त्र का विनियोग न मानना, युक्त नहीं है।

[एकच्छन्दसः] केवल एक गायत्री छन्दवाले सोम-प्रदान के [अभावात्] अभाव होने से। अतः [सर्वेषु] अन्य सब छन्दोंवाले मन्त्रों के सहित गायत्री छन्दवाले सोम के प्रदान में 'गायत्रच्छन्दसः' विनियुक्त होता है।

सोमहवि-प्रदान के मन्त्र केवल गायत्री छन्द में हों, ऐसी बात नहीं है। जिन मन्त्रों के उच्चारण के साथ किसी भी देवता के उद्देश्य से सोमहवि आहवनीय अग्नि में आहुत किया जाता है, वे मन्त्र गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती आदि अनेक छन्दों में उपलब्ध हैं। इसलिए यहाँ गायत्री पद उन सभी छन्दों का उपलक्षण हैं, जिन छन्दोंवाले मन्त्रों के उच्चारण के साथ सोमहवि का प्रदान किया जाता है। फलतः इसका विनियोग गायत्री से इतर छन्दों में भी मानना चाहिए ॥४२॥

२७ से ४२ सूत्र तक के (११–१९) अधिकरणों में ऊहापोहपूर्वक सोमहवि-शेष के भक्षण के विषय में निर्णय किया गया कि ऐन्द्र सोम का भक्षण समन्त्रक तथा अन्य मित्रावरुण आदि देवताओं के हुतशेष-सोम का भक्षण अमन्त्रक होना चाहिए। पर अब प्रकरण का उपसंहार करते हुए आचार्य सूत्रकार ने ऐतिशायन पूर्वाचार्य के सुझाव को स्वीकार कर प्रकरणान्त सूत्र से बताया कि सभी देवताओं के हुतशेष का भक्षण समन्त्रक होना चाहिए। सूत्र कहा—

सर्वेषां वैकमन्त्र्यमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वात् सवनाधिकारो हि ॥४३॥

[वा] सूत्र का 'वा' पद इस कथन की निवृत्ति के लिए है कि अनैन्द्र सोम-हविशेष का भक्षण अमन्त्रक होता है। [ऐतिशायनस्य] ऐतिशायन आचार्य का सुझाव—जो सूत्रकार को अभिमत है—के अनुसार [सर्वेषाम्] ऐन्द्र और अनैन्द्र सभी सोमहवि-शेषों का भक्षण [ऐकमन्त्र्यम्] एक मन्त्र वाला है। तात्पर्य है—'इन्द्रपीतस्य' एक मन्त्र का समस्त सोमहवि-शेषों के भक्षण में विनियोग है। क्योंकि [भक्तिपानत्वात्] 'इन्द्रपीतस्य' मन्त्र में 'पीत' पद भक्ति = लक्षणावृत्ति से प्रयुक्त है। [हि] कारण है—[सवनाधिकारः] यह सवन = सोम-सम्बन्धी अधिकार = प्रकरण है। तात्पर्य है—'इन्द्रेण पीतः सोमः' इस तत्पुरुष समास के आधार पर 'इन्द्रपीतस्य' का वाच्य सोम नहीं है; प्रत्युत 'इन्द्रेण पीतः सोमो यस्मिन् सवने' इस बहुव्रीहि समास के आधार पर पूरा सोमाभिषव-प्रकरण (तीनों सवन) उक्त पद का वाच्य है।

२७–२९ तीन सूत्रों में पक्ष-प्रतिपक्ष निर्देशपूर्वक जो यह निर्णय लिया गया कि ऐन्द्र सोमभक्षण समन्त्रक तथा अनैन्द्र सोमभक्षण अमन्त्रक होना चाहिए, प्रस्तुत सूत्र द्वारा उसका प्रतिवाद किया गया है। इन्द्रपीत पद सोम का वाचक न होकर लक्षणावृत्ति से समस्त सवन-प्रकरण का वाचक है। प्रकरण में इन्द्र के साथ

ही अन्य देवता पठित हैं, तथा सबके हुतशेष-भक्षण में उसी एक मन्त्र का विनियोग है। वस्तुतः 'इन्द्रपीत' पद का 'इन्द्र से पिया गया सोम' यह अर्थ यहाँ सम्भव ही नहीं है। जो सोम इन्द्र को तथा अन्य देवताओं को दिया गया, तथा उनके द्वारा पिया गया, वह सोम अब है कहाँ ? उसे तो देवता चट कर गये; उसके भक्षण की बात करना सर्वथा व्यर्थ है। जिस सोम के भक्षण की चर्चा की जा रही है, वह सभी देवताओं का हुतशेष है, जो प्रत्यक्ष विद्यमान है। यह न किसी देवता को दिया गया, और न किसी के द्वारा पिया गया। इसलिए सब ऐन्द्र-अनैन्द्र हुत-शेष-भक्षण में उसी एक मन्त्र का विनियोग निर्बाध होने से समस्त भक्षण समन्त्रक हैं। इन्द्र तथा इन्द्रभिन्न देवताओं से पीत और अपीत सब सोम 'इन्द्रपीत' पद द्वारा लक्षणावृत्ति से कहा गया है, क्योंकि यह सब सवन के अन्तर्गत है। इसमें कोई असामञ्जस्य नहीं है।

विनियुक्त मन्त्र का अपेक्षित भाग तैत्तिरीय संहिता [३।२।५] में इस प्रकार पठित है—

वसुमद्गणस्य सोम देव ते मतिविदः प्रातःसवनस्य गायत्रच्छन्दस इन्द्रपीतस्य नराशंसपीतस्य पितृपीतस्य मधुमत उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि।

ऐतिशायन आचार्य का कथन सूत्रकार को अभिमत है। पूर्वाचार्य की स्तुत्यर्थ नाम का निर्देश किया गया ॥४३॥ (इति एकादशाधिकरणोक्तस्योप-संहारः)।

इति जैमिनीय मीमांसादर्शनविद्योदयभाष्ये
तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः

(उच्चैस्त्वादीनां वेदधर्मताऽधिकरणम्—१)

गत द्वितीय पाद में विवादास्पद विधियों का निर्णय लिङ्ग के आधार पर किया गया। अब प्रस्तुत पाद में सन्दिग्ध विधियों का वाक्य के आधार पर निर्णय किया जायगा। यहाँ ज्योतिष्टोम प्रसंग में पठित वाक्य विचारणीय है—'उच्चैर्ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा' इति। ऋक् से ऊँचे स्वर में कर्म किया जाता है, साम से ऊँचे स्वर में, यजुः से उपांशु=धीरे से बोलकर। उपांशु उच्चारण वह होता है, जहाँ समीप बैठा व्यक्ति भी ठीक तरह सुन न सके। यहाँ सन्देह है—क्या ये ऋक् आदि पद ऋक्त्व आदि जाति के बोधक हैं? अथवा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद ग्रन्थों के? सूत्रकार ने ऋक्-यजुः-साम के लक्षण प्रथम [२।१।३५, ३७, ३६] बता दिये हैं। उसके अनुसार जो ऋक् हैं, उनमें 'ऋक्त्व' जाति, यजुः में 'यजुष्ट्व' और साम में 'सामत्व' जाति रहती है; उनमें से कोई मन्त्र चाहे किसी भी वेद में पठित हो, वह अपनी जाति से सम्बद्ध होगा। शिष्य-जिज्ञासा है—क्या उच्चैस्त्व आदि धर्म ऋक्त्व आदि जाति के आधार पर कहे गये हैं? अथवा ऋग्वेद आदि ग्रन्थों के आधार पर? प्रतीत होता है, यह कथन ऋक्त्व आदि जाति के आधार पर हैं; क्योंकि वाक्य में ऋक्, साम, यजुः पदों का स्पष्ट श्रवण है। वेद का संकेत करनेवाला कोई पद यहाँ नहीं है।

शिष्य-सुझाव को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् ॥१॥

[श्रुतेः] 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि वाक्यों में 'ऋक्' आदि के स्पष्ट श्रवण से [जाताधिकारः] जाति का अधिकार [स्यात्] जाना जाता है।

सूत्र में 'जात' पद भाव-अर्थ में 'क्त' प्रत्ययान्त है। भाव-अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्ययान्त 'जाति' पद का पर्याय है। सूत्रकार द्वारा बताये गये 'ऋक्' आदि के लक्षणों के अनुसार उक्त वाक्यों (—उच्चैर्ऋचा क्रियते आदि) में 'ऋक्' आदि पद उस समस्त मन्त्रवर्ग के लिए प्रयुक्त हैं, जो उन लक्षणों से युक्त हैं। यदि

ऋग्वेद में पठित कोई मन्त्र यजुर्वेद में पढ़े गये हैं, तो उनका उच्चारण ऋक् के अनुसार ऊँचे स्वर से होगा; यजुर्वेद के अनुसार उपांशु नहीं। यदि ऐसा नहीं माना जाता, तो ऋचा में दोनों [उच्चैस्त्व, उपांशुत्व] धर्मों का विकल्प मानना होगा। इससे पक्ष में एक धर्म बाधित होगा। एक मन्त्र ऋग्वेद और यजुर्वेद दोनों जगह पठित है। जब ऋग्वेद में पठित मन्त्र का ऊँचे स्वर से उच्चारण होगा, तो वहाँ उपांशुत्व धर्म की बाधा होगी। जब वही मन्त्र यजुर्वेद में उपांशु पढ़ा जायगा, तो उच्चैस्त्व धर्म की बाधा होगी। इसलिए उक्त वाक्यों में ऋक् आदि पद ऋग्वेद आदि के बोधक नहीं माने जाने चाहिएँ।

इसके अतिरिक्त यह भी आपत्तिजनक होगा कि दर्श-पूर्णमास आदि यागों के जितने विधिवाक्य हैं, वे सब यजुर्वेद में हैं। तब समस्त दर्श-पूर्णमास आदि यागों में उपांशुत्व धर्म प्राप्त होगा, जो किसी प्रकार भी अभीष्ट नहीं है। अतः श्रवण-सामर्थ्य से उच्चैस्त्व, उपांशुत्व आदि धर्म ऋक्त्व आदि जाति के साथ सम्बद्ध हैं; यह स्पष्ट होता है। ऋग्वेद आदि का अभिव्यंजक कोई पद यहाँ नहीं है ॥१॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

वेदो वा प्रायदर्शनात् ॥२॥

[वा] 'वा' पद पूर्वोक्त की निवृत्ति का बोधक है। तात्पर्य है, उक्त वाक्यों में ऋक् आदि पद जाति के बोधक नहीं हैं; प्रत्युत [वेदः] उक्त पदों से ऋग्वेद आदि जाना जाता है, [प्रायदर्शनात्] उक्त वाक्यों के प्रारम्भिक प्रसंग में वेद पद के देखे जाने से। तात्पर्य है, उस प्रसंग के उपक्रम में ऋग्वेद आदि पद सुने जाने से उपसंहार में भी ऋक् आदि पद ऋग्वेद आदि के बोधक हैं, यह समझना चाहिए।

'प्रायदर्शनात्' पद में 'प्राय' पद 'प्र'-उपसर्गपूर्वक 'इण्' धातु से भाव-अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। 'प्र' उपसर्ग के योग से यह पद प्रारम्भ= उपक्रम का वाचक है। जिस प्रसंग में 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि वाक्य कहे हैं, उसके प्रारम्भिक भाग में कहा गया है—

"प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्। स तपोऽतप्यत। तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त। अग्निर्वायुरादित्यः। ते तपोऽतप्यन्त। तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा असृज्यन्त। अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात् सामवेदः।"

—सर्गरचना से पूर्व यह अकेला प्रजापति था। तप तपते हुए उस प्रजापति ने तीन देवों की सृष्टि की—अग्नि, वायु और आदित्य। उन देवों ने तप तपा। तप तपते हुए उन देवों से तीन वेद प्रादुर्भूत हुए—अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद।

प्रसंग के प्रारम्भ में स्पष्ट ऋग्वेद आदि का उल्लेख होने से उसके उपसंहार-

भाग—'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि वाक्यों में 'ऋक्, यजुः, साम' पद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के वाचक हैं, यह स्पष्ट जाना जाता है। मन्त्रों की 'ऋक्' आदि संज्ञाएँ उनकी रचना के आधार पर हैं। छन्दोरूप ऋक् हैं, गीतिरूप साम, इन दोनों से भिन्न गद्यरूप रचना यजुः हैं। रचना के आधार पर ऋक् आदि का अपना एक वर्ग है, अपनी जाति है। प्रस्तुत प्रसंग में ऋक् आदि पद स्ववर्ग अथवा जाति के वाचक न होकर ऋग्वेद आदि नाम से समुदित ग्रन्थविशेष का निर्देश करते हैं। इससे प्रकरण उपकृत होता है, तथा ऋक् आदि का अभिधा-मूलक अर्थ स्वीकार किये जाने से लक्षणा का आश्रय नहीं लेना पड़ता। यदि इसको स्वीकार नहीं किया जाता, तो प्रकृत में 'ऋक्' आदि पदों का अन्य कोई अर्थ संगत न होने से यह कथन निरर्थक होगा, जो किसी प्रकार अभीष्ट नहीं। अतः यहाँ वेद का अधिकार जानना युक्त है ॥२॥

उक्त प्रसंग में ऋक् आदि पद ऋग्वेद आदि के वाचक हैं, इसमें अन्य हेतु सूत्रकार ने बताया—

लिङ्गाच्च ॥३॥

[लिंगात्] लिंग से [च] भी जाना जाता है कि उक्त प्रसंग में 'ऋक्' आदि पद ऋग्वेद आदि को कहते हैं।

उक्त अर्थ की पुष्टि में लिङ्ग अर्थात् अन्य उपोद्बलक हेतु भी है। वैदिक वाङ्मय में कहा है—'ऋग्भिः[1] प्रातर्दिवि देव ईयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः'—सूर्य प्रातःकाल द्युलोक में ऋचाओं से गति करता है, मध्याह्न में यजुर्वेद से ठहरता है, अस्त होते हुए सायंकाल में सामवेद से पूजित होता है। इस प्रकार तीन वेदों के अस्तित्व के साथ सूर्य गति करता है। मन्त्र के पहले पाद में ऋक् और दूसरे-तीसरे पाद में दो वेदों का उल्लेख करके चौथे पाद में बहुवचन के साथ उपसंहार किया है—'वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः', इससे स्पष्ट होता है कि मन्त्र में 'ऋक्' पद ऋग्वेद के लिए प्रयुक्त माना गया है। इसलिए 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि में भी 'ऋक्' आदि पद ऋग्वेद आदि के वाचक हैं, यह स्वीकार्य होना चाहिए ॥३॥

सूत्रकार ने उक्त अर्थ की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

---

१. तुलना करें—तै० ब्रा० ३।१२।९॥ **'ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते। यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनाऽस्तमये महीयते वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः।'**

धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः ॥४॥

[धर्मोपदेशात्] साम के उच्चैस्त्व धर्म के उपदेश से [च] भी 'ऋक्' आदि पद वेद के वाचक हैं, यह ज्ञात होता है। अन्यथा साम के ऋचाओं पर आधारित होने के कारण उसका उच्चैस्त्व स्वतःसिद्ध था, फिर [द्रव्येण] द्रव्य = साम के साथ उच्चैस्त्व धर्म के [सम्बन्धः] सम्बन्ध का विधान [नहि] नहीं करना चाहिए था; पर किया है, इससे ज्ञात होता है, उच्चैस्त्व आदि धर्म मन्त्र के न होकर वेद के हैं।

साम गीतिरूप हैं, और वह गान ऋचाओं पर गाया जाता है। आचार्यों ने कहा है—'ऋचि अध्यूढं साम'—साम ऋचा पर आधारित रहता है। तात्पर्य है, कोई ऋचा (= मन्त्र) ही सामरूप में गाया जाता है। यदि 'ऋक्' आदि पद मन्त्र के वाचक होते और उच्चैस्त्व आदि धर्म मन्त्र के माने जाते, तो ऋक्-मन्त्र का उच्चैस्त्व धर्म 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' से सिद्ध था; वही ऋक्-मन्त्र सामरूप में गाये जाने से उसके उच्चैस्त्व धर्म का 'उच्चैः साम्ना' यह पृथक् विधान करना अनावश्यक था। इससे स्पष्ट होता है, उच्चैस्त्व आदि धर्म वेद के हैं, और 'ऋक्' आदि पद वेद के वाचक हैं ॥४॥

उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

त्रयीविद्याख्या च तद्विदि ॥५॥

[च] और [त्रयीविद्याख्या] तीन विद्याओं के जाननेवाले के लिए 'त्रयी-विद्य' इस नाम की प्रवृत्ति [तद्विदि] तीन वेदों के जाननेवाले में होने के कारण ऋक् आदि पद वेद के वाचक हैं।

ऋक्, यजुः, साम तीनों वेदों को पढने-जाननेवाला व्यक्ति त्रयीविद्य कहा जाता है। यह 'त्रयीविद्य' संज्ञा तभी उपयुक्त हो सकती है, जब ऋक्, यजुः, साम पदों से तीन वेदों का ग्रहण किया जाय। 'त्रयी' पद तीन वेदों के लिए प्रसिद्ध है। इसलिए ऋक् आदि पद वेद के वाचक हैं, मन्त्र के नहीं। अतः 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि वाक्यों में ऋक् आदि पद वेद के वाचक होने से उच्चैस्त्व आदि धर्म वेद के हैं, मन्त्र के नहीं, यह स्पष्ट होता है ॥५॥

शिष्य आशंका करता है—यदि उच्चैस्त्व आदि धर्म वेद के माने जाते हैं, तो जो ऋचा यजुर्वेद में पठित हैं, उनका उच्चैस्त्व धर्म बाधित होगा, क्योंकि यजुर्वेद का उपांशुत्व धर्म श्रुत है। आचार्य ने शिष्य-आशंका को सूत्रित किया—

व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् ॥६॥

[व्यतिक्रमे] व्यतिक्रम अर्थात् उक्त अर्थ के उलट होने पर—तात्पर्य है, ऋक्

आदि पदों को वेदवाचक न मानकर ऋक्-वर्गविशेष का वाचक मानने पर [यथाश्रुतिः] उक्त वाक्यों में ऋक् आदि का जो उच्चैस्त्व आदि धर्म श्रुत है, वह उसी प्रकार यथावत् बना रहता है [इति चेत्] ऐसा यदि कहा जाय (तो वह ठीक नहीं, यह अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध) है।

प्रकरण के प्रथम सूत्र की व्याख्या में ऋक् आदि पदों के वर्गवाची अथवा ऋक्त्व-जातिपरक होने में यह उपपत्ति प्रस्तुत की है कि ऋक् आदि पदों को जातिपरक मानने पर उक्त वाक्यों में कहे गये ऋक् आदि के उच्चैस्त्व आदि धर्मों की बाधा नहीं होती, वे यथाश्रुत बने रहते हैं। यदि ऐसा न मानकर ऋक् आदि पदों को वेदवाचक मानते हैं, तो ऋग्वेद की जो ऋचा यजुर्वेद में पठित हैं, वहाँ उपांशुत्व धर्म माने जाने से उनके उच्चैस्त्व धर्म की बाधा होगी। वे ही ऋचा जब ऋग्वेद में पढ़ी जायेंगी, तो यजुर्वेदीय उनके उपांशुत्व धर्म की बाधा होगी। उन ऋचाओं को दो धर्मवाली माना जायगा—ऋग्वेद में उच्चैस्त्व धर्म, यजुर्वेद में उपांशुत्व; यह स्थिति दोषावह है।

इसके अतिरिक्त अन्य आपत्ति है, दर्श-पूर्णमास आदि यागों में सर्वात्मना उपांशुत्व धर्म की प्रवृत्ति होना। क्योंकि इन यागों के विधायक वाक्य यजुर्वेद में हैं, अतः सब यज्ञों के यजुर्वेदान्तर्गत होने से पूरे दर्श-पूर्णमास आदि यागों में उपांशुत्व धर्म की प्रवृत्ति होगी, जो अभीष्ट नहीं है। इसलिए उक्त वाक्यों में ऋक् आदि पदों को वेदवाचक न मानकर ऋग्वर्गीय मन्त्र का वाचक मानना उपयुक्त होगा। इससे 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि श्रुति भी उपकृत होगी। 'ऋक्' आदि पदों के वेदवाचक होने में अन्य हेतुओं के उपस्थित किये जाने पर भी इस आशंका का समाधान नहीं किया गया। शिष्य द्वारा प्रस्तुत करने पर आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न सर्वस्मिन्निवेशात् ॥७॥

[सर्वस्मिन्] सम्पूर्ण ऋग्वेद में उच्चैस्त्व, सम्पूर्ण यजुर्वेद में उपांशुत्व तथा सम्पूर्ण सामवेद में उच्चैस्त्व धर्म के [निवेशात्] निवेश = व्यापक होने से उक्त आशंका का अवकाश [न] नहीं है, प्रस्तुत प्रसंग में।

उक्त वाक्यों के 'ऋक्' आदि पदों को वेदवाचक मानने में आशंकारूप से जो दोष उपस्थित किया गया है, यह युक्त नहीं है। क्योंकि उक्त वाक्यों से सम्पूर्ण ऋग्वेद आदि में अपने-अपने उच्चैस्त्व आदि धर्मों का विधान स्वीकार किया गया है, किसी अंश का नहीं। यदि कोई ऋचा ऋग्वेद से स्थानान्तरित होकर यजुर्वेद में पढ़ी जाती है, तो यजुर्वेद के अन्तर्गत होने से उसका धर्म उपांशुत्व है। उच्चैस्त्व धर्म सम्पूर्ण ऋग्वेद का केवल ऋचा का धर्म नहीं है। इससे सम्पूर्ण किसी भी वेद का दो धर्मों से सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। एक ऋचा का भी दो धर्मों से

सम्बन्ध नहीं, क्योंकि जो ऋचा जिस वेद में पठित है, उसका केवल वही एक धर्म है, जो उस वेद का विहित है। इसका फलितार्थ यही होता है कि जिन कतिपय ऋचाओं को स्थानान्तरित हुई कहा जाता है, वस्तुतः अपने रूप में वे भिन्न हैं, यद्यपि उनकी आकृति व आनुपूर्वी समान होती है। इसलिए किसी पर भी दो धर्मों से युक्त होने का दोष आपादित नहीं होता ॥७॥

प्रकरण का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने बताया—

वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत ॥८॥

[वेदसंयोत्] उच्चैस्त्व आदि धर्मों का वेद के साथ सम्बन्ध होने के कारण [प्रकरणेन] प्रकरण से [न] नहीं [बाध्येत] बाधा होगी, उच्चैस्त्व आदि धर्म की।

प्रथम जो यह कहा गया है कि उच्चैस्त्व आदि को मन्त्र का धर्म मानने पर 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि प्रकरण अनुगृहीत होगा; और ऐसा न मानने पर अथवा ऋक् आदि पदों को ऋग्वेद आदि का वाचक मानने पर जो यह दोष बताया गया कि कतिपय ऋचा ऋग्वेद से स्थानान्तरित होकर यजुर्वेद में पठित हैं, उनका उच्चैस्त्व धर्म बाधित होगा, और उनका उपांशुत्व धर्म ऋग्वेद में बाधित होगा, ये दोनों कथन युक्त एवं साधार नहीं हैं। कारण यह है कि उच्चैस्त्व आदि को वेद का धर्म मानने पर यदि प्रकरण अनुगृहीत नहीं होता, तो यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि प्रकरण की अपेक्षा वाक्य के बलवान् होने से वाक्य द्वारा प्रकरण बाधित हो सकता है। दूसरा—स्थानान्तरित ऋचाओं के 'उच्चैस्त्व' आदि धर्मों की स्थानान्तर में बाधा का कथन भी निराधार है। इसका उल्लेख गत सूत्र की व्याख्या में कर दिया गया है। फलतः 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' आदि वाक्यों में 'ऋक्' आदि पद ऋग्वेद आदि के वाचक हैं, यह उपपन्न होता है ॥८॥ (इति उच्चैस्त्वादीनां वेदधर्मताधिकरणम्—१)

(आधाने गानस्योपांशुताधिकरणम्—२)

यजुर्वेद [३।५] में कहा—'अग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे' अन्नाद्य के लिए अन्नाद अग्नि का आधान करे। इसके अनुसार 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः; शरदि वैश्यः' वसन्त ऋतु में ब्राह्मण, ग्रीष्म में क्षत्रिय, शरद् में वैश्य अग्नियों का आधान करे; तथा इसी प्रकार 'य एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते' [मै०सं० १।६।३, १३] जो इस प्रकार जानता हुआ अग्नि का आधान करता है, इत्यादि अग्न्याधान-कर्म का विधान यजुर्वेद में किया गया है। उस अग्न्याधान-कर्म में उसके अङ्गरूप से कतिपय सामगानों का विधान है—'य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति' जो इस प्रकार विद्वान् वारवन्तीय नामक साम का गान करता

है, 'य एवं विद्वान् यज्ञायज्ञीयं गायति' जो इस प्रकार विद्वान् यज्ञायज्ञीय नामक साम का गान करता है, 'य एवं विद्वान् वामदेव्यं गायति' जो इस प्रकार विद्वान् वामदेव्य नामक साम का गान करता है। शिष्य जिज्ञासा करता है—इस विषय में सन्देह है—क्या अग्न्याधान-कर्म में सामगान उपांशु करना चाहिए? अथवा उच्चैः करना चाहिए? सामगान सामवेद से किया जाता है, जो वारवन्तीय आदि ऋचाओं में गाया जाता है। 'उच्चैः साम्ना' विधान के अनुसार अग्न्याधान में भी सामों का गान उच्चैः करना प्राप्त होता है।

आचार्य सूत्रकार ने बताया—

गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः ॥९॥

[गुणमुख्यव्यतिक्रमे] गौण और प्रधान कर्मों में किसी एक अवसर पर परस्पर विरोध होने पर [तदर्थत्वात्] गुणविधि के प्रधान-निमित्त होने के कारण [मुख्येन] मुख्य=प्रधान विधि के साथ [वेदसंयोगः] वेद का सम्बन्ध जानना चाहिए।

यहाँ प्रसंग में अग्न्याधान प्रधान कर्म है। वारवन्तीय आदि सामगान उसकी सम्पन्नता के लिए होने के कारण आधान के अङ्गरूप हैं, अर्थात् गौण कर्म हैं। यद्यपि 'उच्चैः साम्ना' विधान के अनुसार गौण रूप सामगान कर्म में 'उच्चैस्त्व' धर्म प्राप्त होता है, तथापि प्रधान कर्म अग्न्याधान यजुर्वेद द्वारा विहित होने के कारण आधान कर्म में सामगानरूप गौण कर्म के लिए यजुर्वेद-सम्बन्धी उपांशु-स्वर का ही उपयोग होगा।

प्रस्तुत प्रसंग में सन्देह का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिए—गौण-प्रधान कर्मों में विरोध होने पर क्या गुणकर्म के अनुरोध से प्रधान कर्म के धर्म का परित्याग कर दिया जाय? अथवा प्रधान कर्म के अनुरोध से गौण कर्म के धर्म का परित्याग किया जाय? ऐसा संशय होने पर आचार्य ने निर्णय दिया है—गौण कर्म के धर्म का परित्याग करना ही न्याय्य है। साथ ही प्रधान कर्म के धर्म का संरक्षण करना उचित है। कारण यह है—प्रधान कर्म को सगुण-सम्पन्न बनाने के लिए व्यक्ति गौण कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है; क्योंकि गुणकर्म प्रधानकर्म की पूर्ण साङ्ग-सम्पन्नता के लिए ही होता है। यदि गौण कर्म के अनुरोध से प्रधान कर्म के धर्म का परित्याग किया जाय, तो प्रधान कर्म अपूर्ण रह जायगा, तथा गौण कर्म का अनुष्ठान व्यर्थ हो जायगा। इससे समस्त कर्मानुष्ठान निष्फल रहेगा, क्योंकि सामवेद से किया जानेवाला सामगान गुणकर्म है; तथा यजुर्वेद-विहित अग्न्याधान प्रधान कर्म है; उसकी सिद्धि के लिए ही व्यक्ति गुणकर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होता है। ऐसी स्थिति में प्रधान कर्म अग्न्याधान के विधायक यजुर्वेद के 'उपांशुत्व' धर्म का संरक्षण सामवेद के 'उच्चैस्त्व' धर्म का परित्याग करने पर

सम्भव है। इसलिए प्रधान कर्म में निर्दिष्ट साम उपांशुस्वर में गाया जाना योग्य है।

सामगानों के नामकरण के अनेक आधार होते हैं। उनमें मुख्य दो हैं। एक—गेय ऋचा में किन्हीं पदविशेषों का होना; दूसरा—किसी के द्वारा उस गान का सर्वप्रथम प्रस्तुतीकरण। चालू प्रसंग में वारवन्तीय और यज्ञायज्ञीय गान प्रथम कोटि के हैं, तथा वामदेव्य गान द्वितीय कोटि का। पहले दो साम जिन ऋचाओं पर गाये जाते हैं, उनमें 'वारवन्त' और 'यज्ञायज्ञ' पदविशेष पठित हैं। तीसरे साम का नाम 'वामदेव' व्यक्तिविशेष के नाम के आधार पर है जिसने सर्वप्रथम उस गान को प्रस्तुत किया। इसी के अनुसार 'वासिष्ठ' 'वैश्वामित्र' आदि साम के नाम हैं, जिनका प्रस्तुतीकरण वसिष्ठ व विश्वामित्र के द्वारा हुआ ॥९॥ (इति आधाने गानस्योपांशुताऽधिकरणम्—२)।

(ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वेदिकताधिकरणम्—३)

यजुर्वेद-सम्बन्धी वाङ्मय में ज्योतिष्टोम-विषयक वाक्य पढ़ा है—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'[1]—स्वर्ग की कामनावाला व्यक्ति ज्योतिष्टोम से यजन करे। सामवेद-सम्बन्धी वाङ्मय में भी इसका ऐसा ही पाठ उपलब्ध होता है।[2] दोनों वेदों में ज्योतिष्टोम का विधान होने से किसको प्रधान विधि और किसको अनुवाद माना जाय? यह सन्देह है। यदि यजुर्वेद-विहित को प्रधान माना जाय, तो उसका अनुष्ठान उपांशुस्वर से होगा। यदि सामवेद-विहित को प्रधान माना जाता है, तो अनुष्ठान उच्चैःस्वर से किया जायगा। सूत्रकार ने सन्देह का समाधान किया—

भूयस्त्वेनोभयश्रुति ॥१०॥

[उभयश्रुति] दो या अधिक वेदों में सुना जानेवाला कर्म [भूयस्त्वेन] बहुत गुणोंवाला होने से प्रधान विधि माना जाता है। तात्पर्य है—जिस कर्म के गुणों का जिस वेद में अधिकता से विधान है, वह प्रधान क्रिया का विधायक जानना चाहिए, अन्यत्र का श्रवण उसका अनुवाद होगा।

'उभयश्रुति' पद में बहुव्रीहि समास है—'उभयथा श्रुतिः श्रवणं यस्य कर्मणः तत्कर्म उभयश्रुति'—अधिक व न्यून गुणवाले दोनों प्रकार से जिस कर्म का श्रवण विभिन्न वेदों में पाया जाता है, वह कर्म उभयश्रुति है। 'उभय' सभी वेदों का उपलक्षण है। यदि कोई कर्म तीनों वेदों में विहित पाया जाता है, तो उसका निर्णय

---

१. द्रष्टव्य—स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत। आप० श्रौ० १०।२।१॥

२. द्रष्टव्य—ताण्ड्य ब्रा०, १६।१।१-२ ॥

भी इसी हेतु (भूयस्त्व) के अनुसार कर लेना चाहिए।

अनेक वेदों में विहित कर्म की प्रधानता के लिए उसके अनुष्ठान-प्रकारों का अधिकाधिक वर्णन ही आधार होता है। अनुष्ठान के प्रकारों का नाम इतिकर्तव्यता है। जहाँ केवल कर्म का विधान है, वहाँ इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा रहती है; उसकी पूर्त्ति जिस वेद के सहयोग से हो, वहाँ के विधान को अनुष्ठान के लिए प्रधान माना जायगा। ज्योतिष्टोम का सर्वाङ्गपूर्ण इतिकर्त्तव्यतायुक्त विधान यजुर्वेद में पाया जाता है, इसलिए उसका अनुष्ठान उपांशु स्वर से होना चाहिए।

यद्यपि सूत्र के शाबर भाष्यानुसार ज्योतिष्टोम-अनुष्ठान उपांशु स्वर के साथ हो —यह निर्णय दिया गया, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है। ज्योतिष्टोम याग में तीनों वेदों के मन्त्रों का अपने निर्धारित स्वर के साथ प्रयोग होता है। इसलिए कतिपय व्याख्याकारों ने सूत्रार्थ भिन्न प्रकार किया है। (इति ज्योतिष्टोमस्य यजुर्वेदिकताधिकरणम्—३)

(प्रकरणस्य विनियोजकताऽधिकरणम्—४)

सन्दिग्ध वाक्यों के विनियोग-निर्णय में कारण श्रुति, लिङ्ग और वाक्य का उपयुक्त प्रसंगों[1] में वर्णन कर दिया गया है। क्या विनियोग के इतने ही कारण हैं? या अन्य भी? प्रस्तुत अधिकरण का प्रारम्भ इस प्रश्न से ही होता है। लोक में किसी कार्य का उपक्रम प्रायः प्रश्न से होता देखा जाता है—इस नदी का क्या नाम है? यह पर्वत किस नामवाला है? यह फल क्या है? इत्यादि। पूर्वोक्त तीन विनियोग-कारणों के अतिरिक्त भी कारण हैं, सूत्रकार ने बताया—

असंयुक्तं प्रकरणाद् इतिकर्त्तव्यतार्थित्वात ॥११॥

[असंयुक्तम्] श्रुति, लिङ्ग, वाक्य से जो असम्बद्ध है, वह कर्म [इतिकर्त्तव्यतार्थित्वात्] इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा रखनेवाला होने के कारण [प्रकरणात्] प्रकरण से सम्बद्ध होता है।

जिस कर्म का विनियोग श्रुति, लिङ्ग, वाक्य के आधार पर नहीं होता, तथा इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा रखनेवाला है, उसका विनियोग प्रकरण के आधार पर होता है।

दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पाँच प्रयाज पठित हैं—'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति' प्रकरण-सामर्थ्य से दर्श-पूर्णमास

---

१. द्रष्टव्य—श्रुति की विनियोग-कारणता (मी० ३।२।३-४) में, लिङ्ग की कारणता (मी० ३।२।१–२; अधि० १) में; वाक्य की विनियोगकारणता (मी० ३।१।१२; अधि० ६) में बताई गई है।

में इनका विनियोग होता है, ज्योतिष्टोम अथवा अग्निहोत्र आदि में नहीं। दर्श-पूर्णमास को अपनी पूर्णता व सम्पन्नता के लिए इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा है, अर्थात् किस-किस कर्म को करने से दर्श-पूर्णमास सम्पन्न होते हैं। दूसरी ओर प्रयाजसंज्ञक यागों को आकांक्षा है कि हमारा क्या प्रयोजन है ? हमें कहाँ प्रयुक्त होना चाहिए ? इस प्रकार परस्पर आकांक्षा होने पर प्रकरणरूप प्रमाण से समिद् आदि प्रयाजों का दर्श-पूर्णमास के साथ सम्बन्ध होता है ॥११॥ (इति प्रकरणस्य विनियोजकताऽधिकरणम्—४)।

(क्रमस्य विनियोजकताऽधिकरणम्—५)

पुनः प्रश्न होता है, क्या इतने ही विनियोग के कारण हैं ? नहीं; अन्य भी कारण हैं।

सूत्रकार ने बताया—

क्रमश्च देशसामान्यात् ॥१२॥

[देशसामान्यात्] देश की समानता से [क्रमः] क्रम [च] भी वाक्य के विनियोग का कारण होता है।

आनुपूर्वी से कहे गये क्रमवालों में जिस पर्याय से जिस धर्म का कथन होता है, उसकी आकांक्षा उसी पर्याय के धर्मी के साथ जानी जाती है। आकांक्षा होने पर उनकी परस्पर एकवाक्यता होती है। तात्पर्य है—क्रमानुसार वे एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध होते हैं। यह क्रम उनके सम्बन्ध=विनियोग का प्रयोजक होता है।

इसको स्पष्ट करने के लिए लौकिक उदाहरण है—निदेशक ने कहा—चैत्र, मैत्र और श्याम दिल्ली, मथुरा और आगरा जायेंगे। यहाँ चैत्र आदि धर्मी जैसे एक क्रम से कहे गए हैं, वैसे ही दिल्ली जाना आदि धर्म का एक क्रम से कथन है। अब प्रश्न होता है, कौन दिल्ली जायगा ? कौन आगरा ? क्रम इसका विनियोजन करता है। चैत्र दिल्ली जायगा, मैत्र मथुरा और श्याम आगरा।

प्रस्तुत प्रसंग में शास्त्रीय उदाहरण है—आनुपूर्वीवाले यागों में अनुमन्त्रण-मन्त्रों का पाठ। यह प्रसंग दर्श-पूर्णमास में आता है। दर्श-पूर्णमास में असोमयाजी (जो सोमयाग का उपक्रम न कर दर्श-पूर्णमास के अनुष्ठान में प्रवृत्त हुआ हो, उस-) के प्रधान यागों का क्रम इस प्रकार है : पूर्णमास में—आग्नेय, उपांशुयाज, अग्नीषोमीय; दर्श में—आग्नेय, उपांशुयाज, ऐन्द्राग्न। प्रत्येक याग के होम के अनन्तर यजमान उस-उस देवता से आशीः चाहता है; उसके मन्त्रों को 'अनु-मन्त्रण' कहते हैं। दर्श-पूर्णमास के प्रधान याग के अनुमन्त्रण-मन्त्र हैं—पूर्णमास में 'अग्नेरन्नादो०, दब्धिर्नामासि०. अग्नीषोमौ वृत्रहणौ'। दर्श में 'अग्नेरन्नादो०, दब्धिर्नामासि, इन्द्राग्न्योरहं०'। क्रमानुसार प्रथम और तृतीय संख्या पर निर्दिष्ट

मन्त्रों में देवता-निर्देशरूप लिङ्ग से यह निश्चित हो जाता है कि इन मन्त्रों का विनियोग आग्नेय, अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न यागों में होना चाहिए। परन्तु 'दब्धिर्नामासि' मन्त्र में देवतानिर्देश आदि कोई लिङ्ग न होने से यह सन्देह होता है कि इसका विनियोग उपांशुयाज में होता है? या नहीं? सन्देह का निवारण सूत्रकार ने क्रम के आधार पर किया है। मन्त्रपाठ की आनुपूर्वी में 'दब्धिर्नामासि०' मन्त्र 'अग्नेरन्नादो०' के अनन्तर पढ़ा है। यागों की आनुपूर्वी में आग्नेय याग के अनन्तर उपांशुयाज निर्दिष्ट है। इस क्रम के बल पर 'दब्धिर्नामासि०' मन्त्र का विनियोग उपांशुयाज याग में निर्धारित होता है।

इसी प्रकार ऐन्द्राग्न कर्म के अनुष्ठान का विधान उस व्यक्ति के लिए है, जिसके सम्बन्धी असमय मरते हों तथा जिसके अनेक शत्रु हों। उस ऐन्द्राग्न कर्म में इन्द्राग्नी देवतावाले याज्या-अनुवाक्या के दो जोड़े पढ़े गए हैं। एक है—'इन्द्राग्नी रोचना दिवः, प्रचषणिभ्यः'; दूसरा है—'इन्द्राग्नी नवतिं पुरः, श्नथद् वृत्रम्'। यद्यपि यहाँ लिङ्ग से विनियोग निश्चित है, पर यह विशेष विनियोग क्रम के आधार पर होता है कि याज्या-अनुवाक्या का पहला जोड़ा प्रथम ऐन्द्राग्न कर्म में विनियुक्त है। यह ऐन्द्राग्न कर्म उस यजमान के द्वारा किया जाता है, जिसके सम्बन्धी असमय मर जाते हों; और दूसरा जोड़ा दूसरे ऐन्द्राग्न कर्म में विनियुक्त होता है, जो उस यजमान के द्वारा किया जाता है, जिसके अनेक शत्रु हों। विनियोग में क्रम के कारण का यह अन्य उदाहरण है ॥१२॥ (इति क्रमस्य विनियोजकताधिकरणम्—५)।

(समाख्याया विनियोजकताधिकरणम्—६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या विनियोग के इतने ही कारण हैं? या अन्य भी हैं?

सूत्रकार ने समाधान किया, अन्य भी कारण हैं—

आख्या चैवं तदर्थत्वात् ॥१३॥

[आख्या] आख्या-समाख्या-संज्ञा [च] भी [एवम्] इसी प्रकार विनियोग का कारण है। संज्ञा के [तदर्थत्वात्] उस समाख्येय-संज्ञी के लिए होने के कारण।

श्रुति, लिङ्ग, वाक्य आदि अन्य कारणों के समान समाख्या भी विनियोग का कारण है। कोई भी संज्ञा अर्थात् नाम-पद संज्ञा-संज्ञी के अनिवार्य सम्बन्ध पर आश्रित रहता है। तात्पर्य है—किसी संज्ञा-पद का प्रयोग किसी संज्ञी के लिए तभी सम्भव होगा, जब उनका वाच्य-वाचक-सम्बन्ध निर्धारित हो। समस्त वैदिक-लौकिक व्यवहार इसी व्यवस्था पर संचालित हैं। जैसे पाचक-लावक संज्ञा-पद हैं। पाचक संज्ञा-पद को सुनकर पाक-क्रिया के साथ 'पाचक' नामवाले व्यक्ति

का सम्बन्ध जाना जाता है; लवन (फ़सल काटना) क्रिया के साथ 'लावक' नामवाले का। आज भी इस प्रदेश की जनभाषा में पकी फ़सल को काटनेवाले व्यक्तियों के लिए 'लावा' पद का प्रयोग होता है। इसी प्रकार वैदिक वाङ्मय में 'आध्वर्यव' और 'हौत्र' नामक कर्मों का उल्लेख है। आध्वर्यव नाम से कहे जानेवाले कर्म अध्वर्यु द्वारा किए जाने चाहिएँ, और हौत्र नामवाले होता के द्वारा। इन उदाहरणों में विनियोग का कारण समाख्या है, क्योंकि यहाँ श्रुति आदि अन्य कारण प्राप्त नहीं हैं। समाख्या को कारण माने जाने का यही प्रयोजन है॥१३॥ (इति समाख्याया विनियोजकताधिकरणम् — ६)।

(श्रुत्यादीनां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वाधिकरणम्—७)

श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्यारूप छह कारण विनियोग के बताए गए। जब किसी प्रसंग में एकसाथ अनेक कारण प्राप्त हों, तब विनियोग के कौन-से कारण का प्रयोग होना चाहिए? इसके निर्धारण के लिए उनके बलाबल का विचार प्रस्तुत है। जो बलवान् होगा, उसका प्रयोग किया जायगा, अबल हट जायगा। इसकी व्यवस्था के लिए सूत्रकार ने कहा—

श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात् ॥१४॥

[श्रुतिलिङ्ग—समाख्यानाम्] श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या के [समवाये] एकसाथ अनेक विनियोग-कारणों के उपस्थित होने पर [पारदौर्बल्यम्] पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल माना जाता है, [अर्थविप्रकर्षात्] अर्थ की दूरी होने के कारण।

एक समय में एक अर्थ का विवेचन हो सकता है, अनेक का नहीं। विनियोग के छह कारणों के परस्पर बलाबल का विचार एकसाथ सम्भव न होने से यथाक्रम दो-दो के जोड़े को लेकर विवेचन प्रस्तुत है। सर्वप्रथम श्रुति, लिङ्ग पठित हैं। इनमें कौन बलवान् कौन दुर्बल है? यह विवेच्य है। इस विवेचन से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि श्रुति आदि का स्वरूप क्या है?

श्रुति—इस पद का यहाँ वेद या आम्नाय अर्थ नहीं है। जो शब्द श्रवणमात्र से—किसी अन्य पद की आकांक्षा किए बिना—अपने स्पष्ट अर्थ का कथन करता है, वह यहाँ 'श्रुति' नाम से अभिप्रेत है। तात्पर्य है—निराकांक्ष पद श्रुति है। ऐसे पद सुबन्त और तिङन्त दोनों प्रकार के हैं—सुबन्त=नामपद और तिङन्त=क्रियापद, जैसे—'सोमेन यजेत, अग्निहोत्रं जुहुयात्' आदि वाक्य हैं। इनमें 'सोम-अग्निहोत्र' सुबन्त=नामपद हैं। ये अपने अर्थ को अभिव्यक्त करने में किसी अन्य पद की आकांक्षा या अपेक्षा नहीं रखते। इसी प्रकार 'यजेत, जुहुयात्' ये तिङन्त=

क्रियापद हैं; ये भी अपने अर्थ को—अन्यपद-निरपेक्ष होकर स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्त करते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में ऐसे पदों को 'श्रुति' नाम दिया गया है।

ऐसे पद किसी अर्थ के विधायक, अभिधायक और विनियोजक माने जाते हैं। उक्त पद सोमयाग और अग्निहोत्र होम के विधायक हैं; इनके अनुष्ठान का विधान करते हैं; अपने अर्थों के अभिधायक हैं, वाचक हैं; याग में सोम का और होम में अग्निहोत्र का विनियोग बताते हैं। इन पदों के साथ लगे विभक्ति या एकवचन आदि के आधार पर श्रुति के भेद बताए गए हैं—विभक्तिरूप, एकवचनरूपा, एकपदरूपा। 'सोमेन' पद में 'सोम' के साथ तृतीया विभक्ति सोम को याग का अङ्ग बताने में किसी अन्य की आकांक्षा न करने के कारण यह विभक्तिरूपा श्रुति है। एकवचन—अन्य-निरपेक्ष केवल सोम को याग का साधन या अङ्ग बताने के कारण यह एकवचनरूपा श्रुति है। सोमपद अन्य-निरपेक्ष होकर केवल सोमद्रव्य का कथन करने से एकपदरूपा श्रुति है।

इसी प्रकार 'व्रीहीन् प्रोक्षति, व्रीहिभिर्यजेत' आदि में भी विभक्तिरूपा, वचनरूपा, पदरूपा श्रुति को समझ लेना चाहिए। व्रीहि पद के साथ लगी द्वितीया-तृतीया विभक्ति यथाक्रम व्रीहि को प्रोक्षण का और याग का अङ्ग बताने में अन्य-निरपेक्ष हैं; यह विभक्तिरूपा श्रुति है। बहुवचन का श्रवण व्रीहि के प्रोक्षण और याग में बहुत-से व्रीहि का कथन करने से यह वचनरूपा श्रुति है। यह अन्य-निरपेक्ष होकर एक दाने से प्रोक्षण व याग का निषेध कर बहुत-से व्रीहि का कथन करती है। शास्त्र में इसकी सीमा बताई है, कितने मुट्ठी व्रीहि लेने चाहिएँ। व्रीहि पद का श्रवण अन्य-निरपेक्ष होकर अपने विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त कर प्रोक्षण आदि में यव आदि द्रव्य का निषेध करता है; यह एकपदरूपा श्रुति है। इसका स्वरूप सर्वत्र विधिवाक्यों में इसी प्रकार समझना चाहिए।

लिङ्ग—किसी भी पद में किसी विशिष्ट अर्थ का बोध कराने के सामर्थ्य का नाम 'लिङ्ग' है। प्रत्येक पद किसी अर्थ का बोध कराने में समर्थ होता है। इस रूप में शब्द और अर्थ का परस्पर नित्यसम्बन्ध है। यह लिङ्ग दो प्रकार का है—एक शब्दगत, दूसरा अर्थगत। किसी पद में किसी विशिष्ट के प्रकाशन का सामर्थ्य होना 'शब्दगत' नामक लिङ्ग है, जैसे—प्रथम सोम, अग्निहोत्र, व्रीहि आदि पदों का उल्लेख किया गया है। किसी पदबोध्य वस्तु के कार्य करने की योग्यता का नाम 'अर्थगत' लिङ्ग है, जैसे—'जलेन सिञ्चति' वाक्य जलपद के वाच्य अर्थ में सींचने की योग्यता है, यह उपयुक्त अर्थ का बोध कराएगा, यह 'अर्थगत' लिंग है। इसके विपरीत 'वह्निना सिञ्चति' वाक्यगत वह्नि पद वाच्य-अर्थ आग में सींचने की योग्यता न होने से यह किसी उपयुक्त अर्थ का बोध नहीं कराएगा।

शब्द के साधारण अर्थबोधन-सामर्थ्य के अतिरिक्त जो किसी शब्द में विशिष्ट देवता को कहने का सामर्थ्य है वह लिङ्ग है, जैसे—'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र

सश्चसि दाशुषे' मन्त्र में 'इन्द्र' शब्द का विशिष्ट देवता को कहने का सामर्थ्य है—हे इन्द्र ! तुम कभी हिंसक नहीं होते, और यजमान को याग का फल देने के लिए प्राप्त होते हो। स्कन्द स्वामी ने निरुक्त की टीका[1] में 'लिङ्गज्ञा अत्र स्मः' इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'लिङ्गं देवताभिधानसमर्थः शब्दः' देवता के कथन करने में समर्थ शब्द 'लिङ्ग' कहा जाता है।

वाक्य—परस्पर-साकांक्ष पदों के समूह को 'वाक्य' कहते हैं। ऐसे पद आपस में एक-दूसरे की आकांक्षा रखते हुए पारस्परिक सहयोग से किसी एक पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र' यह एक वाक्य है। 'सोमेन यजेत स्वर्गकामः, अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' आदि सब ऐसे ही वाक्य हैं। वाक्यगत पदों के परस्पर-साकांक्ष होने के साथ-साथ उनमें उपयुक्त अर्थ के बोध कराने की योग्यता, और उनका एकसाथ आनुपूर्वी से उच्चरित या लिखित होना आवश्यक है। तात्पर्य है—वाक्यगत पदों में आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति का अस्तित्व रहना चाहिए।

प्रकरण—क्रियमाण कर्म का विधान होने पर आकांक्षा होती है, इस कर्म को किस प्रकार किया जाना चाहिए ? इसको इतिकर्त्तव्यता कहते हैं। किसी कर्म की इतिकर्त्तव्यता का ज्ञान—जहाँ से वह कर्म प्रारम्भ होता है और जहाँ पूर्ण होता है—उस समस्त सन्दर्भ के आधार पर किया जाता है। उसी का नाम प्रकरण है। प्रधान कर्म का प्रतिपादक पूरा सन्दर्भ 'महाप्रकरण' तथा उसके किसी एक अंश में इतिकर्त्तव्यता आदि को बतानेवाले प्रसंग 'अवान्तर प्रकरण' कहे जाते हैं। अवान्तर प्रकरण भी अपने रूप में अपना पूरा अस्तित्व रखते हैं। प्रधान कर्म अपनी सिद्धि के लिए अङ्गभूत इतिकर्त्तव्यता आदि की आकांक्षा रखता है; इतिकर्त्तव्यता आदि अङ्गभूत कर्मों का कोई स्वतन्त्र फल न होने से वह अपनी फलवत्ता के लिए प्रधान कर्म की आकांक्षा रखता है। इस प्रकार उभयाकांक्षी वाक्यों के समूह का नाम 'प्रकरण' है, यह भी कहा जा सकता है। सूक्तवाक सन्दर्भ [३।२ का अधि० ५] इसका उदाहरण है। इसका स्पष्टीकरण बलाबल-प्रसंग में आगे द्रष्टव्य है।

स्थान—विनियोजक प्रमाणों में पाँचवाँ 'स्थान' है। आचार्यों ने इसका अन्य नाम 'क्रम' बताया है। प्रधान और अङ्गभूत कर्मों के समानदेश में होने का नाम 'स्थान' या 'क्रम' है। कर्मों की यह समानदेशता पाठ और अनुष्ठान दोनों आधारों पर होती है। पहले का नाम 'पाठसादेश्य' और दूसरे का 'अनुष्ठान सादेश्य' है। पाठसादेश्य भी दो प्रकार का है : एक—यथासंख्य पाठ के अनुसार; दूसरा—

---

१. द्रष्टव्य—निरुक्त की स्कन्द स्वामी टीका, प्रथम भाग, अध्याय १, खण्ड १७, पृष्ठ १०८, पंक्ति ३-४।

सन्निधिपाठ के अनुसार।

समाख्या—प्रकृति-प्रत्यय से सिद्ध यौगिक पद का नाम 'समाख्या' है। लोक-सिद्ध नामपद लौकिकी समाख्या, तथा वैदिक वाङ्मयसिद्ध नाम वैदिकी समाख्या कहे जाते हैं।

श्रुति आदि के स्वरूप-निर्देश के अनन्तर इनके पारस्परिक बलाबल का विचार प्रस्तुत है।

(अथ लिङ्गात् श्रुतेः प्राबल्याधिकरणम्)

पूर्व-निर्देशानुसार दो-दो के जोड़े को लेकर बलाबल का विचार प्रस्तुत है। पहला जोड़ा है—श्रुति और लिङ्ग। किसी पद या वाक्य के विनियोग के लिए जब श्रुति और लिङ्ग समान बल से परस्पर-विरोधी होकर उपस्थित हों तब कौन सबल और कौन अबल है, इसका विचारपूर्वक निर्णय करने के लिए आचार्यों ने उदाहरण-वाक्य सुझाया है—'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'—इन्द्र देवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करता है। यहाँ विचारणीय है—क्या इन्द्र देवता और गार्हपत्य अग्नि दोनों में से चाहे जिस एक का उपस्थान करना चाहिए? ऐसी अव्यवस्था है? अथवा केवल एक गार्हपत्य का उपस्थान हो, ऐसी व्यवस्था है? यदि श्रुति='गार्हपत्यम्' यह कर्मकारक द्वितीया विभक्ति का श्रवण, और लिङ्ग='ऐन्द्री' पद में इन्द्र देवता को कहने का सामर्थ्य, दोनों विनियोग-कारण समान बलवाले हैं, तो उक्त वचन में विकल्प मानना होगा; इन्द्र और गार्हपत्य दोनों में से किसी एक का उपस्थान करे। यदि श्रुति सबल है, तो केवल गार्हपत्य का उपस्थान होगा।

जिज्ञासु आशंका करता है—प्रथम आपने बताया, अर्थवाले परस्पर-साकांक्ष पदों का समूह वाक्य है। इसके अनुसार 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यह वाक्य है, तब यहाँ लिङ्ग और वाक्य का विरोध करना चाहिए, श्रुति और लिङ्ग का नहीं। यदि लिङ्ग सबल है, तो इन्द्र पद का विशिष्ट देवता के कथन में सामर्थ्य होने के कारण इन्द्र का उपस्थान होगा। यदि सबल होता है, तो गार्हपत्य का उपस्थान होगा। इसलिए उक्त वाक्य को लिङ्ग और वाक्य के परस्पर बलाबल की परीक्षा के लिए उदाहरण समझना चाहिए; श्रुति, लिङ्ग के बलाबल की परीक्षा के लिए नहीं।

आचार्य ने समाधान किया, यह कहना ठीक है कि 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' वाक्य है। परन्तु साथ ही यह श्रुति भी तो है। यहाँ कर्म कारक द्वितीया विभक्ति के साथ 'गार्हपत्य' श्रवण उसे तत्काल 'उपतिष्ठते' के साथ जोड़ता है। इसलिए श्रुति लिङ्ग से विरुद्ध होती है; वाक्य का लिङ्ग से कोई विरोध नहीं, क्योंकि लिङ्ग के बलवान् होने पर 'ऐन्द्र्या उपतिष्ठते' में वाक्यगत 'गार्हपत्य' पद इन्द्र को

कहने के कारण उसके साथ एकवाक्यता को प्राप्त होगा; तब लिङ्ग और वाक्य का विरोध कहाँ रहा ? विरोध तभी होगा, जब गार्हपत्य के साथ लिङ्ग की एकवाक्यता न हो। यह विरोध श्रुति और लिङ्ग के परस्पर-प्रतियोगी रूप में सामने आने पर सम्भव है। इसलिए उक्त उदाहरण श्रुति और लिङ्ग के बलाबल की परीक्षा के लिए उपयुक्त है।

उक्त वाक्य में 'गार्हपत्यम्' पद श्रवणमात्र से—अन्य किसी की आकांक्षा या अपेक्षा किए बिना ही—'उपतिष्ठते' के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होकर पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है। इसमें अर्थ का विप्रकर्ष नहीं है। तात्पर्य है—अर्थाभिव्यक्ति में कोई विलम्ब नहीं होता। परन्तु वाक्य में तृतीयान्त करण कारक 'ऐन्द्रया' पद ऐसा नहीं है। यह पद साक्षात् इन्द्र को न कहकर इन्द्र देवतावाली ऋचा का वाचक है। वह ऋचा को ढूँढता है। ऋचा है—'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र ! सश्चसि दाशुषे', ऋचागत 'इन्द्र' पद देवताविशेष का कथन करने में समर्थ होने से लिङ्ग है। 'ऐन्द्री' पद के अनुसार जब तक लिङ्ग उपस्थान के लिए तैयार होकर आगे आता है, उससे पहले ही श्रुति अपना कार्य कर चुकी होती है। तात्पर्य है—उपस्थान के लिए अर्थाभिव्यक्ति में विलम्ब के कारण लिङ्ग अबल और अर्थाभिव्यक्ति में विलम्ब न होने के कारण श्रुति सबल है। उपस्थान गार्हपत्य अग्नि का होता है, उस अवसर पर इन्द्र देवतावाली ऋचा का केवल उच्चारण क्रिया जाता है। ऋचा का उच्चारण करते हुए गार्हपत्य का उपस्थान किया जाता है; वह अङ्गी, और अन्य अङ्ग हैं।

(अथ वाक्यात् लिङ्गस्य प्राबल्याधिकरणम्)

प्रथम निर्देशानुसार उपयुक्त अर्थ के बोधक परस्पर-सापेक्ष सुबन्त-तिङन्त पदों के समूह का नाम वाक्य है। वाक्यगत वे पद श्रुतिरूप या लिङ्गरूप होते हैं। पहले जब वे पद अर्थ का बोध करा देंगे, उसके अनन्तर ही वाक्य अर्थबोध करा सकेगा। जैसे लिङ्ग ('कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र !' में इन्द्र पद) अर्थबोध कराने के लिए श्रुति ('ऐन्द्रया' पद) पर आधारित रहने से श्रुति की अपेक्षा दुर्बल होता है, ऐसे ही वाक्य अर्थबोध कराने में श्रुति और लिङ्ग पर आधारित रहता है, इसलिए लिङ्ग की अपेक्षा वाक्य दुर्बल होगा, क्योंकि लिङ्गपद की अपेक्षा वाक्य द्वारा अर्थबोध होने में विलम्ब हो जाता है। इसको स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने उदाहरण सुझाया—

स्योनं ते सदनं कृणोमि, घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्मिन् सीदाऽमृते प्रतितिष्ठ, व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः।

व्रीहि से तैयार किए गए पुरोडाश ! तेरा सुखद घर बनाता हूँ, उसे घृत की धारा से निवासयोग्य सुखकर निष्पन्न करता हूँ, निरुपद्रव उस स्थान में तू प्रतिष्ठा-

पूर्वक स्थिर होकर बैठ। इसमें सन्देह है, क्या सम्पूर्ण मन्त्र का विनियोग पुरोडाश-पात्र को घी से चुपड़ने और पुरोडाश को वहाँ रखने में करना चाहिए ? अथवा 'कल्पयामि'-पर्यन्त पुरोडाशपात्र के उपस्तरण (चुपड़ने) में, तथा शेष मन्त्र पुरोडाश को पुरोडाशपात्र में रखने के लिए करना चाहिए ? यदि वाक्य बलवान् है, तो दोनों कार्यों (पात्र के उपस्तरण और पुरोडाश) में पूरे मन्त्र का प्रयोग किया जाना चाहिए। क्योंकि मन्त्र के दोनों भागों के क्रियापद 'कल्पयामि' और 'सीद' एक पुरोडाश से सम्बन्ध रखते हैं; तेरे लिए घर बनाया, उसमें तू बैठ; इस प्रकार इनमें एकवाक्यता सम्पन्न होती है। यदि लिङ्ग बलवान् है, तो 'कल्पयामि'-पर्यन्त मन्त्रभाग का घर के बनाने में, तथा शेष भाग का पुरोडाश को रखने में विनियोग होगा। कारण यह है—'स्योनं ते सदनं कृणोमि' यह अंश घर बनाने को कहने में समर्थ है; तथा 'तस्मिन् सीद' यह अंश पुरोडाश को उस स्थान में रखने को कहने में समर्थ है। जिज्ञासा है, इन दोनों में से किसको स्वीकार किया जाय ? उक्त सन्दर्भ-प्रसंग में लिङ्ग और वाक्य दोनों समानबल प्रतीत होते हैं।

श्रुति के साम्मुख्य में लिङ्ग दुर्बल माना गया है। श्रुति लिङ्ग को बाधित कर देती है। जो एक की बराबरी में बाधित हो जाता है, उसकी दुर्बलता निश्चित रहती है। सम्भव है, वाक्य के साम्मुख्य में भी लिङ्ग दुर्बल होकर बाधित हो जाय। ऐसी स्थिति में आचार्य सूत्रकार ने बताया—लिङ्ग और वाक्य दोनों के साम्मुख्य में लिङ्ग सबल होता है, वाक्य दुर्बल। कारण है—अर्थ-विप्रकर्ष, वाक्य में अर्थ की दूरी होना। 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' मन्त्र दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित होने से दर्श-पूर्णमास का अङ्ग है। 'तेरे सदन को बनाता हूँ' अपने इस अर्थ-सामर्थ्यरूप लिङ्ग से पुरोडाशपात्र के उपस्तरण में विनियुक्त होकर सफल प्रयोजनवाला हो जाता है। इसीलिए पुरोडाश के स्थापन में विनियोग की योग्यता को खो बैठता है। कोई ऐसा अन्य आधार नहीं, जिसके अनुसार 'स्योनं ते' मन्त्र का विनियोग पुरोडाश की स्थापना में होने का संकेत मिले।

इसी प्रकार 'तस्मिन् सीद' मन्त्र दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित होने से दर्श-पूर्णमास का अङ्ग है। 'उस अनुकूल घर में प्रतिष्ठापूर्वक बैठ' इस अपने अर्थ-सामर्थ्यरूप लिङ्ग से मन्त्र का विनियोग पुरोडाश की स्थापना में निश्चित होता है। अन्य कोई ऐसा प्रमाण नहीं, जिसके आधार पर इस मन्त्र का विनियोग पुरोडाश के उपस्तरण में सोचा जा सके। 'स्योनं ते' मन्त्र के श्रवणमात्र से 'तेरा घर बनाता हूँ' यह स्पष्ट प्रत्यक्ष अर्थ उपस्थित होता है, जो उपस्तरण कर्म के कथन करने का सामर्थ्यरूप लिङ्ग श्रुत्यर्थ के निकट होने से मुख्य है, बलवान् है। इसके विपरीत 'तस्मिन् सीद' मन्त्र का उपस्तरण में विनियोग 'स्योनं ते' मन्त्र के साथ उसकी एकवाक्यता की कल्पना के अनन्तर आता है, अतः वह श्रुत्यर्थ से दूर पड़ जाता है। फलतः लिङ्ग और वाक्य के साम्मुख्य में लिङ्ग से वाक्य बाधित हो

जाता है, इसलिए लिङ्ग के अनुसार 'स्योनं ते' मन्त्रभाग पुरोडाश के उपस्तरण में और 'तस्मिन् सीद' मन्त्रभाग पुरोडाश के स्थापन में विनियुक्त होता है, यह निश्चित है।

यह कहना न्याय्य नहीं है कि श्रुति से बाधित लिङ्ग को वाक्य से भी बाधित माना जाय। यदि श्रुत्यर्थ से लिङ्ग अनुगृहीत होता है, और वाक्य दूर पड़ जाता है, तो वाक्य की बराबरी में लिङ्ग को बाधित कहना अप्रामाणिक होने से अनुचित है। श्रुत्यर्थ के सामीप्य से समर्थित लिङ्ग वाक्य से बलवान् होता है।

(अथ प्रकरणाद् वाक्यस्य प्राबल्याधिकरणम्)

प्रथम बताया गया, इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा करनेवाले कर्त्तव्य का कथन किया जाना प्रकरण का स्वरूप है। कोई कर्म किस प्रकार किया जाना चाहिए, यह बताना प्रकरण है। वाक्य और प्रकरण के विरोध में कैसे निर्णय होगा? यह बताना चाहिए। परस्पर-अपेक्षित सार्थक पदों का समूह वाक्य, तथा इस प्रकार के अनेक वाक्यों का समूह प्रकरण होता है। प्रकरण अपनी सार्थकता और सफल प्रयोजनवाला होने के लिए वाक्य की अपेक्षा रखता है, इसलिए वाक्य सदा प्रकरण से बलवान् रहेगा। इसके लिए सूक्तवाक[1] निगद उपयुक्त उदाहरण है।

---

१. सूक्तवाक निगद का पूरा पाठ इस प्रकार है—

"इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत्। अघर्म सूक्तवाकम्। उत नमोवाकम्। ऋष्या स्म सूक्तोच्यमग्ने। त्वं सूक्तवागसि। उपश्रितो दिवः पृथिव्योः। ओमन्वती तेऽस्मिन् यज्ञे यजमान द्यावापृथिवी स्ताम्। शङ्गये जीरदानू। अत्र स्तू अप्रवेदे। उरुगव्यूती अभय कृतौ। वृष्टि द्यावा रीत्यापा। शंभुवौ मयोभुवौ। ऊर्जस्वती पयस्वती च। सूपचरणा च स्वधिचरणा च। सयोराविदि। अग्निरिदं हविरजुषत। अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत। सोम इदं हविरजुषत। अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत। अग्निरिदं हविरजुषत। अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत। प्रजापतिरिदं हविरजुषत। अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत। अग्नीषोमाविदं हविरजुषताम्। अवीवृधेतां महो ज्यायोऽकाताम्। इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेताम्। अवीवृधेतां महो ज्यायोऽकाताम्। इन्द्र इदं हविरजुषत। अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत। महेन्द्र इदं हविरजुषत। अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत। देवा आज्यपा आज्यमजुषन्त। अवीवृधन्त महो ज्यायोऽकृत। अग्निर्होत्रेणेदं हविरजुषत। अवीवृधत महो ज्यायोऽकृत। अस्यामृधद्धोत्रायां देवंगमायाम्। आशास्तेऽयं यजमानोऽसौ। आयुराशास्ते। सुप्रजास्त्वमाशास्ते। सजातवनस्यामाशास्ते। उत्तरां देवयज्यामाशास्ते। भूयो हविष्करणमाशास्ते। दिव्यं धामाऽऽशास्ते। विश्वं प्रियमाशास्ते। यदनेन हविषाऽऽशास्ते।

इस मन्त्र में पूर्णमासी के दिन यजन किये अग्नीषोम और प्रजापति देवता, अमावास्या के दिन यजन किये गये इन्द्राग्नी, इन्द्र (अन्य पक्ष में—महेन्द्र) देवता स्मरण किये गये हैं।

वाक्य और प्रकरण में परस्पर बलाबल की परीक्षा के लिए उपयुक्त सूक्तवाक में दोनों समानबल प्रतीत होते हैं। क्योंकि वाक्य और प्रकरण दोनों में समानरूप से इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा होने पर किसी एक के बलाबल का निश्चय करने में कोई कारण दिखाई नहीं देता, इसलिए दोनों समानबल हैं, यही कहना होगा। फिर भी वाक्य को दुर्बल कहा जा सकता है, क्योंकि वह लिङ्ग से बाधित है। सूक्तवाक मन्त्र दर्शपूर्णमास याग के प्रसंग में पठित है। मन्त्र में जो दोनों यागों के देवताओं का कथन है, उसमें एकवाक्यता प्राप्त नहीं होती। वहाँ देवताकथन लिङ्ग से इन्द्राग्नी, इन्द्र को पौर्णमासी में प्रयोग से हटाकर अमावास्या में प्रयुक्त करना चाहिए। ऐसे ही अग्नीषोम, प्रजापति को अमावास्या में प्रयोग से हटाकर पूर्णमासी में प्रयुक्त करना चाहिए। इसमें सन्देह होता है—यदि प्रकरण बलवान् है, तो जो इस दर्शपूर्णमास में यजन किये गये देवता का स्तुतिरूप शेष वाक्य है—'अवीवृधेतां महोज्यायोऽक्ताताम्' आदि, क्या उसे जितनी बार सूक्तवाक में पढ़ा है, उतनी बार पौर्णमासी अमावास्या दोनों यागों में प्रयोग करना होगा? अथवा यदि वाक्य बलवान् है, तो इन्द्राग्नी शब्द का उत्कर्ष कर (उसे उखाड़कर) जहाँ ले-जाया गया है; तथा अग्नीषोम का उत्कर्ष कर जहाँ उसे ले-जाया गया है, वहाँ ही प्रयोग करना होगा? इस विषय में वाक्य और प्रकरण दोनों समानबल प्रतीत होते हैं। इसका निर्णय कैसे किया जाय?

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—इसका निर्णय अर्थविप्रकर्ष (अर्थ की दूरी) के आधार पर किया जाना चाहिए। जहाँ अर्थ की दूरी है, वह दुर्बल; जहाँ सामीप्य है, वह सबल होगा। सोचना चाहिए, यहाँ अर्थ की दूरी क्या है?

वाक्य में प्रत्येक पद अलग-अलग साकांक्ष रहता है। वाक्य के पूरे अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए वाक्यगत पद एक-दूसरे की आकांक्षा रखते हैं। समस्त पद मिलकर पूरा वाक्य अभिमत अर्थ को अभिव्यक्त करने में निराकांक्ष हो जाता है; अपने पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त कर कार्यानुष्ठान में प्रवृत्ति का प्रयोजक हो जाता है। प्रकरण में यह स्थिति नहीं रहती। प्रकरण अनेक वाक्यों का समुदाय होता है। दर्शपूर्णमास प्रकरण में सूक्तवाक मन्त्र पठित है—'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' वाक्य से याग का विधान है। उसे अपनी इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा रहती

तदश्र्यात् तदृध्यात्। तदस्मै देवा रासन्ताम्। तदाग्निर्देवो देवेभ्यो वनते। वयमग्नेर्मानुषाः। इष्टं च वीतं च। उभे च नो द्यावापृथिवी अंहसः स्याताम्। इह गतिर्वामस्येदं च। नमो देवेभ्यः। [तै० ब्रा०, ३।५।१०]

है। समीप में पठित सूक्तवाक है। तब वहाँ वाक्यान्तर से जाना जाता है—'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' सूक्तवाक मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्रस्तर को अग्नि में छोड़ता है। इस मन्त्र में पौर्णमासी देवतावाची और अमावास्या देवतावाची पदों का प्रयोग एक-दूसरे से पृथक् करके किया जाता है। उन देवताओं के शेषभूत पदों का भी पृथक् करके प्रयोग होता है। इस कारण यद्यपि प्रकरण-सामर्थ्य से पौर्णमासी के देवता-पदों के अङ्गभूत वचनों का अमावास्या के देवतावाची पदों के साथ एकवाक्यता की सम्भावना प्रकट की जा सकती है, तथापि पौर्णमासी के देवतावाची पदों के साथ उनकी एकवाक्यता प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष के साथ विरोध होने पर सम्भावना की उपेक्षा कर दी जाती है। स्वतन्त्र वाक्य की अपेक्षा प्रकरण से अर्थाभिव्यक्ति में विलम्ब होना ही अर्थ की दूरी है। इसलिए वाक्य और प्रकरण के परस्पर साम्मुख्य में वाक्य प्रबल और प्रकरण दुर्बल रह जाता है। लिङ्ग से बाधित होने पर वाक्य प्रकरण से भी बाधित होना चाहिए,—यह आवश्यक नहीं है।

(अथ स्थानात्=क्रमात् प्रकरणस्य प्राबल्याधिकरणम्)

कोई वचन किस 'स्थान' पर पढ़ा गया है, अथवा किस क्रम पर पढ़ा गया है, यह एक ही बात है। स्थान-विशेष या क्रमविशेष पर पढ़ा जाना 'वचन' की अपनी विशेषता है। सूत्र में 'स्थान' पद दिया है, पर स्पष्टता की भावना से यहाँ 'क्रम'-पद का प्रयोग किया जाएगा। प्रकरण और क्रम के साम्मुख्य में कौन सबल और कौन दुर्बल है? इसका विवेचन प्रस्तुत है।

इसको समझने के लिए उदाहरणरूप में आचार्यों ने राजसूय याग का उल्लेख किया है। राजसूय याग-प्रकरण के अन्तर्गत अभिषेचनीय के क्रम में शौनःशेप आख्यान आदि पठित हैं।[1] राजसूय का प्रकरण होने से वहाँ प्रधान कर्म राजसूय-याग है। प्रकरण और क्रम के साम्मुख्य में यदि प्रकरण बलवान् है, तो शौनःशेप आख्यान आदि राजसूय प्रकरणस्थित सब कर्मों के अङ्ग होंगे। यदि क्रम बलवान् है, तो अभिषेचनीय के क्रम में पठित होने से उसी (अभिषेचनीय) कर्म के अङ्ग होंगे। अर्थाभिव्यक्ति के ये दोनों कारण आपाततः समानबल प्रतीत होते हैं; क्योंकि कोई ऐसा विशेष हेतु उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर दोनों में से किसी एक को बलवान् सिद्ध किया जा सके। प्रत्युत यह कहा जा सकता है कि प्रकरण की अपेक्षा क्रम बलवान् है; क्योंकि अन्यत्र प्रकरण-वाक्य से बाधित

---

१. द्रष्टव्य—तै० ब्रा० १।७।१०।६॥ आदि पद देवन (द्यूतक्रीड़न) का ग्रहण करता है। उक्त ब्राह्मण के उसी प्रसंग में द्यूतक्रीड़ाविषयक आख्यान दिया गया है।

हुआ माना गया है। एक जगह बाधित को दुर्बल ही समझना चाहिए। सम्भव है, वह क्रम से भी बाधित हो जाय।

शिष्य-जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—अर्थविप्रकर्ष के कारण क्रम की अपेक्षा प्रकरण बलवान् होता है। क्रम में अर्थविप्रकर्ष = अर्थ की दूरी रहती है। अर्थ की दूरी यहाँ क्या है ? इसे समझना चाहिए। राजसूय-प्रकरण में राजसूय-याग प्रधान कर्म है। 'राजा राजसूयेन[1] स्वाराज्यकामो यजेत' वचन राजसूय का विधान करता है। वह किस प्रकार किया जाना चाहिए ? अपनी इस इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा रखता है। उस आकांक्षा को प्रकरणपठित परिपूर्ण अर्थवाले समस्त वाक्य पूरा करते हैं। इसलिए राजसूय-याग के साथ उनकी एकवाक्यता प्रत्यक्ष है, जो याग के प्रयोजन को पूरा करती है। उस प्रकरणगत वाक्यसमूह में एक अंश शौनःशेप उपाख्यान है और अभिषेचनीय संज्ञक सोमयाग कर्म भी। अनेक कर्मों का प्रकरण में पाठ किसी क्रम से होना ही सम्भव है। क्रम के अनुसार यदि शौनःशेप उपाख्यान अभिषेचनीय कर्म के समीप पढ़ा है, तो वह इनमें परस्पर-आकांक्षा का प्रयोजक नहीं है। ये दोनों कर्म राजसूय प्रधान कर्म की इतिकर्त्तव्यतारूप आकांक्षा को समानरूप से पूर्ण करने के कारण उसके अङ्गभूत हैं। प्रधान कर्म के साथ अङ्गभूत कर्म की एकवाक्यता प्रत्यक्ष सिद्ध है। अभिषेचनीय कर्म के प्रति शौनःशेप उपाख्यान कर्म की अङ्गता क्रम के आधार पर सम्भावनामूलक कही जा सकती है। प्रत्यक्ष-बोधित अर्थ के साम्मुख्य में सम्भावित अर्थ बाधित हो जाता है। फलतः प्रकरण की प्रतियोगिता में क्रम दुर्बल और प्रकरण बलवान् रहता है, भले ही प्रकरण वाक्य से बाधित होता हो।

(अथ समाख्यायाः क्रमस्य प्राबल्याधिकरणम्)

क्रम और समाख्या के परस्पर विरोध में इनके बलाबल की परीक्षा के लिए उदाहरणरूप में आचार्यों ने पौरोडाशिक काण्ड का उल्लेख किया है। कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय मैत्रायणी संहिताओं के दर्शपूर्णमास-प्रकरण का 'पौरोडाशिक काण्ड' नाम याज्ञिकों में प्रसिद्ध है। दर्श अमावास्या के दिन तथा पौर्णमास पूर्णमासी के दिन किया जाता है। दर्श में जिस हवि का प्रयोग होता है, उसका नाम 'सान्नाय्य' तथा पौर्णमास में प्रयुक्त होनेवाली हवि का नाम 'पुरोडाश' है। यद्यपि उस काण्ड में दोनों हवियों के मन्त्रों का व्याख्यान है, परन्तु पुरोडाश हवि के अधिक मन्त्र होने के कारण काण्ड का नाम 'पौरोडाशिक' व्यवहृत होता है।

जिस यजमान ने सोमयाग किया है, उसके लिए दर्श नामक इष्टि में इन्द्र-

---

१. द्रष्टव्य—मीमांसा-सूत्र २।३।३; अधिकरण २ का प्रारम्भ।

देवता के निमित्त दधि और दुग्धहवि का विधान है। इन दोनों हवियों का एक इन्द्र देवता होने से दोनों को मिलाकर आहुति दी जाती है। इसी को 'सान्नाय्य'-हवि कहते हैं। दूध और दधि के परस्पर सम्मिश्रण द्वारा उनका एकीकरण 'सान्नाय्य'[1] पद का वाच्यार्थ है। पौरोडाशिक काण्ड में सान्नाय्य हवि के क्रम में 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे'[2] मन्त्र पात्रशोधन में विनियोग के लिए पढ़ा गया है—हे आपः! दैव्यकर्म के लिए पात्रों का शोधन करो। शिष्य जिज्ञासा करता है—यहाँ सन्देह है—यदि समाख्या=नाम बलवान् है, तो काण्ड का 'पौरोडाशिक' नाम होने से इस मन्त्र का विनियोग पुरोडाश-पात्रों के शोधन में किया जाना चाहिए। यदि क्रम बलवान् है, तो सान्नाय्य हवि के क्रम में पठित होने से सान्नाय्य हवि-पात्रों के शोधन में मन्त्र का विनियोग होना चाहिए। इन दोनों में बलाबल का निर्णय होना अपेक्षित है। आपाततः ये समानबल प्रतीत होते हैं; क्योंकि इन दोनों में से किसी एक को बलवान् और दूसरे को दुर्बल बतानेवाला कोई विशेष कारण उपलब्ध नहीं है। फिर भी प्रकरण से बाधित होने के कारण क्रम को दुर्बल कहा जा सकता है। तब नाम (=समाख्या) कारण के आधार पर उक्त मन्त्र का विनियोग पुरोडाश-पात्रों के शोधन में किया जाना चाहिए,—यह प्राप्त होता है।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—क्रम और समाख्या के नाम्मुख्य में क्रम बलवान् होता है, तथा अगला समाख्या-कारण दुर्बल (—पार-दौर्बल्यम्), क्योंकि समाख्या में अर्थ की दूरी रहती है (अर्थविप्रकर्षात्)। समाख्या का अर्थविप्रकर्ष क्या है? वह इस प्रकार समझना चाहिए—'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' मन्त्र का पाठ सान्नाय्य हवि के क्रम में उपलब्ध है, इसलिए सान्नाय्य हवि के साथ उसका साक्षात् सम्बन्ध स्पष्ट है। समाख्या (=पौरोडाशिक नामक काण्ड) में पुरोडाश के साथ 'शुन्धध्वं दैव्याय' मन्त्र का सम्बन्ध नहीं कहा गया। 'पौरोडाशिक' इस समाख्या (काण्ड के नाम) में 'पुरोडाश' पद देखे जाने से अर्थापत्ति-प्रमाण के आधार पर 'शुन्धध्वं' मन्त्र का पुरोडाश के साथ सम्बन्ध जोड़े जाने की कल्पना की जाती है। इसलिए सान्नाय्य हवि के साथ मन्त्र का स्पष्ट सम्बन्ध बतानेवाले क्रम से समाख्या-कारण बाधित हो जाता है।

श्रुति आदि विनियोग के प्रयोजक कारणों में बलाबल की जाँच वहीं अपेक्षित होती है, जहाँ एक ही लक्ष्य में दो कारण परस्पर-विरोधी बनकर उपस्थित होते

---

१. पाणिनि सूत्र [३।१।१२९] 'पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या मानहविर्निवास-सामिधेनीषु' से 'सम्'-उपसर्गपूर्वक 'नी' धातु से 'ण्यत्' प्रत्यय लगाकर 'सान्नाय्य' पद हविविशेष अर्थ में निष्पन्न किया गया है।

२. तै० सं० १।१।३॥ मैत्रा० सं० १।१।३॥ शुक्ल यजुः १।१३॥

हैं। अविरोध अवस्था में अपने-अपने लक्ष्य में सभी कारण बलवान् हैं। अपने लक्ष्य में प्रत्येक कारण विनियोग का प्रयोजक होता है। इसी अनुसार अङ्गाङ्गि-भाव निर्धारित किया जाता है। जिसका विनियोग किया जाय वह अङ्ग, जहाँ विनियोग किया जाय वह अङ्गी होता है ॥१४॥ (इति श्रुत्यादीनां पूर्वपूर्वबली-यस्त्वाधिकरणम्—७)।

(द्वादशोपसत्ताया अहीनाङ्गताधिकरणम् —८)

तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में प्रतिज्ञात शेष लक्षण के उपपादन के अनन्तर श्रुति आदि विनियोजक प्रमाणों के बलाबल का निरूपण किया गया। कर्मों में कौन कर्म शेष=अङ्ग और कौन कर्म शेषी=अङ्गी है, इसका (=अङ्गाङ्गि-भाव का) निर्णय श्रुति आदि प्रमाणों के आधार पर होता है, जिसका उपयुक्त विवरण प्रस्तुत कर दिया गया। श्रुति आदि विनियोजक प्रमाणों के बलाबल विचार का कहाँ विरोध होता है, कहाँ नहीं, इसपर अब विवेचन किया जायगा, जो बलाबल-विचार के साथ सम्बद्ध है।

तैत्तिरीय संहिता [६।२।५] में ज्योतिष्टोम का प्रारम्भ करते हुए पाठ है—'तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य।' 'साह्न' पद एक दिन में सिद्ध होनेवाले ज्योतिष्टोम-याग के लिए प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि ज्योतिष्टोम पाँच दिन में सिद्ध होनेवाला कर्म है, पर एक दिन साध्य सोमयाग के कारण इसे 'साह्न' औपचारिक रूप में कहा है। ज्योतिष्टोम के तीन उपसद् होते हैं, अहीन के बारह। शिष्य ने जिज्ञासा की—इसमें सन्देह होता है, क्या बारह उपसद् का यह विधान ज्योतिष्टोम के लिए है, अथवा अहीन के लिए? प्रतीत होता है, यह बारह उपसद् का विधान ज्योतिष्टोम में है, क्योंकि यह विधान ज्योतिष्टोम का प्रारम्भ करके किया गया है। मुख्य ज्योतिष्टोम है, अहीन क्रतु का कथन यहाँ गौण है। शिष्य-जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अहीनो वा प्रकरणाद् गौणः ॥१५॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद संशय के अभाव का द्योतक है। तात्पर्य है—उक्त कथन में संशय का कोई अवकाश नहीं। [अहीनः] सन्दर्भ में 'अहीन'-पद ज्योति-ष्टोम का वाचक है; [प्रकरणात्] ज्योतिष्टोम का प्रकरण होने से, [गौणः] अहीन पद गौण है।

संहिता-सन्दर्भ में 'अहीन' पद गुणवृत्ति से ज्योतिष्टोम के लिए प्रयुक्त हुआ है। जो क्रतु दक्षिणा, क्रतु के अन्य अङ्गों तथा फल से हीन=रहित नहीं है, वह अहीन है। ज्योतिष्टोम ऐसा ही क्रतु है; उसके लिए उक्त पद का प्रयोग कर दिया गया है तथा यह प्रकरण भी ज्योतिष्टोम का है। 'द्वादश-अहीनस्य' वाक्य में

'अहीन' पद ज्योतिष्टोम का वाचक होने से यह आशंका उठाना भी व्यर्थ होगा कि वाक्य से प्रकरण बाधित हो जाता है। बाधा विरोध होने पर होती है; यहाँ तो वाक्य और प्रकरण दोनों ज्योतिष्टोम का निर्देश कर रहे हैं। इसलिए बारह उपसद् ज्योतिष्टोम में समझने चाहिएँ।

'उपसद्' नामक इष्टि हैं, जो सोमयाग में दीक्षित होने के अनन्तर सोमाभिषव से पूर्व अनुष्ठित की जाती हैं। किस क्रतु में कितनी उपसद् इष्टि हों? उनकी संख्या यहाँ बताई गई है। सोमयागों में इन इष्टियों का विधान है। 'अहीन' वे हैं जो दो दिन में सिद्ध होनेवाले क्रतु से लगाकर ग्यारह दिन तक में सिद्ध होते हैं। बारह दिन में साध्य सोमयाग की संज्ञा 'अहीन' और 'सत्र' दोनों हैं। इससे अधिक समय में साध्य सब सोमयाग 'सत्र' कहे जाते हैं।

बारह उपसद् ज्योतिष्टोम में हैं, इस पूर्वपक्ष का सूत्रकार ने समाधान किया—

असंयोगात्तु मुख्यस्य तस्मादपकृष्यते ॥१६॥

सूत्र में [तु] पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—संहिता-सन्दर्भ में 'अहीन' पद ज्योतिष्टोम का वाचक नहीं है। 'साह्न' पद से कहे गये [मुख्यस्य] मुख्य ज्योतिष्टोम का द्वादश उपसत्ता के साथ [असंयोगात्] सम्बन्ध न होने से [तस्मात्] उस साह्न ज्योतिष्टोम से द्वादश उपसद् का होना [अपकृष्यते] खींचा जाता है, हटाया जाता है। तात्पर्य है, बारह उपसद् इष्टियों का सम्बन्ध अहीन-संज्ञक क्रतुओं के साथ है; ज्योतिष्टोम के साथ नहीं।

संहिता-सन्दर्भ में बारह उपसद् नामक इष्टियों का सम्बन्ध अहीन-संज्ञक क्रतु के साथ साक्षात् निर्दिष्ट है। अहीन पद को गुणवृत्ति से नञ् समास के आधार पर ज्योतिष्टोम का वाचक समझना नितान्त अयुक्त है। गौण अर्थ की कल्पना वहीं की जाती है, जहाँ अभिधावृत्ति से उपयुक्त समञ्जस अर्थ की सम्भावना न हो। अहीन पद, दिनवाचक 'अहन्' शब्द से 'अह्नः खः क्रतौ' [व्याकरण महाभाष्य ४।२।४३] वार्त्तिक के अनुसार समूह अर्थ में क्रतु अभिधेय होने पर ख (=ईन) प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। इस प्रकार अभिधाशक्ति-बोध्य अर्थ इस पद का है—ऐसा क्रतु जो एकाधिक दिनों के समूह में सम्पन्न किया जाय। आचार्यों ने इसकी सीमा बताई, दो दिन से लगाकर ग्यारह दिन तक में सम्पन्न होनेवाले क्रतु 'अहीन' कहे जाते हैं। ऐसे क्रतुओं में बारह उपसद् इष्टियाँ अनुष्ठित होती हैं।

अहीन पद का गुणवृत्ति से ज्योतिष्टोम अर्थ समझना स्वर की दृष्टि से भी असंगत है। नञ् समास होने पर पाणिनि-नियम [६।२।२] के अनुसार यह पद आद्युदात्त होना चाहिए। परन्तु संहिताओं में यह मध्योदात्त उपलब्ध होता है,

जो गत पंक्तियों में बताई गई 'अहीन' पद की सिद्धि के अनुसार संगत है। फलतः ज्योतिष्टोम में उपसद् इष्टियाँ तीन ही होती हैं; बारह उपसद् इष्टियाँ अहीन ऋतु में। यह प्रकरण ज्योतिष्टोम का होने पर भी संहिता-वाक्य इसका स्पष्ट कथन करता है। यह तभी सम्भव है, जब साह्न-ज्योतिष्टोम और अहीन को भिन्न कर्म माना जाता है। ऐसी स्थिति में अहीन पद का प्रयोग ज्योतिष्टोम के लिए कहना सर्वथा अयुक्त है ॥१६॥ (इति द्वादशोपसत्ताया अहीनाङ्गताधिकरणम्—८)

(कुलायादौ प्रतिपदोत्कर्षाधिकरणम्—९)

'कुलाय'-संज्ञक यज्ञविशेष हैं, विभिन्न स्तर के अथवा विजातीय व्यक्ति सम्मिलितरूप से जिन यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं, वे यज्ञ = ऋतु 'कुलाय' नाम से व्यवहृत होते हैं। ज्योतिष्टोम-प्रकरण में पाठ है—" 'युवं हि स्थः स्वः पती', इति द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्", 'युवं हि स्थः स्वः पती' [ऋ० ९।१९।२॥ साम० १००१] इस ऋचा को दो यजमानों की प्रतिपद् करे। आगे पाठ है—" 'एते असृग्रमिन्दवः' इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः"—इस ऋचा को बहुत यजमानों की प्रतिपद् करे।

ज्योतिष्टोम के प्रातःसवन में गेय बहिष्पवमान स्तोत्र सदोमण्डप से बाहर 'चात्वाल' नामक स्थान में गाया जाता है। उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता तीन ऋत्विक् मिलकर इसका गान करते हैं। पापशोधन कर पवित्र करनेवाले इस स्तोत्र का गान सदोमण्डप से बाहर होने के कारण इसका 'बहिष्पवमान' नाम है। प्रत्येक स्तोत्र तीन ऋचाओं पर गाया जाता है। बहिष्पवमान स्तोत्र की पहली गेय ऋचा 'प्रतिपद्' कही जाती है। यद्यपि सामान्यरूप से ज्योतिष्टोम में बहिष्पवमान स्तोत्र की प्रतिपद् 'उतास्मै गायता नरः' ऋचा विहित है, परन्तु जहाँ दो यजमान मिलकर ऋतु-अनुष्ठान करें, वहाँ बहिष्पवमान स्तोत्र की प्रतिपद् 'युवं हि स्थः' ऋचा को करें। अहीन-संज्ञक सोमयाग में एक, दो या बहुत यजमानों के साथ मिलकर याग का विधान है।[1]

शिष्य जिज्ञासा करता है—उक्त प्रतिपद्-ऋचाओं के विषय में सन्देह है—क्या ये दोनों प्रतिपद् ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत हैं ? अथवा दो यजमानों द्वारा

---

१. 'एको द्वौ बहवो वाऽहीनैर्यजेरन्' कुतूहलवृत्ति ३।३।१५॥ कात्या० श्रौ० १२।१।४ की विद्याधर टीका की टिप्पणी। सत्रयागों में 'ये यजमानास्त एव ऋत्विजः' के अनुसार १७ यजमान न्यूनतम होते हैं; इस आधार पर न्यायमालाविस्तर में सायण ने बहुयजमानविषयक वचन को सत्र-सम्बन्धी कहा है। (यु० मी० पृ० ८३०)

साध्य 'कुलाय'-संज्ञक आदि कर्म में, एवं बहुत यजमानों द्वारा साध्य 'द्विरात्र' आदि कर्मों में इनका उत्कर्ष करना योग्य है? अर्थात् यहाँ से हटाकर उन प्रकरणों में इनको ले-जाना उपयुक्त है? प्रतीत होता है, ज्योतिष्टोम में ही इनका निवेश युक्त है, क्योंकि ये ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित हैं। इससे प्रकरण उपकृत होता है।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

द्वित्वबहुत्वयुक्तं वाऽचोदनात् तस्य ॥१७॥

गत सूत्र से यहाँ 'असंयोगात्, तस्मात्, अपकृष्यते' तीन पदों की अनुवृत्ति है। सूत्र का 'वा' पद समुच्चय अर्थ में है। सूत्रार्थ होगा—[द्वित्वबहुत्वयुक्तम्] द्वित्व और बहुत्व से युक्त प्रतिपद्-ऋचा [वा] भी [असंयोगात्] ज्योतिष्टोम से असम्बद्ध होने के कारण [तस्मात्—अपकृष्यते] उस ज्योतिष्टोम से हटाई जाती हैं, दूर ले-जाई जाती हैं, [तस्य, अचोदनात्] ऐसे ज्योतिष्टोम का विधान न होने से, जिसमें दो या उससे अधिक यजमान हों।

ज्योतिष्टोम में निर्धारित रूप से यजमान एक होता है। उक्त प्रतिपद्-ऋचा उन कर्मों में उपयोग के लिए कही गई हैं, जो कर्म दो यजमानों अथवा दो से अधिक बहुत यजमानों द्वारा मिलकर अनुष्ठित किये जाते हैं। इसलिए ज्योतिष्टोम प्रकरण में पढ़ी जाने पर भी इन प्रतिपद्-ऋचाओं का उपयोग ज्योतिष्टोम में सम्भव नहीं। तब इनके उचित उपयोग के लिए इन्हें यहाँ से हटाकर 'कुलाय'-संज्ञक आदि यागों में ले-जाना सार्थक है। वे कर्म विधानानुसार दो अथवा अधिक यजमानों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं ॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—दो या बहुत यजमानों का होना ज्योतिष्टोम में भी सम्भव है। ज्योतिष्टोम नित्यकर्म है। यजमान कभी रुग्ण आदि हो सकता है, तब अन्य एक या अधिक सहयोगी के द्वारा याग को निरन्तर चालू रखने पर एकाधिक यजमानों की कल्पना ज्योतिष्टोम में सम्भव होने से प्रतिपद्-ऋचाओं का ज्योतिष्टोम प्रकरण से अपकर्ष आवश्यक नहीं है।

सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् ॥१८॥

नित्यकर्म ज्योतिष्टोम के अवश्यकर्त्तव्य होने के कारण सामर्थ्यहीन यजमान के [अर्थकृतस्य] याग-सम्पादन प्रयोजनवश सहयोगी किये गये व्यक्ति के [पक्षेण] विकल्प से एक या दो अन्य यजमानों के द्वारा, ज्योतिष्टोम में दो या बहुत यजमानों की सम्भावना से तत्सम्बन्धी प्रतिपद्-ऋचा ज्योतिष्टोम में

निविष्ट रह सकती हैं; ऐसा यदि कहो, तो (वह युक्त नहीं; अगले सूत्र से सम्बद्ध है)।

दो या बहुत यजमान ज्योतिष्टोम में सम्भव होने से प्रतिपद्-ऋचाओं का निवेश ज्योतिष्टोम में माना जा सकता है। इससे प्रकरण बाधित न होगा। उत्कर्ष मानने पर प्रकरण बाधित होता है। निर्धारित एक यजमान किन्हीं रोगादि कारणों से अशक्त होने पर नित्यकर्म ज्योतिष्टोम को निरन्तर चालू रखने की भावना से सहयोगी यजमान को ग्रहण करेगा। तब ज्योतिष्टोम में यजमान के एकत्व को बाधकर दो या बहुत यजमानों से सम्बद्ध प्रतिपद्-ऋचाओं का निवेश ज्योतिष्टोम में बना रहेगा। फलतः उनका उत्कर्ष नहीं करना चाहिए ॥१८॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न प्रकृतेरेकसंयोगात् ॥१९॥

[न] गत सूत्र में कहा अर्थ युक्त नहीं है। तात्पर्य है, दो या बहुत यजमानों से सम्बद्ध प्रतिपद्-ऋचाओं का ज्योतिष्टोम से उत्कर्ष करना अपेक्षित नहीं, यह कथन अयुक्त है, [प्रकृतेः] प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम का [एकसंयोगात्] एक यजमान के साथ सम्बन्ध होने से। इसलिए जिस कर्म में दो या अधिक यजमान हों, उसका सन्निवेश ज्योतिष्टोम में सम्भव नहीं। अतः प्रतिपद्-ऋचाओं का यहाँ से उत्कर्ष आवश्यक है।

ज्योतिष्टोम के विधिवाक्य 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' में एकवचन के प्रयोग से ज्योतिष्टोम-यजनकर्त्ता यजमान एक ही श्रुत है। सूत्रकार ने सूत्र में 'प्रकृतेः' पद का प्रयोग इसी भाव को अभिव्यक्त करने के लिए किया है कि ज्योतिष्टोम अथवा अग्निष्टोम अन्य समस्त सोमयागों का प्रकृतिभूत याग है, यह जाना जा सके। प्रकृतियाग में अनुष्ठेय सब धर्मों व अङ्गों का यथावत् निर्देश होता है। उसी के अनुसार कर्मानुष्ठान किया जाता है; किसी बाह्य अतिदेश आदि से उसे बाधा नहीं जा सकता। विकृतियागों में ऐसा नहीं होता। वहाँ 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' नियम के अनुसार किन्हीं अङ्गों की बाधा सम्भव है। इसका उपयुक्त विवेचन शास्त्र के अन्तिम अध्याय में किया गया है। ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग कर्त्ता यजमान का एकत्व प्रत्यक्ष श्रुत है, उसका बाध सम्भव नहीं। इसलिए दो या बहुत यजमानों से सम्बद्ध प्रतिपद्-ऋचाओं का ज्योतिष्टोम से उत्कर्ष किया जाना सर्वथा न्याय्य है।

यजमान के असमर्थ होने पर नित्यकर्म को चालू रखने की अनिवार्यता के कारण उसके प्रतिनिधिरूप में अन्य व्यक्ति के सहयोग से ज्योतिष्टोम में दो यजमानों की कल्पना, अथवा पत्नी-साहचर्य्य से दो या बहुत यजमानों की कल्पना

नितान्त अशास्त्रीय है। सहयोगी व्यक्ति भृति (पारिश्रमिक शुल्क=धन-प्राप्ति) के प्रयोजन से अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है, यजमान-रूप में उसका वरण नहीं किया जाता। पत्नी भी पति की सहचारिणी के रूप में उपस्थित होती है, स्वयं यजमान के रूप में नहीं। ज्योतिष्टोम में दो या बहुत यजमानों का होना असम्भव होने से—दो या बहुत यजमानों से सम्बद्ध प्रतिपद्-ऋचाओं का ज्योतिष्टोम से उत्कर्ष कर 'कुलाय'-संज्ञक कर्म में उनका उपयोग किया जाना शास्त्रानुकूल है ॥१९॥ (इति कुलायादौ प्रतिपदोरुत्कर्षाधिकरणम्—९)।

(जाघन्याः प्रकरणादनुत्कर्षाधिकरणम्—१०)

शिष्य जिज्ञासा करता है—दर्श-पूर्णमास में पत्नीसंयाज कर्म का निर्देश है—'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति' [आप० श्रौ० ३।८।१०] पूँछ से 'पत्नीसंयाज' नामक कर्म करते हैं। प्रस्तुत श्रौतसूत्र के अतिरिक्त समस्त अन्य याजुष वाङ्मय में पत्नीसंयाज-कर्म के होमद्रव्य के रूप में 'जाघनी' का उल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं है। इस कर्म में हविद्रव्य आज्य बताया गया है।[1] ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत पशुयाग प्रकरण में 'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति' वचन का उल्लेख अवश्य मिलता है।

जघन कटिप्रदेश का नाम है; भाषा में जाँघ बोलते हैं। उसका एक भाग—कोई एक अंश—'जाघनी' है। व्याख्याकारों ने जाघनी का अर्थ पूँछ किया है। पर 'जघन' पद का अर्थ कोष में मादा के कटिप्रदेश का अगला भाग है, जो घोंटू के ऊपर मांसल अंश हैं। पूँछ से उसका कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

दर्श-पूर्णमास के अन्तर्गत 'पत्नीसंयाज' कर्म है, जिसमें चार देवताओं के लिए आज्य हवि की चार आहुतियाँ दी जाती हैं। वहाँ वाक्य है—'सोमं यजति, त्वष्टारं यजति, देवानां पत्नीर्यजति, अग्निं गृहपतिं यजति' इस वाक्य से—सोम, त्वष्टा, देवपत्नियाँ और अग्निगृहपति—चार देवता विहित हैं। इन सबका 'पत्नीः संयाजयन्ति' वचन में केवल 'पत्नी' पद से निर्देश किया गया है। यह मीमांसा (१।४।२८) में वर्णित प्राणभृन्न्याय के अनुसार अथवा लोकप्रसिद्ध छत्रिन्याय के अनुसार समझना चाहिए।

प्रस्तुत अधिकरण में दर्श-पूर्णमास के अन्तर्गत पत्नीसंयाज-कर्म के लिए आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के 'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति' वचन के अनुसार 'जाघनी' हवि को लक्ष्य कर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यहाँ सन्देह है, यह विधान दर्श-

---

१. द्रष्टव्य—भादृदीपिका, यही अधिकरण—'आज्येन पत्नीः संयाजयन्ति।' शत० ब्रा० [१।९।२।७] में पत्नीसंयाज के लिए आज्य हवि की प्रशंसा की गई है।

पूर्णमास में माना जाय ? अथवा पशुयाग में इसका उत्कर्ष माना जाय ? यदि जाघनी हवि को उद्देश्य कर पत्नीसंयाजों का विधान किया जाता है, तो इसका पशुयाग में उत्कर्ष होगा ; यदि पत्नीसंयाजों के लिए जाघनी हवि का विधान किया जाता है, तब यह दर्शपूर्णमास में ही होगा। प्रतीत होता है, पशुयाग में इसका उत्कर्ष होना चाहिए, क्योंकि जाघनी पशु का अवयव है। दर्श-पूर्णमास श्रौतकर्म हैं, इनमें पशुयाग-सम्बन्धी कोई कर्म विहित नहीं है।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-सुझाव को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

जाघनी चैकदेशत्वात् ॥२०॥

[जाघनी] दर्श-पूर्णमास में पठित जाघनी हवि [च] भी यहाँ से हटाकर पशुयाग में ले-जाई जाय, [एकदेशत्वात्] पशु का एकदेश—एक अवयव होने से।

दर्श-पूर्णमास से जाघनी का उत्कर्ष किया जाना चाहिए। पशुयाग में जाघनी के उत्कर्ष से दर्श-पूर्णमासपठित पत्नीसंयाज-कर्म में जाघनी के बिना कोई वैगुण्य नहीं आयेगा। यह कर्म आज्य हवि से सम्पादित हो जायगा। जाघनी का भी—सवनीय पशुयाग में आहुत किये जाने से—उचित उपयोग हो जाता है। इस प्रकार पशुयाग में जाघनी प्रयोजनवाली है ; दर्श-पूर्णमास में उसका कोई प्रयोजन नहीं है। पशु के एकदेश रूप से कही गई जाघनी दर्श-पूर्णमास में पशु को प्रयोजित नहीं कर सकती। अन्यथा पशु को वहाँ लाकर उसका वह अङ्ग काटना पड़ेगा, जो नितान्त अशास्त्रीय है। इसलिए वहाँ से जाघनी का उत्कर्ष होना ही चाहिए ॥२०॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—

चोदना वाऽपूर्वत्वात् ॥२१॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य है, दर्श-पूर्णमास से जाघनी का उत्कर्ष नहीं होता। [चोदना] दर्शपूर्णमास में जाघनी का विधान है, [अपूर्वत्वात्] अपूर्व होने से।

दर्श-पूर्णमास में जाघनी का निर्देश पत्नीसंयाजों के लिए हवि द्रव्य का विधान करता है, अपूर्व होने से। तात्पर्य है, पत्नीसंयाजों का जाघनी हविद्रव्य कहीं अन्यत्र से प्राप्त नहीं है। 'पत्नीः संयाजयन्ति' से सोम, त्वष्टा, देवपत्नियाँ, अग्नि-गृहपति देवता-सहित याग का विधान प्राप्त है। उसी के हविद्रव्य रूप में अन्यत्र से अप्राप्त—जाघनी का दर्शपूर्णमास में विशेष विधान है। इसलिए दर्शपूर्णमास से जाघनी का उत्कर्ष नहीं किया जाना चाहिए।

यह कहना ठीक न होगा किजाघनी का विधान वाक्य से और याग का विधान

श्रुति से होता है, तथा श्रुति के साम्मुख्य में वाक्य दुर्बल होगा। तब जाघनी का उत्कर्ष माना जाय। क्योंकि जाघनी को वाक्यबोधित मानने पर वाक्यभेद आपन्न होगा; वाक्यानुसार अर्थ किया जायगा—'जाघनीमुद्दिश्य यागो विधीयते' एक वाक्य, 'पत्न्यश्च विधीयन्ते' दूसरा वाक्य। इसलिए वहाँ (दर्श-पूर्णमास में) केवल जाघनी हविद्रव्य का विधान मानना चाहिए। पत्नीसंयाजों का हवि के उपयोग के लिए निर्देश है, मुख्य विधान नहीं है। अतः जाघनी का उत्कर्ष दर्शपूर्णमास से किया जाना अमान्य है।।२१।।

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—जाघनी पशु का एकदेश है; उसका उपयोग पशुयाग में सम्भव है, अन्यत्र (दर्श-पूर्णमास में) नहीं। अतः उत्कर्ष आवश्यक है।

इस जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

एकदेश इति चेत् ॥२२॥

[एकदेशः] जाघनी हविद्रव्य पशु का एकदेश = अवयव है, अतः जहाँ याग में पशु उपस्थित होगा, वहाँ उसका उत्कर्ष होना चाहिए, [इति चेत्] ऐसा यदि मानो तो—(अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

जाघनी हवि पशु का अवयव होने से पशुयाग में उसका उत्कर्ष करना होगा। दर्शपूर्णमास में पशु उपस्थित नहीं होता, अतः उत्कर्ष आवश्यक है॥२२॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ॥२३॥

[न] गत सूत्र का कथन युक्त नहीं है। [प्रकृतेः] प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास के सम्बन्ध में [अशास्त्रनिष्पत्तेः] जाघनीविषयक स्पष्ट निर्देश, अमुक पशु का ऐसा अवयव हो—इस प्रकार का शास्त्रसिद्ध कथन—न होने से उत्कर्ष नहीं होगा।

सूत्रकार का आशय है—यदि शास्त्र में स्पष्ट रूप से यह बताया होता कि अमुक पशु का अमुक अवयव 'जाघनी' पद से ग्राह्य है, तो उसका उत्कर्ष पशुयाग में सम्भव था, क्योंकि वहाँ पशु का उपस्थित होना शास्त्रानुकूल होता। पर ऐसा निर्देश न होने के कारण 'जाघनी' साधारण कथन होने से वह अवयव स्वयं मरे अथवा कसाई आदि द्वारा मारे गये पशु का क्रय आदि करके कहीं से भी ग्रहण किया जा सकता है। मध्यकालिक टीकाकारों के अनुसार फिर भी वह अवयव यज्ञिय पशु अथवा भक्ष्य पशु का ही होना चाहिए। ऐसी स्थिति में 'जाघनी' का उत्कर्ष अनावश्यक है॥२३॥

इस अधिकरण के विषय में पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने अनेक उपपत्ति दर्शाते हुए लिखा है कि प्रस्तुत अधिकरण में कथित सिद्धान्त एकदेशी मत है। जैमिनि सूत्रकार एवं अन्य प्राचीन आचार्यों का यह मान्य सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि

जाघनी का दर्श-पूर्णमास में उल्लेख केवल आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में उपलब्ध है, अन्यत्र समस्त वैदिक वाङ्मय में कहीं नहीं। इसके अतिरिक्त दर्श-पूर्णमास के अन्तर्गत पत्नीसंयाज-कर्म का हविद्रव्य सर्वत्र 'आज्य' बताया गया है। दर्श-पूर्णमास आदि श्रौत यागों में आमिष का सम्पर्क कहीं नहीं बताया गया। अतः दर्शपूर्णमास में 'जाघनी' की घुसपैठ सर्वथा अवैदिक है। प्रस्तुत अधिकरण में यह विवेचन केवल आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के आधार पर है। अधिक जानकारी के लिए मीमांसक महोदय का ग्रन्थ देखें।

पं० आर्यमुनि ने इस अधिकरण की व्याख्या में अधिकरण का पर्यवसान अनुत्कर्ष में न मानकर उत्कर्ष में माना है। अधिकरण में यहाँ चार सूत्र हैं। पहले सूत्र द्वारा 'जाघनी' के उत्कर्ष का उपपादन किया गया है। शबरस्वामी ने उसे पूर्वपक्ष कहा है। इसके विपरीत आर्यमुनि ने उसे सिद्धान्त-पक्ष माना है। अगले दो सूत्रों को एकसूत्र मानकर पूर्वपक्षरूप में उसकी व्याख्या निम्न प्रकार से की है—

"चोदना वाऽपूर्वत्वादेकदेश इति चेत्।

'वा' शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिए आया है [चोदना] उक्त वाक्य में 'पत्नीसंयाज' के अङ्गरूप से 'जाघनी' का विधान है क्योंकि [अपूर्वत्वात्] ऐसा होने से अपूर्व अर्थ का लाभ होता है और [एकदेशः] पशु की हिंसा करने से उसके अवयव 'जाघनी' की प्राप्ति हो सकती है [चेत्] यदि [इति] ऐसा कहो तो (ठीक नहीं—इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है)।

भाष्य—उक्त वाक्य में 'जाघनी' द्वारा प्रदेय पशु के 'पत्नीसंयाज' नामक संस्कार का विधान अभिप्रेत नहीं, किन्तु उक्त संस्कारकर्म के लिए साधनरूप से 'जाघनी' का विधान अभिप्रेत है अर्थात् 'पत्नीसंयाज' नामक संस्कारकर्म प्रथम प्राप्त होने पर भी उसका साधन 'जाघनी' प्रथम प्राप्त नहीं है, उसी का साधनरूप से विधान उक्त वाक्य से विवक्षित है, क्योंकि प्रथम प्राप्त न होने के कारण वह अपूर्व है और अर्थ का विधान सर्वसम्मत है; और यद्यपि प्रकृत 'दर्श-पूर्णमास' याग में प्रदेय पशु नहीं है तथापि उसका अवयव जाघनी दुष्प्राप नहीं है—वह पशुहिंसा द्वारा मनुष्यमात्र को प्राप्त हो सकती है, और शास्त्रविहित कर्म की सिद्धि के लिए 'हिंसा' का करना कोई दोष नहीं है; इसलिए पशुयाग में जाघनी का उत्कर्ष युक्त नहीं, किन्तु प्रकृतयाग में निवेश ही युक्त है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—

न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ॥

पदार्थ—[न] उक्त कथन ठीक नहीं क्योंकि [प्रकृतेः] प्रकृतयाग में जाघनी

का निवेश मानने में [अशास्त्रनिष्पत्तेः] सर्वशास्त्र-प्रतिषिद्ध हिंसा करनी पड़ती है।

भाष्य—यदि उक्त वाक्य में 'जाघनी' का साधनरूप से विधान मानें तो उसके सम्पादनार्थ पशु की हिंसा करनी पड़ती है और यह सर्वशास्त्रनिषिद्ध होने के कारण त्याज्य है, उपादेय नहीं, और अन्य कोई उपाय उसकी प्राप्ति का नहीं है; उपाय के न होने से जिसका प्राप्त होना असम्भव है उसका साधनरूप से विधान शास्त्र कदापि नहीं कर सकता, इसलिए जाघनी का प्रकृतयाग से पशुयाग में उत्कर्ष ही उचित है, प्रकृत याग में निवेश उचित नहीं।"

प्रस्तुत अधिकरण के विषय में हमारा विचार है—यह रचना महर्षि जैमिनि की नहीं है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र की रचना के अनन्तर तथा भाष्यकार शबर-स्वामी के काल से पहले आमिषलोलुप याज्ञिकों ने इस अधिकरण का यहाँ प्रक्षेप किया है।

उत्कर्ष के क्रम में अनुत्कर्ष का कथन उत्प्रकरण प्रतीत होता है। इस व्यति-क्रम को देखकर पं० आर्यमुनि ने अधिकरण की योजना उत्कर्ष में की है। पर कहा जा सकता है, उत्कर्ष का प्रकरण पूरा कर एक स्थल अनुत्कर्ष का अपवाद-रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो अपेक्षित था; इसमें व्यतिक्रम-दोष बताने का कोई अवसर नहीं है।

'जाघनी' पद के 'पूंछ' अर्थ का सामञ्जस्य किसी व्याख्याकार ने स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया। 'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति' वाक्य पत्नीसंयाज-कर्म के प्रति साधनरूप में जाघनी को प्रस्तुत करता है। जाघनी की साधनता क्या है? यह कहीं स्पष्ट किया गया ज्ञात नहीं हुआ। इसको पत्नीसंयाज-कर्म का हविद्रव्य बताया गया। तो क्या पूंछ को काटकर उसकी आहुतियाँ दी जाती हैं? तो यह खोटा निरर्थक कूड़ाकरकट देवताओं के लिए, और कटिभाग की मांस-पेशियाँ—जो 'जाघनी' पद का वास्तविक अर्थ होना चाहिए, वह—खरा माल यारों का; क्या इसका यही तात्पर्य न होगा? यह तात्कालिक याज्ञिकों की मांसलोलुपता का नंगा रूप है। यदि पूंछ को पकड़कर पशु का अन्य कोई संस्कार किया जाता है, तो इस प्रसंग के विवरणों में उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है, उस दशा में इसको हविद्रव्य बनाना भी निरर्थक होगा।

शबर स्वामी से लगाकर आगे के सभी व्याख्याकारों ने इस अधिकरण के विषय में जो विचार प्रस्तुत किये हैं, उनसे दर्श-पूर्णमास में 'जाघनी' की उप-योगिता का कोई पता नहीं लगता। दर्श-पूर्णमास पवित्र श्रौत कर्म हैं। अन्य प्रधान यागों के अन्तर्गत पशुयाग के रूप में पशु का सम्पर्क—वह चाहे जिस भावना से रहा हो—जाना जाता है। श्रौत कर्म पशु-सम्पर्क से रहित हैं। वे भी उससे अछूते न रहें; सम्भवतः इसी कारण दर्श-पूर्णमास में जाघनी का निवेश कर अपनी

रसनालोलुपता को बहलाने के लिए मार्ग निष्कण्टक बना लिया। इससे प्रस्तुत अधिकरण का प्रक्षिप्त किया जाना स्पष्ट होता है। इस विषय में अन्य स्वारस्यपूर्ण सुझाव है—यदि 'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति' वाक्य में 'जाघन्या' पद के आगे 'उपविश्य' पद का अध्याहार कर लिया जाता है, तो इस सम्बन्ध की सब समस्याएँ तिरोहित हो जाती हैं, और अपेक्षित प्रस्तुत विषय स्पष्ट होकर सामने आ जाता है।

'जाघनी' पद प्रस्तुत प्रसंग में बैठने की विशेष रीति का निर्देश करता है। यह पशु की पूँछ का अन्य कोई अवयव न होकर पत्नीसंयाज-अनुष्ठाता व्यक्ति की 'आसिका' (बैठने की रीति) मात्र है। दोनों पैर पीछे को और घोंटू आगे को कर जाँघों के आधार पर बैठना 'जाघनी' है। ऐसे बैठने को लोक में 'उष्ट्रासिका' कहा जाता है—ऊँट की तरह बैठना। बहती भाषा में इसे 'उकड़ियों बैठना' भी कहते हैं। पत्नीसंयाज-कर्म में—इस प्रकार बैठकर—आहुतियाँ दी जानी चाहिएँ, यह उक्त वाक्य (जाघन्या पत्नीः संयाजयति) में अपूर्व अर्थ का विधान है। हविद्रव्य का कोई निर्देश नहीं है। पत्नीसंयाज-कर्म में हविद्रव्य आज्य निर्धारित है, उसकी न यहाँ आकांक्षा है, न आवश्यकता। रसनालोलुप याज्ञिकों ने 'जाघनी' पद का पशु-अवयव अर्थ कर उसे हविद्रव्य के रूप में उभारने का प्रयास किया है।

इस सुझाव की छाया में सूत्रार्थ निम्न प्रकार समझना चाहिए। शिष्य जिज्ञासा करता है—'जाघन्या पत्नीः संयाजयति' वाक्य में 'जाघनी' क्या है? दर्श-पूर्णमास में पठित होने से क्या उसका निवेश यहीं अभीष्ट है? अथवा अन्यत्र उत्कर्ष अपेक्षित है?

सूत्रकार ने बताया—

जाघनी चैकदेशत्वात् ॥

[जाघनी] जंघाओं के आधार पर बैठना 'जाघनी' है, [च] निश्चयपूर्वक [एकदेशत्वात्] इसी एकदेश में इसका विधान होने से।

जाघनी आसन से बैठकर आहुति देना केवल पत्नीसंयाज-कर्म के अवसर पर है, अन्यत्र नहीं। अतः इसका अन्यत्र उत्कर्ष अनपेक्षित है।

सूत्रकार ने इसी अर्थ की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

चोदना वाऽपूर्वत्वात् ॥

[वा] 'वा' पद पूर्व सूत्रोक्त अर्थ की दृढ़ता का द्योतक है। तात्पर्य है, दर्श-पूर्णमास से जाघनी का उत्कर्ष नहीं होता। [चोदना] दर्श-पूर्णमास में पत्नी-संयाज-प्रसंग से जाघनी का विधान है, [अपूर्वत्वात्] अपूर्व होने से।

दर्श-पूर्णमास में जाघनी का निर्देश—पत्नीसंयाज-कर्म में आज्याहुति के अवसर पर—आसनविशेष से बैठने का अपूर्व विधान है। यह अन्यत्र कहीं से प्राप्त नहीं है। अतः दर्श-पूर्णमास से जाघनी का अन्यत्र उत्कर्ष सर्वथा अनपेक्षित है। वाक्यभेद आदि की आपत्ति उसी दशा में सम्भव है, जब जाघनी को हविद्रव्य माना जाता है, जिसका यहाँ बलात् प्रवेश करने का प्रयास किया जाता रहा है। अतः दर्श-पूर्णमास से जाघनी का उत्कर्ष नितान्त अमान्य है॥

शिष्य पुनः आशंका करता है—व्याख्याकार प्रायः 'जाघनी' पद का अर्थ—पशु की पूँछ अथवा उसके समीप का पशु-अङ्ग—करते हैं। उसके अनुसार जाघनी का उत्कर्ष पशुयाग में होना उचित क्यों न माना जाय ?

सूत्रकार ने शिष्य-आशंका को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

एकदेश इति चेत् ॥

[एकदेशः] जाघनी=पशु का एकदेश हविद्रव्य रूप है, उसका उत्कर्ष पशु-याग में होना चाहिए, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो—(अगले सूत्र से सम्बन्ध है)। शेष अर्थ पूर्ववत् है।

आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ॥

[न] गत सूत्र का कथन युक्त नहीं है। [प्रकृतेः] प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास के सम्बन्ध में [अ-शास्त्रनिष्पत्तेः] जाघनी-विषयक स्पष्ट निर्देश—अमुक पशु का ऐसा अवयव हो, इस प्रकार का शास्त्रसिद्ध कथन—न होने से जाघनी पशु-अवयव है, यह सर्वथा असंगत है।

सूत्रकार का आशय है—यदि शास्त्र में स्पष्ट रूप से यह कहीं बताया होता कि अमुक पशु का अमुक अवयव 'जाघनी' पद से ग्राह्य है, तो उसका उत्कर्ष पशुयाग में सम्भव होता; क्योंकि वहाँ पशु का उपस्थित होना शास्त्रानुकूल माना जाता। पर ऐसा निर्देश न होने से 'जाघनी' साधारण कथन होने के कारण न वह पशु-अवयव है, न हविद्रव्य। वह केवल पत्नीसंयाज-कर्म में आहुति देने के अवसर पर विशेष आसनमात्र है। ऐसी दशा में दर्श-पूर्णमास से जाघनी के उत्कर्ष का प्रश्न नहीं उठता ॥२३॥ (इति जाघन्याः प्रकरणादनुत्कर्षाधिकरणम्—१०)।

(संतर्दनस्योक्थ्यादिसंस्थानिवेशाधिकरणम्—११)

ज्योतिष्टोम-प्रसंग में अधिषवण-फलक-विषयक निर्देश है—'अथो खलु दीर्घसोमे सन्तृद्ये धृत्यै' [तै० सं० ६।२।११]—दीर्घसोमयाग में धृति=धारण के लिए अर्थात् उनका विच्छेद न होने देने के लिए अधिषवण-फलकों का सन्तर्दन

करे, अन्तर्निविष्ट कील आदि से उन्हें परस्पर जोड़ दे। गूलर के फट्टों = तख्तों को जोड़कर जो पटड़ा सोम कूटने के लिए बनाया जाता है, उसका नाम 'अधिषवण फलक' है। दीर्घ सोमयाग में ग्रावा—पत्थर के लोढ़े—से सोम के कूटते समय फलक एक दूसरे से अलग न हो जायँ, इस प्रयोजन से उनका 'सन्तर्दन' किया जाता है। सन्तर्दन ऐसा जोड़ है, जो फलकों की मोटाई की ओर दोनों फलकों में कीलें फँसाकर उन्हें जोड़ दिया जाता है। यह जोड़ इतना दृढ़ और सटा हुआ रहता है कि दो फलकों की सन्धि स्पष्ट दिखाई नहीं देती।

शिष्य जिज्ञासा करता है—यहाँ सन्देह है, क्या यह सन्तर्दनकर्म ज्योतिष्टोम का ही अङ्ग माना जाय? अथवा सोमयाग की उक्थ्य आदि अन्य संस्थाओं में इसका उत्कर्ष माना जाय? प्रतीत होता है, ज्योतिष्टोम में साक्षात् निर्देश होने से केवल ज्योतिष्टोम संस्था का अङ्ग इसे माना जाय; अन्य संस्थाओं में उत्कर्ष न किया जाय। इससे प्रकरण उपकृत होगा, और सन्तर्दन का प्रयोजन पूरा हो जायगा।

शिष्य-सुझाव को सूत्रकार आचार्य ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

सन्तर्दनं प्रकृतौ क्रयणवदनर्थलोपात् स्यात् ॥२४॥

[सन्तर्दनम्] दोनों फलकों का जोड़ना [प्रकृतौ] प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम याग में [स्यात्] होना चाहिए। [क्रयणवत्] गो-हिरण्य आदि से सोम का क्रय किये जाने के समान, [अनर्थलोपात्] सन्तर्दन के धारणरूप अर्थ = प्रयोजन के लोप न होने से। तात्पर्य है, दीर्घसोम में विहित सन्तर्दन का ज्योतिष्टोम प्रकरण से उत्कर्ष न होगा।

मूलवाक्य में 'दीर्घसोम' पद के अवयव 'दीर्घ' का सामञ्जस्य ज्योतिष्टोम के साथ भी सम्भव है। यद्यपि ज्योतिष्टोम सोमयाग की अन्यतम संस्था होने से 'दीर्घ' पद का सामञ्जस्य ज्योतिष्टोम की अपेक्षा सोमयाग के साथ ही अधिक उपयुक्त है, तथापि इष्टियों की अपेक्षा ज्योतिष्टोम के दीर्घकाल-साध्य होने से इसे भी दीर्घ कहा जा सकता है। इसलिए मूल (दीर्घसोमे सन्तृन्दे धृत्यै) वाक्यार्थ का ज्योतिष्टोम में सामञ्जस्य होने से उक्थ्य आदि अन्य संस्थाओं में सन्तर्दन का उत्कर्ष अनावश्यक है ॥२४॥

सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—

उत्कर्षो वा ग्रहणाद् विशेषस्य ॥२५॥

[वा] 'वा' पद गत सूत्रोक्त पद की व्यावृत्ति के लिए है। [उत्कर्षः] दीर्घ सोमयाग में कहे गए अधिषवण-फलक-विषयक सन्तर्दन का उत्कर्ष—सोमयाग की उक्थ्य आदि अन्य संस्थाओं में—किया जाना आवश्यक है [विशेषस्य ग्रहणात्]

सोमयाग के 'दीर्घ' रूप विशेष का निर्देश होने से।

'दीर्घसोमे सन्तृद्ये' वाक्य में सोम के साथ 'दीर्घ' पद का प्रयोग, ज्योतिष्टोम की अपेक्षा सोमयाग के अधिक लम्बे समय तक में सम्पन्न होने की स्थिति को स्पष्ट करता है। 'दीर्घ' विशेषण का साफल्य या सामञ्जस्य उसी अवस्था में सम्भव है, जब दीर्घकाल-साध्य सोमयाग की उक्थ्य आदि संस्थाओं में सन्तर्दन का उत्कर्ष किया जाय। ज्योतिष्टोम अथवा अग्निष्टोम, सोमयाग की सात संस्थाओं में पहली संस्था है। सोमयाग का अनुष्ठान प्रारम्भ होने पर सर्वप्रथम ज्योतिष्टोम संस्था है। उस अवसर पर सन्तर्दन का निर्देश केवल एक संस्था ज्योतिष्टोम के लिए न होकर सम्पूर्ण सोमयाग के लिए है। उसको ज्योतिष्टोममात्र में संकुचित करना अन्याय्य है। सोम की कुटाई सम्पूर्ण याग में यथावसर चलती रहती है। तब उक्थ्य आदि अन्य संस्थाओं में भी सन्तर्दन की विद्यमानता आवश्यक है। उसका उत्कर्ष करना ही होगा ॥२५॥

शिष्य पुनः आशंका करता है—दीर्घसोम पद में दीर्घता सोमयाग की दृष्टि से न मानकर यागकर्त्ता यजमान की दृष्टि से क्यों न मान ली जाय ? सूत्रकार ने आशंका को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

कर्त्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२६॥

[वा] 'वा' पद गतसूत्र में निर्दिष्ट उत्कर्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—ज्योतिष्टोम से सन्तर्दन का उत्कर्ष नहीं होना चाहिए। [कर्त्तृतः] याग के कर्त्ता यजमान से दीर्घता जानी जायगी। तात्पर्य है—सम्पूर्ण सोमयाग के अनुष्ठान में याग का कर्त्ता यजमान प्रारम्भ से अन्त तक वही एक रहता है। इसके अनुसार 'दीर्घसोम' पद का अर्थ होगा—दीर्घ यजमान का सोम=दीर्घसोम। दीर्घकाल तक रहनेवाले यजमान के सोमयाग में अधिषवण-फलकों का सन्तर्दन करे, [विशेषस्य] दीर्घ विशेषण के [तन्निमित्तत्वात्] कर्त्तृनिमित्त होने से।

दीर्घकालिकता यजमान—कर्त्ता की स्थिति से मानी जानी चाहिए, याग की कालिक साध्यता से नहीं, क्योंकि याग की कालिक स्थिति कर्त्ता पर निर्भर है। इसलिए ज्योतिष्टोम से सन्तर्दन का उत्कर्ष आवश्यक नहीं है। ज्योतिष्टोम प्रकरण भी इससे अनुगृहीत होता है, प्रकरण से बाहर उसे नहीं ले-जाना पड़ता। दीर्घसोम शब्द की निष्पत्ति कर्त्ता की दृष्टि से किए जाने में कोई बाधा नहीं है। दीर्घ यजमान का सोम=दीर्घसोम कहा जायगा ॥२६॥

गत सूत्र में कथित पक्ष का निवारण करते हुए सूत्रकार ने बताया—

क्रतुतो वार्थवादानुपपत्तेः स्यात् ॥२७॥

सूत्र में 'वा' पद निश्चयार्थक है। [क्रतुतः]क्रतु=याग से[वा] ही दीर्घसोम

में दीर्घत्व [स्यात्] होता है, कर्त्ता से नहीं; क्योंकि [अर्थवादानुपपत्तेः] सन्तर्दन धृत्यै=धारण के लिए है, इस अर्थवाद की उपपत्ति कर्त्ता की दृष्टि से दीर्घत्व मानने पर नहीं होती।

मूल वाक्य 'दीर्घसोमे सन्तृद्ये धृत्यै' में सन्तर्दन का प्रयोजन सोमाभिषव-फलकों के धारण-निमित्त है। दीर्घकाल तक चलनेवाले सोमयाग में बार-बार सोम को कूटनेवाले पत्थरों से चोट दिए जाने पर सोमाभिषव-फलकों के टूटने या विच्छिन्न होने की आशंका रहती है। वे एक-दूसरे से अलग न हों, इसी निमित्त सन्तर्दन किया जाता है। सन्तर्दन फलकों के धारण करने के लिए है, यह अर्थवाद उसी अवस्था में उपपन्न होता है, जब दीर्घकालिकता का सम्बन्ध याग से माना जाता है। दीर्घकालिकता को कर्त्ता की दृष्टि से मानने पर 'धृत्यै' अर्थवाद अनुपपन्न होगा; क्योंकि फलकों पर सोम को कूटना क्रतु के लिए है, कर्त्ता के लिए नहीं। इसलिए दीर्घकाल तक चलनेवाले सोमयाग की उक्थ्य आदि अन्य संस्थाओं में सन्तर्दन का उत्कर्ष किया जाना आवश्यक है; केवल ज्योतिष्टोम संस्था में ही उसका निवेश नहीं माना जा सकता। सोम का फलकों पर कूटना सोमयाग के सम्पन्न होने तक बराबर चलता रहता है ॥२७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—यदि दीर्घकालिकता का सम्बन्ध कर्त्ता से नहीं माना जाता, तो उक्थ्य आदि संस्थाओं से भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रत्येक संस्था में दश मुष्टि परिमित सोम समानरूप से निर्धारित है, इसलिए दीर्घकालिकता का कर्त्ता के साथ असम्बन्ध के समान उक्थ्य आदि संस्थाओं से भी उसका (दीर्घकालिकता का) असम्बन्ध होगा, क्योंकि वे अपने में अल्पकालिकता के साथ सम्बद्ध हैं। शिष्य-जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

संस्थाश्च कर्तृवद् धारणार्थाविशेषात् ॥२८॥

[संस्थाः] ज्योतिष्टोम की अगली संस्थाएँ उक्थ्य आदि [च] भी [कर्तृवत्] कर्त्ता के समान ही दीर्घकालिकता से सम्बद्ध नहीं हो सकतीं; [धारणार्थाविशेषात्] धारणरूप प्रयोजन के अग्निष्टोम व उक्थ्य आदि संस्थाओं में सोम की दृष्टि से कोई भेद न होने के कारण।

सन्तर्दन का उत्कर्ष माना जाय, या न माना जाय, दोनों अवस्थाओं में 'धृत्यै' अर्थवाद उपपन्न नहीं होता, क्योंकि 'दश मुष्टीर्मिमीते' दस मुट्ठी मापता है, वचन के अनुसार प्रत्येक संस्था में उतना ही परिमित सोम विहित है; इसलिए उनमें धारण की दृष्टि से कोई विशेषता नहीं है। तब दोनों अवस्थाओं में धारण अर्थवाद की अनुपपन्नता के समान होने से वह उत्कर्ष का प्रयोजक नहीं हो सकता, अतः अर्थवाद की उपपन्नता के लिए उत्कर्ष मानना निरर्थक है ॥२८॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

उक्थ्यादिषु वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२९॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। [उक्थ्यादिषु] उक्थ्य आदि संस्थाओं में सन्तर्दन का उत्कर्ष होता है, [अर्थस्य] अर्थ=प्रयोजन के [विद्यमानत्वात्] विद्यमान होने से।

सोम का दशमुष्टि-परिमाण प्रथम संस्था ज्योतिष्टोम अथवा अग्निष्टोम के लिए है। यह परिमाण उसमें दी जानेवाली सोमाहुतियों के अनुसार है। उक्थ्य आदि अगली संस्थाओं में आहुतियाँ अधिक हो जाती हैं; उसी अनुपात से सोम-मुष्टि भी अधिक ली जाती हैं। इसलिए सोममुष्टि की समानता के आधार पर 'धूर्त्यै' अर्थवाद की अनुपपन्नता का कथन असंगत है। उक्थ्य आदि संस्थाओं में कूटने के लिए सोम जब अधिक होगा, तो फलकों के टूटने या विच्छिन्न होने की आशंका रहेगी। ऐसा न हो, इसी कारण उक्थ्य आदि संस्थाओं में सन्तर्दन का उत्कर्ष मानना पड़ता है। उसी दशा में 'धूर्त्यै' अर्थवाद की उपपन्नता सम्भव होती है। अतः यह कहना कि—उत्कर्ष-अनुत्कर्ष दोनों दशाओं में अर्थवाद की अनुपन्नता समान है—सर्वथा निराधार है। फलतः उक्थ्य आदि संस्थाओं में सन्तर्दन का निवेश पूर्णरूप से शास्त्रीय है, मान्य है ॥२९॥

शिष्य पुनः आशंका करता है—प्रत्येक संस्था में प्रदेय सोम दशमुष्टि-परिमित समान है, तो धारणरूप स्तुति-अर्थवाद व्यर्थ है। उतने सीमित सोम के कूटने से फलकों के विच्छिन्न होने की कोई आशंका नहीं रहती। तब 'धूर्त्यै' अर्थवाद का कोई प्रयोजन नहीं। उसकी उपपत्ति के बल पर सन्तर्दन का उक्थ्य आदि संस्थाओं में उत्कर्ष मानना भी व्यर्थ है। शिष्य-आशंका को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अविशेषात् स्तुतिर्व्यर्थेति चेत् ॥३०॥

[अविशेषात्] उक्थ्य आदि संस्थाओं में सर्वत्र दशमुष्टि-परिमित सोम के समान होने से ज्योतिष्टोम=सोमयाग में 'धूर्त्यै' यह [स्तुतिः] स्तुतिरूप अर्थ-वाद [व्यर्था] व्यर्थ है, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, (तो वह युक्त नहीं; अगले सूत्र से सम्बन्ध है)।

सोम कूटे जाने के आधारभूत दो फलकों के दृढ़ जोड़ का नाम सन्तर्दन है। सोमयाग के प्रारम्भ में उसका विधान है। वह विधान सोमयाग की प्रारम्भिक संस्था केवल अग्निष्टोम के लिए न होकर उत्तर की उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम इन सभी संस्थाओं के लिए है, ऐसा कहा गया; पर कूटे जानेवाले सोम का परिमाण सब संस्थाओं में समान होता है। उतने

सोम के कूटे जाने से फलकों के विच्छिन्न होने की कोई आशंका नहीं रहती। तब विधिवाक्य में 'धृत्यै' फलकों के धारण के लिए सन्तर्दन है, यह स्तुतिरूप अर्थवाद-कथन व्यर्थ हो जाता है। सोम के निर्धारित परिमाण को किसी भी तरह बढ़ाया नहीं जा सकता, जिसका कूटना फलकों के विच्छिन्न होने की आशंका को उभारे। ऐसी स्थिति में अर्थवाद की उपपत्ति के बल पर सन्तर्दन का अग्निष्टोम से उत्कर्ष कर उक्थ्य आदि में निवेश बताना असंगत है ॥३०॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

स्यादनित्यत्वात् ॥३१॥

[स्यात्] उक्थ्य आदि संस्थाओं में सन्तर्दन का निवेश होता है, [अनित्यत्वात्] सोम के पोरों (पर्वों) का परिमाण अनियत होने से।

आहुति प्रदान करने के लिए त्रिपर्वा (तीन पोरोंवाले) सोम के दशमुष्टि-परिमाण का विधान है। सोम की एक डण्डी में तीन पोरे दूर-दूर भी हो सकते हैं, और समीप-समीप भी। इस कारण दस मुट्ठी संख्या नियत होने पर भी परिमाण अनियत रहता है। ऐसे अनियत परिमाणवाला सोम उक्थ्य आदि सभी संस्थाओं में कूटा जाता है। तब सन्तर्दन का सब संस्थाओं में निवेश माना जाना आवश्यक है। प्रत्येक संस्था में सोम के कूटे जाने से फलकों के विच्छिन्न होने की आशंका स्वाभाविक है। उसकी निवृत्ति के लिए सन्तर्दन सर्वत्र संस्थाओं में आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त सोमयाग के तृतीय सवन में अंशुग्रह के लिए सोम का अभिषव (कूट-छानकर रस निकालना) होता है। वह सोम कितना लेना चाहिए? यह परिमाण नहीं बताया है। तब वह अनेक और बड़े पोरोंवाला ग्रहण किया जा सकेगा। उससे आहुतिरूप में देय सोम बढ़ जायगा। इसलिए अग्निष्टोम के अतिरिक्त उक्थ्य आदि संस्थाओं में भी सन्तर्दन का सम्बन्ध माना जाना उचित है। फलतः सोम के नियत परिमाणविषयक निर्देश अनित्य हैं; पूर्णरूप से मान्य नहीं हैं। तात्पर्य है—उनकी मान्यता आंशिक ही समझनी चाहिए। इससे सोम का संख्या में दश मुष्टि होने पर भी परिमाण में आधिक्य सम्भव है; तथा सोमयाग की प्राथमिक संस्था से सोम का कूटा जाना प्रारम्भ होकर जैसे-जैसे आगे चलेगा, तो प्रताड़न से फलकों के जोड़ में शिथिलता आना सम्भव है। ऐसा अवसर न आने पाय, इसलिए सोमयाग की उक्थ्य आदि उत्तरवर्ती संस्थाओं में सन्तर्दन का होना अधिक आवश्यक है। सोमयाग के प्रारम्भ से अन्त तक प्रत्येक संस्था के अनुष्ठान-काल में फलकों के जोड़ को दृढ़ बनाए रखने के लिए सन्तर्दन का होना सर्वथा संगत है। इसे उत्कर्ष कहा जाय? या आवृत्ति? यह विचारणीय है ॥३१॥ (इति सन्तर्दनस्योक्थ्यादिसंस्थानिवेशाधिकरणम्—११)।

(प्रवर्ग्यनिषेधस्य प्रथमप्रयोगविषयताधिकरणम्—१२)

ज्योतिष्टोम प्रकरण में प्रवर्ग्य कर्म का प्रारम्भ कर आगे पाठ है—'न प्रथमयज्ञे प्रवृञ्ज्यात्, द्वितीये तृतीये वा प्रवृञ्ज्यात्'[1] प्रथम बार के यज्ञानुष्ठान में प्रवर्ग्य कर्म न करे, दूसरे अथवा तीसरे बार के यज्ञ में प्रवर्ग्य करे। शिष्य जिज्ञासा करता है—यहाँ सन्देह है—क्या ज्योतिष्टोम के प्रत्येक बार के अनुष्ठानों में प्रवर्ग्य कर्म न करे? अथवा केवल पहली बार के अनुष्ठान में न करे? तात्पर्य है—क्या ज्योतिष्टोम मात्र में प्रवर्ग्य का निषेध है? अथवा केवल पहली बार के ज्योतिष्टोम में?

ज्योतिष्टोम में दूसरे, तीसरे, चौथे दिन प्रातः-सायं उपसत् इष्टि से पूर्व प्रवर्ग्य नामक इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। तपे हुए घी में गाय और बकरी के दूध को मिलाना प्रवृञ्जन कहा जाता है। प्रवृञ्जन के सम्बन्ध से इस कर्म का 'प्रवर्ग्य' नाम है।[2] ज्योतिष्टोम प्रकरण पठित होने से प्रत्येक बार के ज्योतिष्टोम-अनुष्ठान में प्रवर्ग्य का निषेध समझना चाहिए। इससे प्रकरण उपकृत होता है। शिष्य-सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

सङ्ख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात् स्यात् ॥३२॥

[सङ्ख्यायुक्तम्] 'प्रथम' इस संख्या पद से संयुक्त प्रवर्ग्य का प्रतिषेध [प्रकरणात्] प्रकरण से [क्रतोः] ज्योतिष्टोम क्रतुमात्र का अङ्ग [स्यात्] होता है। तात्पर्य है—प्रत्येक बार किए जानेवाले ज्योतिष्टोम में प्रवर्ग्य का निषेध समझना चाहिए।

ताण्ड्य ब्राह्मण [१६।१।१-२] में पाठ है—**'एष वाव यज्ञानां प्रथमो (यज्ञो[3] यज्ज्योतिष्टोमः) य एतेनाऽनिष्ट्वाऽथाऽन्येन यजते गर्त्तपत्यमेव तज्जीयते प्र वा मीयते'**—यज्ञों के बीच ज्योतिष्टोम ही प्रथम यज्ञ है; जो इससे यजन न कर अन्य से यजन करता है, वह गड्ढे में गिरता है, अथवा मर जाने के समान है। यज्ञों में प्रथम होने के कारण इसे 'प्रथमयज्ञ' शब्द से कहा गया है। यहाँ 'प्रथम' यह संख्या-पद यज्ञ के साथ सम्बद्ध है, पर्याय के साथ नहीं। इसलिए ज्योतिष्टोम मात्र में प्रवर्ग्य का निषेध माना जाना चाहिए। यह प्रकरण के अनुगत है, प्रकरण इससे अनुगृहीत होता है ॥३२॥

---

१. द्रष्टव्य—शाङ्खायन ब्राह्मण, ८।३॥ (यु०मी०)

२. इसकी सामान्य प्रक्रिया की जानकारी के लिए 'यज्ञ प्रकाश' के पृष्ठ ६२-६५ द्रष्टव्य हैं। (यु० मी०)

३. उपरिवत्।

आचार्य सूत्रकार ने आशङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३३॥

[वा]सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—समस्त वैदिक वाङ्मय में 'प्रथम यज्ञ' नामक कोई कर्म नहीं है। [नैमित्तिकम्] यज्ञ के साथ 'प्रथम' पद का प्रयोग निमित्तविशेष के कारण है, यज्ञ का वह नाम नहीं। निमित्त है—यज्ञ का क्रमिक द्वितीय आदि पर्याय। [कर्तृसंयोगात्] कर्त्ता—यजमान के द्वारा अनुष्ठेय ज्योतिष्टोम का जो उसके साथ पहला सम्बन्ध है, 'प्रथम' पद उसी को कहता है। [लिङ्गस्य]प्रतिषेधरूप लिङ्ग के [तन्निमित्तत्वात्] कर्तृ-संयोग निमित्त होने से। तात्पर्य है—उसी कर्त्ता की जब किसी एक कर्म के अनुष्ठान में अनेक बार प्रवृत्ति होती है, तब द्वितीय आदि प्रवृत्ति की अपेक्षा से प्राथम्य का व्यवहार पहली बार किए गए कर्म के लिए होता है।

'प्रथमो यज्ञो यज्ञानाम्' वाक्य में 'प्रथम' पद ज्योतिष्टोम यज्ञ का वाचक न होकर कर्त्ता द्वारा उसके क्रमिक द्वितीय आदि पर्याय के आधार पर पहली बार अनुष्ठित ज्योतिष्टोम के लिए 'प्रथम' पद का प्रयोग है। यह प्रयोग ज्योतिष्टोम के लिए तभी सम्भव है, जब उसी कर्त्ता के द्वारा दूसरी-तीसरी बार ज्योतिष्टोम का अनुष्ठान किया जाय; अन्यथा 'प्रथम' पद का प्रयोग उसके लिए न होगा। इससे स्पष्ट होता है, यज्ञ का यह नाम नैमित्तिक है, उसका वाचक नहीं। फलतः पहली बार किए जानेवाले ज्योतिष्टोम में प्रवर्ग्य इष्टि के अनुष्ठान का प्रतिषेध है। द्वितीय आदि अनुष्ठानों में उसका प्रयोग विहित है ॥३३॥ (इति प्रवर्ग्य-निषेधस्य प्रथमप्रयोगविषयताधिकरणम्—१२)।

(पौष्णपेषणस्य विकृतौ विनियोगाधिकरणम्—१३)

तैत्तिरीय संहिता [२।६।८।५]के दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पाठ है—'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' इस कारण पूषा देवता के लिए हवि का पिसा हुआ भाग होता है, क्योंकि वह दाँतरहित है। शिष्य जिज्ञासा करता है—इसमें सन्देह है, क्या पूषा देवता-सम्बन्धी पेषण-कर्म दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग में माना जाय? अथवा विकृति में? प्रकरण से तो यही प्रतीत होता है कि प्रकृतियाग में मानना चाहिए। यद्यपि प्रकृतियाग में हवि का देवता पूषा पठित नहीं है, फिर भी पेषण-कर्म के पठित होने से प्रकृतिपठित किसी देवता को गौणी वृत्ति से पूषा पद कहेगा। इसलिए पेषण-कर्म प्रकृतियाग का अङ्ग मानना चाहिए। आचार्य सूत्र-कार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेताऽचोदनात् प्रकृतौ ॥३४॥

[पौष्णम्] पूषा देवता सम्बन्धी हवि का [पेषणम्] पीसना कर्म [विकृतौ] विकृति याग में [प्रतीयेत] जानना चाहिए। [प्रकृतौ] दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग में [अचोदनात्] पूषा देवता सम्बन्धी हवि के न कहे जाने से।

पूषा देवता[1] सम्बन्धी हवि जहाँ विहित है, उसी प्रकरण में उस हवि के पेषण

---

१. पूषा देवता को वैदिक वाङ्मय में दाँतरहित बताया; इसका रहस्य क्या है? समझिए—"भारतीय मनीषियों ने राजनैतिक एवं सामाजिक तत्त्वों का स्पष्टीकरण बड़े विचित्र प्रकार से किया है। पूषा शब्द का अर्थ है—पुष्टि करनेवाला देव। इस देव को अदन्तक=दाँतरहित कहकर इस तत्त्व का उपदेश किया है कि जो भी व्यक्ति प्रजा की रक्षा के निमित्त हैं, चाहे वे मन्त्री आदि होवें, संसद् के सदस्य होवें, तथा मन्त्रालय के अधिकारी से लेकर साधारण जितने भी राजकर्मचारी हैं, उन सबको अदन्तक अर्थात् स्वार्थ-रहित होना चाहिए। यदि वे ही प्रजा को विविध प्रकार से खाने लगेंगे, तो प्रजा की पुष्टि कैसे हो सकती है? इस अर्थवाला लौकिक मुहावरा है—'जब रक्षक ही भक्षक होवे, तो प्रभु ही उसका मालिक है'। जब बाड़ ही खेत को खाने लगे, तो खेत की रक्षा कैसे होगी?

इसी प्रकार पौराणिक देवताओं के वाहन की कल्पना भी अपने-आप में बे-जोड़ है। लक्ष्मी का वाहन उल्लू कहा गया है। इसका तात्पर्य है—जिसे लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है, लक्ष्मी जिस व्यक्ति पर सवार होती है, वह उल्लू बन जाता है। इसी का व्रजभाषा के कवि बिहारी ने अत्यन्त मनोहारी वर्णन किया है—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
या खाये बौरात है, वा पाये बौराय॥

कनक=धतूरे से कनक=सुवर्ण आदि धन सौगुना मादक और पागल बनानेवाला है। इस धतूरे को तो खाकर मनुष्य पागल होता है, पर उस सुवर्ण धन को पाकर ही पागल हो जाता है।

वैदिक ग्रन्थों में भी ऐश्वर्य के स्वामी 'भग' देवता को अन्धा कहा है—'तस्यादाहुरन्धो भगः' [कौषी०ब्रा० ३५।१३॥ गोपथ, २।१।२॥]

गणेश का वाहन चूहा माना गया है। गण=समुदाय का स्वामी यदि अपने गण में चूहों के समान कुतर-कुतर करनेवालों पर सवार नहीं होगा, उन्हें दबाकर नहीं रखेगा, तो उसका गणेशत्व नष्ट हो जायगा। लोकतन्त्र में

का विधान किया जाना चाहिए। दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग में पूषा देवता नहीं है, तब पेषण-कर्म का प्रकृतियाग से वहाँ उत्कर्ष करना आवश्यक है, जहाँ मुख्य = अभिधावृत्ति से पूषा देवता कथित हो। प्रकृतियाग में किसी देवता को लक्षणा-वृत्ति से पूषा पद द्वारा कहे जाने का तभी अवसर आ सकता है, जब अन्यत्र मुख्य रूप से पूषा देवता पठित न हो। पेषण-कर्म को प्रकृतियाग से हटाकर अन्यत्र ले-जाने पर प्रकरण बाधित होगा, यह आशंका भी निरर्थक है; क्योंकि वाक्य प्रकरण से बलवान् होता है। पूषा देवता विकृतियाग में वाक्य-पठित है, अतः पेषण-कर्म का विकृतियाग में उत्कर्ष किया जाना युक्त है।

अथवा यह समझना चाहिए कि प्रस्तुत अधिकरण में अभिमत विषय का ही निर्देश किया गया है; इसमें सन्देह का कोई अवसर नहीं है। पूषा देवता सम्बन्धी हवि का पेषणकर्म-विवेचन अगले अधिकरणों में किया गया है ॥३४॥ (इति पौष्णपेषणस्य विकृतौ विनियोगाऽधिकरणम्—१३)।

(पौष्णपेषणस्य चरावेव निवेशाऽधिकरणम्—१४)

गत अधिकरण में बताया गया—प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास में पठित पूषा-देवता सम्बन्धी पेषणकर्म का विकृतियाग में उत्कर्ष होता है। शिष्य जिज्ञासा करता है—यह पेषणकर्म क्या चरु, पशु, पुरोडाश सब हवियों में होता है? अथवा केवल चरु हवि में? विशेष निर्देश न होने से सभी हवियों में पेषण होना चाहिए।

शिष्य-सुझाव को सूत्रकार आचार्य ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

तत्सर्वार्थमविशेषात् ॥३५॥

[तत्] वह पूषा देवतासम्बन्धी हवि का पेषणकर्म [सर्वार्थम्] सभी देवता वाली हवियों के लिए होना चाहिए, क्योंकि [अविशेषात्] किसी एक विशेष हवि का नाम लेकर पेषण का विधान न होने से।

'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागः' वाक्य में सामान्य रूप से पूषा देवता-सम्बन्धी हवि के पेषण का विधान है; किसी विशेष हवि का निर्देश यहाँ नहीं है। इसलिए पूषा देवता-सम्बन्धी सभी हवियों में पेषणकर्म किया जाना चाहिए ॥३५॥

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा का समाधान किया—

असन्तुष्ट विधायक ही कुतर=काट करनेवाले चूहे हैं। यदि उनकी प्रवृत्ति को बढ़ने दिया जाय, तो लोकतन्त्र तो क्या, कोई भी समुदाय स्थिर नहीं रह सकता। अनिश्चित उथल-पुथल मची ही रहेगी। इसी प्रकार अन्य विषयों पर भी गम्भीर विचार किया जाय, तो भारतीय मनीषियों की विचित्र प्रतिभा उजागर होगी।"—यु० मी०

चरौ वाऽर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात् पशौ न स्यात् ॥३६॥

[वा] 'वा' पद यहाँ 'एव' अर्थ में प्रयुक्त है; 'एव' निश्चयार्थक अव्यय है। [चरौ वा] चरु नामक हवि में ही पेषण होता है। [पुरोडाशे] पुरोडाश नामक हवि में [अर्थोक्तम्] अर्थ=प्रयोजनवश पेषण कहा गया है। तात्पर्य है, चावल को पीसे बिना पुरोडाश हवि बनता ही नहीं, तब उसमें पेषण का विधान व्यर्थ है। [पशौ] पशु के हृदय आदि अङ्गरूप हवि में [अर्थविप्रतिषेधात्] पेषणरूप अर्थ का विरोध होने से [न स्यात्] पशु हवि में पेषणकर्म नहीं होता।

पूषा देवतासम्बन्धी हवि तीन हैं—चरु, पुरोडाश, पशु। चरु हवि वह है, जिसमें माँड निकाले बिना पकाये गये चावल खिले हुए रक्खे जाते हैं; चिच्चड़-सा भात नहीं बनता। कच्चे चावल को पीसकर पकाया गया हवि 'पुरोडाश' कहा जाता है। वह जब पीसे बिना बनता ही नहीं, तब उसके लिए पुनः पेषण का विधान नितान्त निष्प्रयोजन है। पशु-अङ्गों की हवि तैयार करने के लिए उन्हें पीसा नहीं जाता; केवल काटा जाता है; अतः उस हवि के लिए भी पेषण-कर्म का विधान वस्तुस्थिति के विरुद्ध है।[1] अतः केवल चरु नामक हवि में पेषणकर्म का विधान मान्य होता है। शतपथ ब्राह्मण [१।७।४।७] में कहा है—'तस्मादाहुरदन्तकः पूषा इति'। गोपथ [२।१।२] में भी पाठ है—'तस्मादाहुरदन्तकः पूषा पिष्टभाजन इति'।

पूषा देवता दाँतरहित है। उसके लिए पिसा हवि-द्रव्य आहुत किया जाता है। आमिष का पीसा जाना सम्भव न होने पर भी अस्वाभाविक रूप से पूषा के

---

१. शबर स्वामी आदि भाष्यकारों ने सूत्र के 'अर्थविप्रतिषेधात्' पद का जो अर्थ किया है, वह अस्पष्ट है। 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' (पहले हृदय का अवदान करता है) इस वाक्य को उद्धृत कर भाष्यकार ने जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह स्पष्ट नहीं है। वस्तुतः पूषा देवता-सम्बन्धी हवि के पेषणकर्म के प्रसंग में पशु-हवि का प्रवेश नितान्त असंगत है। आमिष का कोई भी व्यञ्ज बनाने के लिए उसे पीसा कभी नहीं जाता। रसनालोलुप याज्ञिकों ने अपना मार्ग निष्कण्टक बनाये रखने के लिए पेषण हवि के प्रसंग में उसे बलात् प्रविष्ट कर दिया है। पूषा देवतासम्बन्धी विवेच्य हवि केवल चरु और पुरोडाश हैं, जिनमें पेषण सम्भव है। पाकसिद्ध चरु में मधु या शर्करा मिलाकर अल्पपेषण से उसका चरु-भाव नष्ट नहीं होता, अर्थात् वह पुरोडाश नहीं बन जायगा। वह तो पीसने के बाद पकाया जाता है। अदन्तक पूषा के हविद्रव्य में मांस जैसा क्लिष्ट चर्व्य द्रव्य का बलात् निवेश किया गया ज्ञात होता है।

हवि-द्रव्य में उसका निवेश याज्ञिकों की इस रसनालोलुपता का नंगा प्रतीक है कि पूषा के दाँत टूट गये सही, हमारे तो नहीं टूटे हैं ! इन अधम याज्ञिकों ने अनेकत्र पवित्र यागकर्म में इसी प्रकार बलात् आमिष का निवेश किया है ॥३६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—पशु-हवि के समान अर्थविप्रतिषेध तो चरु-हवि में भी सम्भव है; तब उसका भी पेषण-प्रसंग में निवेश क्यों माना जाय ?

शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

चरावपीति चेत् ॥३७॥

गत सूत्र से 'अर्थविरोधात् न स्यात्' पदों की यहाँ अनुवृत्ति है। [चरौ] चरु हवि में [अपि] भी [अर्थविप्रतिषेधात्] पेषण अर्थ का विरोध होने से [न स्यात्] पेषण-कर्म नहीं होना चाहिए। [इति चेत्] ऐसा कहो, तो वह (ठीक नहीं; अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

जैसे पशु-हवि में पेषणरूप अर्थ के सम्भव न होने से उसका विरोध बताया है, ऐसा विरोध चरु-हवि में भी सम्भव है, क्योंकि माँड निकाले बिना पकाये गये खिले चावलों का नाम चरु है। यदि चावलों को पीसकर पकाया जाता है, तो वह चरु ही नहीं रहेगा, वह पिष्ट या पुरोडाश होगा। यदि जौ को पीसकर पकाया जाता है, तो वह यवागू होगा। पशु-हवि में अर्थविरोध होने से पेषण-कर्म की असम्भावना के समान चरु-हवि में भी पेषण असम्भव है। तब चरु में पेषण का निवेश कैसे माना जा सकता है ?॥३७॥

न पक्तिनामत्वात् ॥३८॥

[न] चरु के पेषण में अर्थविरोध नहीं है। [पक्तिनामत्वात्] पक्ति=पाक-विशेष का 'चरु' नाम होने से।

प्रथम बताया गया, चरु नामक हवि वह है, जो माँड निकाले बिना पकाये गये खिले चावल हैं। तात्पर्य है, चावल पकाये जाने पर भी एक-एक दाना अलग बिखरा हुआ-सा दिखाई देता है; घिच्चड़-सा भात नहीं बन जाता। पूषा देवता की कल्पना क्योंकि 'अदन्तक' रूप में है, उसके लिए ऐसे चरु की आहुति भी उपयुक्त न होगी। चावल का पाकविशेष से चरु तैयार हो जाने पर थोड़ा मधु या शर्करा उसमें मिलाकर उसका पेषण किया जाना चाहिए। तब अर्थ-विरोध की कोई स्थिति सामने नहीं आती; तथा अदन्तक पूषा देवता के लिए हवि-द्रव्य प्रदान किया जाना अर्वथा उपयुक्त रहता है। इस प्रकार चरु में ही पेषण अभिमत है, अन्य पौष्ण हवि में नहीं ॥३८॥ (इति पौष्णपेषणस्य चरावेव निवेशाऽधिकरणम्—१४)।

(पौष्णपेषणस्यैकदेवत्ये निवेशाऽधिकरणम्—१५)

गत सूत्रों में बताया गया—पूषा देवतासम्बन्धी पेषण विकृतियाग में होता है; वह भी केवल चरु-हवि में। इस स्थिति में शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या पूषा देवतासम्बन्धी एक (पूषा) देवतावाले हवि में पेषण होता है ? अथवा दो देवतावाले हवि में भी ? राजसूय यज्ञ के द्वितीय त्रिसंयुक्त[1] कर्म में मैत्रायणी संहिता [२।६।४] का पाठ है—'सौमापौष्ण एकादशकपालः, ऐन्द्रापौष्णश्चरुः, पौष्णश्चरुः, श्यामो दक्षिणा' सोम और पूषा देवतावाला एकादशकपाल पुरोडाश, इन्द्र और पूषा देवतावाला चरु, तथा पूषा देवतावाला चरु, और श्यामवर्ण की गाय दक्षिणा होती है। प्रस्तुत अधिकरण में 'ऐन्द्रापौष्णश्चरुः' विवेच्य उदाहरण है। पेषण क्योंकि केवल चरु-हवि में होता है, तब यहाँ इन्द्र और पूषा दो देवता-सम्बन्धी चरु में भी पेषण माना जाय ? अथवा केवल एक पूषा देवतासम्बन्धी चरु में ही माना जाय ?

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

एकस्मिन्नेकसंयोगात् ॥३९॥

पूषा देवतासम्बन्धी हवि का पेषण [एकस्मिन्] केवल एक पूषा देवतावाले चरु में होता है। [एकसंयोगात्] 'पूषा प्रपिष्टभागः' वाक्य में अकेले पूषा देवता का सम्बन्ध होने से।

अकेले पूषा देवतावाले चरु का ही पेषण होता है; इन्द्र-पूषा दो देवतावाले चरु का नहीं, क्योंकि पेषणविधायक वाक्य (—पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि) में केवल पूषा देवता का नाम है, उसके साथ अन्य किसी देवता का नाम नहीं है। यह ऐसा ही प्रसंग है, जैसा केवल अग्निदेवतावाले पुरोडाश हवि का चतुर्धाकरण-सिद्धान्त निर्धारित [मी० सू० ३।१।२६-२७; अधि० १५] किया है ॥३९॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

धर्मविप्रतिषेधाच्च ॥४०॥

[धर्मविप्रतिषेधात्] पूषा देवता और अन्य देवता के धर्मों का परस्पर

---

१. 'त्रिसंयुक्त' उस कर्मविशेष का नाम है, जिसमें तीन हवियाँ आहुतिरूप से प्रदान की जाती हैं। ऐसे पृथक् एक-दूसरे से भिन्न तीन कर्म हैं; क्योंकि उन तीनों की दक्षिणा पृथक्-पृथक् है। उन कर्मों में से द्वितीय कर्म के प्रसंग में मैत्रायणी संहिता का उक्त पाठ है।

विरोध होने से [च] भी केवल पूषा देवतासम्बन्धी चरु में होता है, दो देवता-वाले ऐन्द्रपौष्ण चरु में नहीं।

पूषा देवता का पेषण धर्म है, अन्य (इन्द्र) देवता का अपेषण। दो देवतावाले चरु में धर्म का विरोध होगा, यदि उसमें भी पूषा के सम्बन्ध से पेषण माना जाय। द्विदेवत्य चरु में यदि पूषा देवता का भाग पीसा जाय, और अन्य देवता का बिना पीसा रहे, तो पाक में वैषम्य हो जायगा। वह पका हवि 'चरु' नहीं होगा। 'चरु' पद का प्रयोग हवि में उसके पाकविशेष के कारण ही होता है। वैसा पाक न होने पर उसमें 'चरु' पद का प्रयोग विरुद्ध होगा। अविरोध के लिए दोनों देवताओं के हवि का पाक एक ही प्रकार से किया जाय, तो दोनों देवताओं के भागों का विभाजन करना अशक्य होगा। अतः द्विदेवत्य चरु में पूषा देवतासम्बन्धी पेषण का निवेश अमान्य है ॥४०॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—द्विदेवत्य चरु में भी देवतानिमित्त से पेषण माना जाना चाहिए। शिष्य-जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अपि वा सद्वितीये स्याद् देवतानिमित्तत्वात् ॥४१॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्रोक्त पक्ष के प्रतिषेध का द्योतक है; तात्पर्य है, अकेले पूषा देवतावाले चरु में ही पेषण होता है, ऐसा नहीं है; किन्तु [सद्वितीये] दूसरा देवता जिस चरु में साथ है, उसमें [अपि] भी पेषण [स्यात्] होना चाहिए। [देवतानिमित्तत्वात्] पूषा देवता के निमित्त से पेषण का विधान होने से।

चरु के पेषण का विधान पूषा देवता के निमित्त है। पूषा देवता पिसे हुए भागवाला कहा गया है। वह दो देवतावाले चरु में भी पिसे हुए भागवाला होगा। आग्नेय पुरोडाश के चतुर्धाकरण का उदाहरण प्रस्तुत प्रसंग में उपयुक्त नहीं है। 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' वाक्य में 'आग्नेयम्' का तद्धित प्रत्यय अन्य देवता की अपेक्षा न रखनेवाले 'अग्नि' पद से होता है; दूसरे देवता के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अग्नि से नहीं होता। उस प्रसंग के 'इन्द्रपीतस्य' पद में समास भी अन्य-निरपेक्ष इन्द्र का होता है। दूसरे देवता के साथ सम्बन्ध रखनेवाले इन्द्र के साथ समास नहीं है। पर यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में तो 'प्रपिष्ट' पद का 'भाग' पद के साथ अन्य-पदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास है—'प्रपिष्टो भागो यस्य सः' = पिसा हुआ भाग है जिसका, ऐसा वह पूषा देवता। यह समास समर्थ पदों का ही होता है। दो देवतावाले 'ऐन्द्रापौष्णश्चरुः' में भी ऐसी कोई बाधा नहीं है, जिससे समास न हो सके। फलतः अकेले या दूसरे के साथ सम्बद्ध पूषा देवतावाले चरु में पूषा का भाग पीसा जाना ही चाहिए ॥४१॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४२॥

[लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग = बोधक हेतु के देखे जाने से [च] भी द्विदेवत्य चरु में पेषण प्राप्त होता है।

'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि'—इसलिए पूषा पिसे हुए भागवाला है, क्योंकि वह दाँतों से रहित है—वाक्य में दन्तरहित होना लिङ्ग इस वस्तुस्थिति का बोधक है कि पूषा देवता के निमित्त चरु-भाग पिसा हुआ होना चाहिए। इसी प्रकार 'सोमापौष्णं चरुं निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः' = पशु-कामनावाला यजमान सोम और पूषा देवतावाले चरु को आधा पीसे अर्थात् दले—वाक्य अर्ध-पेषणता को पूषा देवता-निमित्त ही प्रकट करता है। यह अधपिसा चरु दो देवता-वाले चरु के लिए ही है। इसलिए द्विदेवत्य चरु में भी पूषा देवता का भाग पिसा हुआ होना चाहिए ॥४२॥

शिष्य आशंका करता है—यह जो द्विदेवत्य चरु के अर्द्धपेषण में उद्धृत वाक्य 'सौमापौष्णं चरुं निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः' पूषा देवतासम्बन्धी चरु के पेषण में लिङ्ग बताया गया, यह युक्त प्रतीत नहीं होता। यह तो सोम और पूषा-सम्बन्धी चरु में अर्द्धपेषण का विधायक वाक्य है। तब इसे पूषा-सम्बन्धी चरु के पेषण का लिङ्ग न कहकर अर्द्धपेषण कर्म का विधायक क्यों न माना जाय ?

आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

वचनात् सर्वपेषणं तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थाभावात्
द्विचरावपेषणं भवति ॥४३॥

'सौमापौष्णं' आदि वाक्य द्विदेवत्य चरु में अर्द्धपेषण का विधायक वाक्य है, [वचनात्] 'नेमपिष्टं' इस विधि-वचन से। यदि ऐसा माना जाय, तो [सर्व-पेषणम्] सोम और पूषा-देवतासम्बन्धी सब—चरु, पुरोडाश, पशु—हवियों का अर्द्धपेषण प्राप्त होता है। तात्पर्य है—उक्त देवताओं सम्बन्धी हवि का अनुवाद करके सर्वत्र—चरु, पुरोडाश, पशु में—अर्द्धपेषण का विधान मानना होगा। क्योंकि [तं प्रति] उक्त हवियों के प्रति [शास्त्रवत्त्वात्] शास्त्रवत्ता होने से; तात्पर्य है—उक्त देवताओं सम्बन्धी सब हवियों की अर्द्धपिष्टता में शास्त्रीय वचन होने से, इस शास्त्रीय विधान के अनुसार सब हवियों में नेमपिष्टता को मानना होगा। परन्तु इस मान्यता में दोष हैं—[अर्थाभावात्] अर्थ = प्रयोजन के अभाव से। यदि 'सौमापौष्णं' को द्विदेवत्य हवि में नेमपिष्टता विधायक माना जाता है, तो यह विधि निष्प्रयोजन है, इसका कुछ फल नहीं निकलता; क्योंकि चरु में पकाये जाने पर चावल खिले हुए—दाने-दाने बिखरे-से—होने चाहिएँ, जो अर्द्ध-पेषण होने पर सम्भव नहीं। पुरोडाश में पूरा पेषण होता है, तभी पुरोडाश

सम्पन्न हो पाता है। अर्द्धपेषण में पुरोडाश सिद्ध ही न होगा। पशु-हवि में किसी प्रकार के पेषण की सम्भावना ही नहीं होती। तब ऐसा विधान व्यर्थ रह जाता है। अतः उक्त वाक्य को विधि कहना संगत न होगा।

सूत्र के 'अर्थाभावात्' पद में एक अन्य वास्तविकता अन्तर्हित है, जो उक्त वाक्य को विधि मानने में दोष प्रकट करती है। वह है—वाक्य को विधि मानने पर वाक्यगत 'चरु' पद अपने अभिधावृत्ति-बोध्य अर्थ को छोड़कर लक्षणावृत्ति से पशु-पुरोडाश हवियों का भी उपलक्षण मानना पड़ता है। अभिधावृत्ति से अर्थ के सम्भव होने पर लक्षणावृत्ति से अर्थ करना शास्त्रीय दृष्टि से दोष माना जाता है।

इसके अतिरिक्त—उक्त वाक्य को अर्द्धपेषण का विधि मानने पर—वाक्य-भेद-दोष भी प्राप्त होगा। सोम और पूषा देवता-सम्बन्धी हवि का अनुवाद कर सर्वत्र पेषण का विधान करने से पुरोडाश, चरु, पशु में अर्द्धपेषण मानने पर सौमापौष्ण का चरु और नेमपिष्ट दोनों के साथ सम्बन्ध युगपत् सम्भव न होने से वाक्यभेद करने पर अर्थाभिव्यक्ति होगी। वाक्यभेद दोष माना जाता है। अतः 'सौमापौष्ण' वाक्य नेमपिष्ट का विधायक न होकर [द्विचरौ] दो देवता-सम्बन्धी चरु में [अपेषणम्] पूर्ण पेषण नहीं है, इसका लिङ्ग [भवति] होता है।

जहाँ दो देवतासम्बन्धी चरु है, वहाँ आधा पीसे, आधा बिना पिसा रहे। बिना पिसे भाग से अवदान किया जायगा।

आचार्य सूत्रकार पूर्वपक्ष का समाधान करता है—

एकस्मिन् वाऽर्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवदुभयोर्न स्यादचोदितत्वात् ॥४४॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—दो देवता-वाले ऐन्द्रापौष्ण चरुरूप हवि में पेषण नहीं होता। [एकस्मिन्] अकेले पूषा देवतावाले चरु-हवि में पेषण होता है, [अर्थधर्मत्वात्] अर्थ=याग का धर्म होने से। [ऐन्द्राग्नवत्] इन्द्र और अग्निदेवतावाले द्विदेवत्य पुरोडाश में जैसे चतुर्द्धा-करण नहीं होता, अकेले आग्नेय पुरोडाश में होता है, ऐसे ही [उभयोः] इन्द्र और पूषा देवतावाले द्विदेवत्य चरु-हवि में पेषण [न स्यात्] नहीं होता। इन्द्र और पूषा देवतावाले चरु-हवि में पेषण का [अचोदितत्वात्] विधान न होने से।

केवल पूषा देवतावाले चरु में पेषण होता है, इन्द्र और पूषावाले द्विदेवत्य चरु में नहीं होता; क्योंकि 'प्रपिष्टभागः' वचन पेषण को देवता का धर्म न कहकर याग का धर्म बताता है। यद्यपि चरु देवता के उद्देश्य से छोड़ा जाता है, पर इतने परित्यागमात्र से देवता का स्वामित्व उसपर स्थापित नहीं हो जाता। जो द्रव्य

जिसके निमित्त से दिया जाता है, उसके द्वारा स्वीकार कर लिये जाने पर ही उसका स्वामित्व स्थापित होता है। विभिन्न देवताओं को उद्देश करके अग्नि में आहुत हवि उन देवताओं के द्वारा स्वीकृत कर ली गई है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। जो जिसका सेवन करता है, वह उसका भाग होता है। देवता हवि का सेवन नहीं करते, इसलिए पिष्ट चरु पूषा का भाग नहीं है।

वस्तुस्थिति को ध्यान से देखा जाय, तो समस्त श्रौत नित्य याग जगत् के पूर्ण सर्गकालिक आधिदैविक यज्ञों की प्रतिकृति अथवा प्रतीक हैं।

आधिदैविक जगत् की दिव्यरूपात्मक देवियाँ = शक्तियाँ यज्ञों में स्व-स्वभाग को ग्रहण करती हैं। हम प्रत्यक्ष देखते हैं—आदित्य वा वायु पृथिवीस्थ जलों को ग्रहण करते हैं। इन्द्रदेव अन्तरिक्षस्थ जलों के मध्य में वर्त्तमान होकर उनको ग्रहण करता है। जलों का सूक्ष्म तत्त्व ही आधिदैविक सोम है। यही सोम आदित्य में जलकर उसे प्रदीप्त करता है। इस प्रकार सभी आधिदैविक देवता आधिदैविक यज्ञों में अपनी-अपनी हवियों को ग्रहण करते हैं। परन्तु उनका ग्रहण स्वार्थ के लिए नहीं होता है। वे उसे वापस रूपान्तर में लौटा देते हैं। इसी दान के कारण वे देवता कहाते हैं—'देवो दानात्' (निरुक्त, ७।१५)। यही रूप साधारण मनुष्य के स्वीकरण में और देवताओं के स्वीकरण में है।

यदि द्रव्ययज्ञों को स्थूल रूप में भी देखें, तो अग्नि अपने में हुत द्रव्य को स्वयं भक्षण न करके उसे अत्यन्त सूक्ष्म करके वायु आदि के सहयोग से दूर-दूर तक पहुँचाता है। उससे वायु और जल जो प्राणिजगत् के जीवनभूत हैं, शुद्ध करता है। चाहे आधिदैविक यज्ञ हो, चाहे द्रव्यमय यज्ञ, दोनों में अग्नि ही प्रमुख देव है, जो अपने में हुत पदार्थ को सब देवों के प्रति पहुँचाता है। इसीलिए कहा है—'अग्निर्वै देवानां दूतः' (श० ब्रा० १।४।१।३४)। [यु० मी०]

इस वस्तुस्थिति के अनुसार देवताओं द्वारा ग्रहण किये जानेवाले द्रव्य को—उनके द्वारा सेवन किया गया—माना जाता है; और पिष्ट चरु को पूषा का भाग कहा जाता है; तो भी पेषण देवता का धर्म नहीं हो सकता। यदि देवता का धर्म माना जाता है, तो पेषण निष्प्रयोजन होगा, क्योंकि वह याग का धर्म नहीं है। तात्पर्य है, पेषण याग में प्रयुक्त होने के लिए नहीं है, जबकि प्रत्येक हवि यागरूप प्रयोजन की पूर्त्ति के लिए तैयार किया जाता है। इसलिए पेषण को याग का धर्म मानना युक्त है।

शंका होती है—जहाँ प्रकरण में 'पूषा प्रपिष्टभागः' कहा है, वहाँ पूषा-देवतासम्बन्धी किसी याग का निर्देश नहीं है, तथा उक्त वचन पेषण का सम्बन्ध देवता के साथ बताता है, तब पेषण याग का धर्म कैसे होगा? वस्तुतः उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'भाग' पद ही आशंका को निरवकाश कर देता है। भाग पद का मुख्यवृत्ति से देवता के साथ सम्बन्ध नहीं है; याग के साथ भाग पद का सम्बन्ध

मुख्यवृत्ति से है। भाग पिष्ट हवि का है, हवि याग के लिए सिद्ध किया जाता है, अतः पेषण याग का धर्म होना सम्भव है।

यद्यपि 'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागः' वचन में देवता के साथ सम्बन्ध कहा गया है, पर जो जिसका सेवन करता है, वह उसका भाग होता है। देवता यागद्रव्य का सेवन नहीं करता। यागद्रव्य हवि का वास्तविक सेवन यागरूप में अग्नि करता है, पिष्ट हवि का भी। देवता से सम्बद्ध करने पर पेषण अनर्थक हो जाता है, जैसा प्रथम कहा जा चुका है। द्विदेवत्य चरुनिर्वाप में सम्मिलित देवता हैं। 'ऐन्द्रापौष्णश्चरुः' में इन्द्र और पूषा सम्मिलित देवता हैं। वहाँ न अकेला पूषा देवता है, और न चरु पूषा देवता के स्वत्व के साथ सम्बद्ध है। क्योंकि हवि के निर्वाप के समय 'इन्द्रापूषाभ्यां जुष्टं निर्वपामि' इन्द्र और पूषा सम्मिलित देवता के लिए हवि का निर्वाप किया जाता है। वहाँ अकेले पूषा देवता के न होने से चरु के पेषण का प्रश्न ही नहीं उठता ॥४४॥

'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' वचन के अनुसार 'अदन्तक' लिङ्ग से गत सूत्र [४२] द्वारा यह सिद्ध किया है कि पेषण देवता का धर्म होना चाहिए।

इस आशंका का सूत्रकार ने समाधान किया—

हेतुमात्रमदन्तत्वम् ॥४५॥

[अदन्तत्वम्] पूषा देवता का अदन्तक होना कहा जाना [हेतुमात्रम्] वास्तविक हेतु न होकर हेतु के समान प्रतीत होता हुआ केवल अर्थवाद है।

'अदन्तको हि' हेतु नहीं है। वस्तुतः 'दन्त' पद शरीरमात्र का उपलक्षण है। 'अदन्तक' कहकर देवताओं को अशरीरी बताया गया है। यह वस्तुस्थिति का अभिव्यञ्जन स्तुतिरूप अर्थवाद है। शास्त्र में ऐसे वचन स्तुतिरूप अर्थवाद होते हैं, यह मीमांसा-सूत्र [१।२।२६–३०] में प्रथम निश्चय किया गया है। 'शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते' [श० ब्रा० २।५।२।२३] वचन में 'तेन ह्यन्नं क्रियते' अंश जैसे हेतु के समान प्रतीयमान अर्थवादमात्र है, वैसे ही यहाँ 'अदन्तको हि' वचन देवताओं की अशरीरी स्थिति को प्रकट करता हुआ स्तुतिरूप अर्थवाद है ॥४५॥

'सौमापौष्णं नेमपिष्टं भवति' को भी पहले लिङ्ग बताया है, उस विषय में क्या समझना चाहिए? इस शिष्य-जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

वचनं परम् ॥४६॥

[परम्] अन्य कहा गया—'नेमपिष्टं भवति' लिङ्ग न होकर [वचनम्] विधिवाक्य है। तात्पर्य है—यह वचन सौमापौष्ण चरु में नेमपिष्टता का विधान

करता है।

वह वाक्य द्विदेवत्य चरु में अर्द्धपेषण को बतात है। 'अर्द्धं पिष्टं भवत्यर्द्धमपिष्टं द्विदेवत्याय' यह 'चरु का अर्धपेषण देवता का धर्म है' इस तथ्य को स्पष्ट करता है। इस विषय में वास्तविकता यह है कि ४४वें सूत्र के अनुसार सौमापौष्ण चरु में पेषण अप्राप्त होता है, वहाँ पर यह वचन नेमपिष्टता का विधान करता है। इसमें जो वाक्यभेद-दोष को उभारा गया है, वह आंशिक कथन है। जहाँ एक वाक्य से दो अर्थों को अभिव्यक्त करना अपेक्षित होता है, वहाँ वाक्यभेद-दोष को अनादृत कर दिया जाता है, और एक वाक्य से अनेक अर्थों का विधान मानना पड़ता है, अन्यथा नेमपिष्टता का कथन निरर्थक हो जायगा। अतः द्विदेवत्य चरु में पूर्ण पेषण नहीं होता, यह सिद्ध है ।।४६।। (इति पौष्णपेषणस्यैकदेवत्ये निवेशाधिकरणम्—१५)।

इति जैमिनीय मीमांसासूत्राणां विद्योदयभाष्ये
तृतीयाऽध्यायस्य तृतीयः पादः।

तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः

गत तृतीय पाद द्वारा दर्श-पूर्णमास प्रकरण के तैत्तिरीय संहिता-स्थित कतिपय सन्दिग्ध स्थलों के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया गया। उसी प्रसंग को चालू रखते हुए दर्श-पूर्णमास प्रकरण में अन्य पाठ है—'निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितॄणामुपवीतं देवानाम्, उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते' [तै० सं० २।५।११]। निवीत=ग्रीवा (गर्दन) में दोनों ओर आगे को लटकाते हुए यज्ञोपवीत धारण करना मनुष्यों का, प्राचीनावीत=बाईं बाँह से बाहर निकालकर दाएँ कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण करना पितरों का, उपवीत=दाईं बाँह बाहर निकालकर बाएँ कन्धे पर धारण करना देवों का चिह्न है। जो उपव्यान=दाईं बाँह को बाहर निकालकर बाएँ कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण करता है, वह देवों के चिह्न को प्रकट करता है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—इसमें सन्देह है—क्या 'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन विधि है? अथवा अर्थवाद है? और जब यह विधि है, तब क्या पुरुष का धर्म=अङ्ग है अथवा कर्म का अङ्ग है? और फिर 'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन जिस प्रकरण में पठित है, वहाँ जो मनुष्य-सम्बन्धी कर्म हैं, उनमें यह विधि है? अथवा मनुष्यप्रधान कर्म में इसका निवेश है?

उक्त वाक्य-सम्बन्धी सन्देह-स्थल में तीन विकल्प हैं—

१. यह विधिवचन है? अथवा अर्थवाद है?

२. यदि विधि है, तब क्या यह पुरुष का धर्म है? अथवा कर्म का? तात्पर्य है—जिस दर्शपूर्णमास प्रकरण में यह पठित है, वहाँ मनुष्य-सम्बन्धी कर्म अन्वाहार्य पाक है। यह पाक क्योंकि ऋत्विजों के भक्षण के लिए होता है, अतः यह पाक दैवकर्म का भाग नहीं है; मनुष्य द्वारा पाक किया जाता है ऋत्विजों के लिए, यज्ञ के लिए नहीं। तब क्या इसी का विधान यह वचन करता है?

३. अथवा पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत मनुष्यप्रधान-कर्म आतिथ्य है। क्या यह विधिवचन उसका विधायक माना जाय?

प्रथम विकल्प को लक्ष्य कर शिष्य का कहना है—यह विधिवाक्य होना चाहिए, क्योंकि यह एक अपूर्व अर्थ का विधान करता है। शिष्य-सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष-रूप में सूत्रित किया—

निवीतमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥१॥

[निवीतम्] निवीत [इति] यह [मनुष्यधर्मः] मनुष्य का धर्म = अङ्ग है। [शब्दस्य] 'निवीतं मनुष्याणाम्' इस शब्द के [तत्प्रधानत्वात्] मनुष्यप्रधान होने के कारण।

'निवीतं मनुष्याणाम्' यह विधायक वाक्य है। अपूर्व अर्थ का विधान करता हुआ यह सप्रयोजन होता है। यदि इसे अर्थवाद कहा जाय, तो यह निरर्थक होगा; क्योंकि ऐसा कोई अर्थ विहित नहीं है, जिसकी यह स्तुति करे। अतः विधि मानने पर यह पुरुष का धर्म है, अर्थात् पुरुष निवीत धारण करे, इसका विधान करता है, इस रूप में यह पुरुष का अङ्ग है। पुरुष के लिए निवीत धारण करने का विधान होने से उसका अङ्ग है। उक्त वाक्य में मनुष्य का विधान न होकर मनुष्य के निवीत-धारण का विधान है। निवीत-धारण पुरुष का अङ्ग तभी होगा, जब पुरुष के लिए उनका विधान माना जाय, क्योंकि निवीत-धारण मनुष्यों का उपकारक है।

दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित होने से दर्श-पूर्णमास याग उपकारक कहना युक्त न होगा; क्योंकि प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है; क्योंकि वाक्य साक्षात् निवीत-धारण को (= निवीतं मनुष्याणाम्) मनुष्य-सम्बन्धी कर्म बतला रहा है। फलतः यही समझना चाहिए कि उक्त वाक्य निवीत-धारण का विधि है, और यह मनुष्य-धर्म है ॥१॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—

अपदेशो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद पूर्वोक्त पक्ष के निवारण के लिए है। तात्पर्य है—'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन का प्रवेश मनुष्यप्रधान-कर्म में नहीं होता; अर्थात् यह वाक्य किसी अपूर्व अर्थ का विधायक नहीं है; अपितु [अपदेशः] पहले से ज्ञात अर्थ का ही कहनेवाला वचन है, [अर्थस्य] निवीत-धारणरूप अर्थ के [विद्यमानत्वात्] प्रथमतः विद्यमान होने से। लोक में प्रायः सभी मनुष्य स्वतः निवीत धारण करते हैं; उसके लिए विधि अनावश्यक है।

उक्त वचन लोकप्रसिद्ध अर्थ का कथन करता है, किसी अपूर्व अर्थ का नहीं, जिसके कारण इसे विधि माना जाय। लोक में प्रायः सभी मनुष्य अपने कर्म में

प्रवृत्त होने के लिए निवीत धारण करते हैं। उसी का अनुवादमात्र यह वचन है, अपूर्व विधि नहीं ॥२॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—लोक में निवीत-धारण प्रायोवादमात्र है, उक्त वाक्य उसको व्यवस्थित करता है। तब इसे अपूर्व विधि क्यों न माना जाय ?

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

विधिस्त्वपूर्वत्वात् स्यात् ॥३॥

[तु] सूत्र में 'तु' पद निश्चय अर्थ का द्योतक है। [विधिः-तु] 'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन विधि ही [स्यात्] है, [अपूर्वत्वात्] अपूर्व अर्थ का विधायक होने से।

यह ठीक है कि कर्म में प्रवृत्त होने के अवसर पर प्रायः मनुष्य निवीत धारण करते हैं, पर उसकी अनुल्लंघ्यता लोक में नहीं है; इसका उल्लंघन भी देखा जाता है। उक्त वाक्य निवीत-धारण की अनुल्लंघ्यतारूप व्यवस्था का विधान करता है। निवीत-धारण की अनुल्लंघ्यता = नियमित व्यवस्था लोक से प्राप्त नहीं है। इसी अपूर्व अर्थ का विधान उक्त वाक्य करता है, अतः उसे विधि मानना युक्त है ॥३॥

शिष्य इसमें पुनः सुझाव प्रस्तुत करता है—निवीत-धारण को पुरुष का धर्म नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वस्तुतः यह पुरुष को उपकृत नहीं करता; प्रत्युत उस कर्म को उपकृत करता है, जिस कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने के लिए पुरुष ने निवीत धारण किया है।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-सुझाव को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

स प्रायात् कर्मधर्मः स्यात् ॥४॥

[सः] वह निवीत-धारण [प्रायात्] दर्शपूर्णमास प्रकरण के कर्मबहुल प्रदेश में उपदिष्ट होने के कारण अथवा उस कर्म के लिए—उस कर्म की पूर्णाङ्गता के लिए—होने के कारण [कर्मधर्मः] कर्म का धर्म = अङ्ग [स्यात्] होना चाहिए।

मनुष्य द्वारा निवीत धारण करके कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होना कर्म में अपूर्व धर्म-विशेष का उत्पादक होता है; अतः उसे (निवीत-धारण को) कर्म का अङ्ग मानना युक्त है। वह कर्म में अपूर्व का उत्पादन कर कर्म को उपकृत करता है; तब उसी का अङ्ग माना जाना चाहिए। दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित है, दर्श-पूर्णमास क्रतु के पूर्णाङ्ग अनुष्ठान के लिए निवीत धारण किया जाता है, तब उस क्रतु का अङ्ग मानने में कोई बाधा नहीं है ॥४॥

केवल क्रतु का नहीं, अपितु इसे वाक्यशेष—अर्थात् दर्शपूर्णमास-प्रकरण-पठित निवीत-धारण का—'आध्वर्यव' नाम होने से क्रतुयुक्त मनुष्य-धर्म मानना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को सूत्रित किया—

वाक्यशेषत्वात् ॥५॥

सूत्र के 'शेष' पद से यहाँ [३।३।१४] सूत्र में बताये गये श्रुति आदि छह विधि-विनियोग कारणों में से अन्तिम 'समाख्या' प्रमाण का ग्रहण है। इसके अनुसार सूत्रार्थ है—[वाक्यशेषत्वात्] 'निवीतं मनुष्याणाम्' इस वाक्य का शेष=समाख्या अर्थात् नाम 'आध्वर्यव' होने से ज्ञात होता है, निवीत-धारण अध्वर्यु को करना चाहिए।

दर्शपूर्णमास प्रकरण में उक्त वाक्य पठित है। यदि दर्शपूर्णमास की समाख्या 'आध्वर्यव' है, तो अध्वर्यु के निवीत धारण करने में उक्त वाक्य का विनियोग मानना चहिए। फलतः दर्शपूर्णमास क्रतुयुक्त मनुष्य-धर्म निवीत-धारण है, यह मान्यता युक्त है। इससे प्रकरण और समाख्या अनुगृहीत होते हैं ॥५॥

शिष्य ने पुनः जिज्ञासामूलक अन्य पक्ष प्रस्तुत किया—दर्शपूर्णमास प्रकरण में अन्वाहार्यपाक पठित है, निवीत-धारण करके अध्वर्यु द्वारा वह पाक सिद्ध किया जाता है। तब 'निवीतं मनुष्याणाम्' विनियोग प्रकरणस्थित मनुष्य-प्रधान कर्म में क्यों न माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-भावना को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

तत्प्रकरणे यत् तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात् ॥६॥

[तत्प्रकरणे] दर्शपूर्णमास के प्रकरण में [यत्] जो अन्वाहार्यपाक आदि पठित है [तत्संयुक्तम्] उससे संयुक्त अर्थात् निवीत-धारण को उसका अङ्ग होना चाहिए, [अविप्रतिषेधात्] प्रकरण और समाख्या का इस मान्यता के साथ विप्रतिषेध=विरोध न होने से। तात्पर्य है—अन्वाहार्यपाक अध्वर्युकर्तृक है, और दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित भी है। अतः यह प्रकरणस्थ मनुष्यप्रधान कर्म का धर्म है, यह मानना अधिक युक्त है।

यद्यपि प्रकरण और समाख्या के आधार पर निवीत-धारण कर्म का धर्म ज्ञात होता है, 'निवीतं मनुष्याणाम्' वाक्य से साक्षात् मनुष्य का धर्म जाना जाता है, फिर भी विरोध-परिहार के लिए इसका अन्यत्र उत्कर्ष करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि प्रस्तुत प्रकरण में ही मनुष्यप्रधान अन्वाहार्यपाक पठित है, जो अध्वर्यु द्वारा सम्पन्न किया जाता है। अतः उक्त वाक्य का विनियोग निवीत धारण कर अध्वर्यु द्वारा साध्य अन्वाहार्यपाक-कर्म में होना चाहिए। इससे

प्रकरण और वाक्य दोनों अनुगृहीत होंगे। फलतः दर्श-पूर्णमासप्रकरण-स्थित मनुष्यप्रधान कर्म का इसे धर्म मानना युक्त है ॥६॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—प्रकरण-स्थित मनुष्यप्रधान कर्म में उक्त विधिवाक्य का विनियोग कहना निर्बाध नहीं है। क्योंकि पूरे सन्दर्भ में सभी वाक्य समानरूप से पठित हैं, इसलिए प्राचीनावीत और उपवीत के यथाक्रम पितृकर्म और देवकर्म में सम्बन्ध के समान निवीत का सम्बन्ध भी मनुष्यप्रधान कर्म के साथ मानना होगा। तब जहाँ निरपेक्ष मनुष्यप्रधान कर्म होगा, वहाँ इसका उत्कर्ष मानना ही चाहिए। शिष्य-भावना को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष-रूप में सूत्रित किया—

तत्प्रधाने वा तुल्यवत् प्रसंख्यानादितरस्य तदर्थत्वात् ॥७॥

[वा] 'वा' पद प्रस्तुत प्रकरण में 'निवेश' पक्ष के प्रतिषेध का द्योतक है। [तत्प्रधाने] 'निवीतं मनुष्याणाम्' का निरपेक्ष मनुष्यप्रधान कर्म में सम्बन्ध होना चाहिए, [तुल्यवत्] समान रूप से [प्रसंख्यानात्] कथन होने के कारण। 'प्राचीनावीतं पितृणाम्, उपवीतं देवानाम्' के साथ 'निवीतं मनुष्याणाम्' का समान रूप से कथन हुआ है; इसलिए प्राचीनावीत और उपवीत से [इतरस्य] इतर=अन्य—निवीत का [तदर्थत्वात्] उसी के लिए होने से, अर्थात् मनुष्य के ही लिए होने के कारण निवीत का मनुष्यप्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध होना सर्वथा योग्य है।

दर्श-पूर्णमास प्रकरण में प्रस्तुत विवेचन-सम्बन्धी पूर्ण पाठ है—निवीतं मनुष्याणाम्, प्राचीनावीतं पितृणाम्, उपवीतं देवानाम्' यहाँ ये तीनों वाक्य समान रूप से पढ़े हैं। इनमें से जिस प्रकार प्राचीनावीत का पितृकर्म में, तथा उपवीत का दर्शपूर्णमास आदि देवकर्म में सम्बन्ध माना जाता है, उसी प्रकार निवीत का सम्बन्ध भी निरपेक्ष मनुष्यप्रधान कर्म के साथ मानना होगा। तब प्रकरणस्थित सापेक्ष अन्वाहार्यपाक आदि मनुष्यप्रधान कर्म के साथ निवीत का सम्बन्ध न मान-कर निरपेक्ष मनुष्यप्रधान कर्म देखना होगा, जहाँ इसका सम्बन्ध माना जाय। वह पञ्चमहायज्ञ के अन्तर्गत निरपेक्ष मनुष्यप्रधान आतिथ्य-कर्म है। वहीं निवीत का उत्कर्ष करना योग्य होगा। 'मनुष्याणाम्' षष्ठी विभक्ति का निर्देश निवीत के साथ मनुष्य का साक्षात् सम्बन्ध प्रकट करता है, जैसे समान पठित अन्य दोनों वाक्यों में स्वीकार किया गया है। अतः वाक्य-प्रकरण को बाधकर निवीत-धारण का निवेश अतिथि-कर्म में करेगा। फलतः दर्श-पूर्णमास से निवीतधारण का अन्यत्र उत्कर्ष उचित है।

चतुर्थ पाद के इन प्रारम्भिक सात सूत्रों में पूर्वनिर्दिष्ट तीन विकल्पों के मूल

में पाँच पक्ष प्रस्तुत किये गये हैं, जिनमें 'निवीतं मनुष्याणाम्' को विधि मानकर उसे (१) मनुष्यधर्म, (२) कर्मधर्म, (३) दर्श-पूर्णमासकर्मयुक्त मनुष्य-धर्म, (४) दर्श-पूर्णमास प्रकरणस्थित मनुष्यप्रधान कर्म का धर्म; (५) प्रकरण से अन्यत्र आतिथ्यादि मनुष्यकर्म का धर्म प्रकट किया गया है।

पहले तीन सूत्रों में प्रथम पक्ष पर विचार है। चौथे सूत्र से दूसरा पक्ष, पाँचवें सूत्र से तीसरा पक्ष, छठे सूत्र से चौथा पक्ष, सातवें सूत्र से पाँचवाँ पक्ष प्रस्तुत किया गया है। सिद्धान्त की दृष्टि से ये सब पूर्वपक्ष हैं। सिद्धान्त-पक्ष अगले दो सूत्रों द्वारा प्रस्तुत है ॥७॥

इस लम्बे पूर्वपक्ष का आचार्य सूत्रकार ने समाधान अगले सूत्र द्वारा प्रस्तुत किया—

अर्थवादो वा प्रकरणात् ॥८॥

[वा] 'वा' पद पूर्वोक्त 'मनुष्यप्रधान कर्म-विषयक विधि' पक्ष के निराकरण का द्योतक है। तात्पर्य है—'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन मनुष्यप्रधान कर्म का विधायक नहीं है, [प्रकरणात्] प्रकरण-सामर्थ्य से, अतः [अर्थवादः] अर्थवाद है।

'निवीतं मनुष्याणाम्' यह वचन विधि नहीं है; मनुष्यप्रधान कर्म का विधान करता है, अथवा मनुष्यप्रधान कर्म में यह विनियुक्त है,—ऐसा भी नहीं है। 'मनुष्याणाम्' षष्ठी विभक्ति से मनुष्य-सम्बन्ध तो जाना जाता है, पर मनुष्यप्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध का यहाँ कोई निर्देश या संकेत नहीं है। यदि इस वचन का सम्बन्ध मनुष्यप्रधान कर्म में स्वीकार किया जाता है, तो निवीत-धारण कर्म के फल की कल्पना करनी होगी, क्योंकि विधिवचन का कोई फल अवश्य मान्य होता है, जिसका प्रकरण में कोई निर्देश नहीं है। अतः जहाँ पञ्च-महायज्ञ आदि के प्रसंग में मनुष्यप्रधान कर्म आतिथ्य का कथन है, उसके साथ सम्बन्ध के लिए इस वचन का उत्कर्ष करना पड़ेगा; इससे प्रकरण बाधित होगा। उत्कर्ष करना तभी युक्त माना जाता है, जब प्रकरण में सामञ्जस्य सम्भव न हो। 'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन को विधि न मानकर अर्थवाद मानने पर प्रकरण में उपयोग स्पष्ट है। 'उपव्ययते'=देवकर्म में उपवीत धारण करता है, इस विधि का यह स्तुतिरूप अर्थवाद है। इस मान्यता में कोई बाधा नहीं है ॥८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—प्रकरण में ही उक्त वचन को अन्वाहार्यपाक-कर्म का विधायक मानकर न प्रकरण बाधित होता है, न उत्कर्ष करना पड़ता है। इस मान्यता को क्यों न स्वीकार किया जाय ?

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

विधिना चैकवाक्यत्वात् ॥९॥

[विधिना] 'उपव्ययते' विधिवचन के साथ [एकवाक्यत्वात्] 'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन की एकवाक्यता होने के कारण [च] भी 'निवीतं' वचन विधि नहीं है।

एक विधिवचन के साथ दूसरे विधिवचन की एकवाक्यता नहीं होती; क्योंकि प्रत्येक विधिवचन अपने विशिष्ट अर्थ का विधान करता है, जो अन्य वचन से प्राप्त नहीं होता। यदि दो विधिवचनों की एकवाक्यता मानी जाय, तो वाक्य-भेद-दोष प्राप्त होगा। क्योंकि विचार्यमाण सन्दर्भ में 'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन की 'उपव्ययते' विधिवचन के साथ एकवाक्यता है, अतः निवीतवचन विधि मानना सम्भव नहीं। प्रकरण के अन्तर्गत ही निवीत-धारण को अन्वाहार्यपाक-कर्म का धर्म कहकर निवीत-वचन को विधि बताना संगत नहीं है। इससे एकवाक्यता बाधित होगी।

'निवीतं मनुष्याणाम्, प्राचीनावीतं पितृणाम्, उपवीतं देवानाम्, यत् उपव्ययते देवलक्ष्मैव तत्कुरुते' इस सन्दर्भ में अन्तिम वाक्य विधि है। दर्श-पूर्णमास देवकर्म-प्रसंग में जनेऊ का उपवीतरूप में धारण करने का विधान करता है। 'निवीतं मनुष्याणाम्' यह लोकसिद्ध अर्थ का अनुवाद है। यहाँ इसका पुनःकथन 'उपवीत धारण' की स्तुति के लिए है। दर्श-पूर्णमास दैव-याग-कर्म में निवीत-धारण अयोग्य है। प्राचीनावीत-धारण पितृकर्म में होता है, वह भी देवकर्म में अयोग्य है। इसलिए देवकर्म में उपवीत धारण करना चाहिए। देवकर्म में निवीत-आदि की अयोग्यता बताकर उपवीत-धारण की स्तुति की गई है।

यह ऐसा ही कथन है, जैसे लोक में कहा जाता है—यह चैत्र ने नटों जैसा वेष धारण किया है; देवदत्त का वेष ब्राह्मणों जैसा है। पहले वेष के कथन से दूसरे की स्तुति होती है। इसी प्रकार देवकर्म में उपवीत की प्रशंसा के लिए निवीत आदि का संकीर्त्तन है। 'निवीतं मनुष्याणाम्' वचन में कोई विधायक पद नहीं है। इसलिए 'उपव्ययते' विधि के स्तुति-प्रयोजन से यह वचन प्रकरण में ही अर्थवान् है। इसी रूप में निवीत-वचन 'उपव्ययते' से सम्बद्ध है। इससे न वाक्य का कोई विरोध है, और प्रकरण भी अबाधित व सार्थक रहता है। फलतः देव-कर्म में उपवीत ही प्रशस्त है। दर्श-पूर्णमास आदि देवकर्मों में उपवीत ही धारण करना चाहिए, यह प्रमाणित होता है ॥९॥ (इति निवीतस्यार्थवादताऽधिकरणम्—१)।[1]

---

१ शबर स्वामी के अनन्तरकालवर्त्ती कुमारिल भट्ट आदि आचार्यों ने अपनी रचनाओं में यहाँ छह अन्य सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत की है। उन सूत्रों के

(दिग्विभागस्थाऽनुवादताधिकरणम्—२)

ज्योतिष्टोम के प्रकरण में तैत्तिरीय संहिता [६।१।१] का पाठ है—"देव-मनुष्या दिशो व्यभजन्त प्राचीं देवा दक्षिणां पितरः प्रतीचीं मनुष्या उदीचीं रुद्राः"[1] देव और मनुष्यों ने दिशाओं को बाँट लिया; पूर्व दिशा को देवों ने, दक्षिण दिशा को पितरों ने, पश्चिम दिशा को मनुष्यों ने, उत्तर दिशा को रुद्रों ने प्राप्त किया। शाबरभाष्य के पाठ के अनुसार उत्तर दिशा को असुरों ने प्राप्त किया। प्रस्तुत प्रसंग में केवल 'प्रतीचीं मनुष्याः' अंश को लक्ष्य कर विवेचन किया गया है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—इसमें निम्न प्रकार सन्देह हैं—क्या 'प्रतीचीं मनुष्याः' यह विधि है? अथवा अर्थवाद है? यदि विधि है, तो क्या यह मनुष्य-धर्म है? अथवा कर्म का धर्म है? यदि मनुष्य-धर्म है, तो क्या प्रकरण-पठित मनुष्यप्रधान कर्म में इसका निवेश माना जाय? अथवा प्रकरणान्तर पठित आतिथ्य कर्म में?

गत अधिकरण का अतिदेश करते हुए आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

विभागश्च तद्वत् सम्बन्धस्यार्थहेतुत्वात् ॥१०॥

[विभागः] दिशाओं का विभाग=बँटवारा [च] भी [तद्वत्] निवीत के समान जानना चाहिए, [सम्बन्धस्य] प्रतीची दिशा के साथ मनुष्य-सम्बन्ध के [अर्थहेतुत्वात्] प्रयोजनरूप हेतु होने से। तात्पर्य है—पश्चिम दिशा के साथ मनुष्य-सम्बन्ध में—उसका प्रयोजन पूरा होना—हेतु है।

विषय में आचार्यों के विभिन्न विचार हैं—

(क) भाष्यकार शबर स्वामी ने इन सूत्रों का भाष्य किया था, वह किसी कारण खण्डित हो गया।

(ख) निरर्थक होने से भाष्यकार ने व्याख्या की उपेक्षा कर दी।

(ग) ये सूत्र अनार्ष हैं, जैमिनि की रचना नहीं हैं।

यह विचार अधिक युक्त प्रतीत होता है। शबर-काल तक इन सूत्रों का अस्तित्व न था। सूत्र थे, शबर ने भाष्य किया; वह खण्डित हो गया इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है। यदि भाष्यकार के समय सूत्र होते, और उन्हें फल्गु समझकर भाष्यकार उनपर भाष्य लिखने की उपेक्षा करता, तो इसका ही उल्लेख भाष्यकार कर देता। इन सूत्रों पर शबर स्वामी का कुछ भी निर्देश न होने से यह निश्चित है—शबर स्वामी के समय इन सूत्रों का अस्तित्व न था। अनन्तर-काल में कब मिलाये? किसने मिलाये? क्यों मिलाये? यह सब अन्वेष्य है।

१. 'उदीचीं रुद्राः' के स्थान पर शाबरभाष्य में 'उदीचीमसुराः' पाठ है।

गत सातवें सूत्र की व्याख्या में निवीत के पाँच पक्ष दिखाये गये हैं। उसी के समान दिग्विभाग के भी यहाँ पूर्वपक्षरूप में पाँच पक्ष समझने चाहिएँ :

(१) मनुष्य धर्म, (२) कर्म धर्म, (३) ज्योतिष्टोमकर्मयुक्त मनुष्य-धर्म, (४) ज्योतिष्टोम में मनुष्यप्रधान कर्म = दक्षिणादान का धर्म, (५) भिन्न वाक्य होने के कारण प्रस्तुत प्रकरण से अन्यत्र आतिथ्य आदि कर्म का धर्म। इनका निराकरण करते हुए 'प्राचीनवंशं करोति' विधि का यह स्तुतिरूप अर्थवाद है,—यह सिद्धान्त-पक्ष स्पष्ट किया है।

उक्त वाक्य से पहले संहिता में 'प्राचीनवंशं करोति' यह 'प्राचीनवंश' नामक मण्डप-निर्माण का विधि-वचन है। चारों दिशाओं की ओर इस मण्डप के चार द्वार होते हैं। मण्डप-निर्माण के लिए ऊपर मगज में जो मुख्य बाँस डाला जाता है, वह उत्तर-दक्षिण होता है। यह मानव-मण्डप है। साधारण निवास के लिए किसी भी गृह या शाला का रुख उत्तर-दक्षिण—कुछ पूर्व व पच्छिम को झुका हुआ रक्खा जाय, तो वह घर सर्वर्तु सुख होता है। देव-मण्डप के निर्माण में मुख्य बाँस पूर्व-पच्छिम होता है। इसी के लिए 'प्राचीनवंशं करोति' विधि है।

प्रधान याग में यजमान को दीक्षित करने के लिए इस मण्डप का उपयोग होता है। यजमान, ऋत्विज् तथा देव-सम विद्वानों का मण्डप में प्रवेश पूर्व-द्वार से होता है, दक्षिण-द्वार से अन्य पितृ-सम मान्य वृद्धजनों का, पश्चिम-द्वार से अन्य पारिवारिक, इष्ट मित्र आदि जन, उत्तर-द्वार से अन्य कार्यकर्त्ता आदि। शाबरभाष्य के अनुसार 'रुद्र' के स्थान में 'असुर' पद के पाठ का तात्पर्य यही है कि इस द्वार से चतुर्थ श्रेणी के सेवक आदि क्षुद्र जन प्रवेश करें। यह सब मण्डप में यथास्थान बैठने की व्यवस्था का रूप है। इसी कारण यह वाक्य 'प्राचीनवंशं करोति' विधि का स्तुतिरूप अर्थवाद है। 'प्राचीं देवाः' इत्यादि समस्त सन्दर्भ की एकवाक्यता 'प्राचीनवंशं करोति' विधि के साथ स्पष्ट है। 'प्रतीचीं मनुष्याः' आदि सन्दर्भ को प्राचीनवंश विधि का अर्थवाद मानने पर प्रकरण भी अनुगृहीत होता है ॥१०॥ (इति दिग्विभागस्यानुवादताधिकरणम्—२)।

(परुषिदितादीनामनुवादताऽधिकरणम्—३)

(१) चातुर्मास्य याग के अन्तर्गत तैत्तिरीय ब्राह्मण [१।६।८] के महापितृ-यज्ञ प्रसंग में पाठ उपलब्ध है—'यत् परुषि दितं[1] तद्देवानाम्, यदन्तरा तन्मनुष्या-

---

१. ब्राह्मण में 'दितं' के स्थान पर 'दिनं' पाठ उपलब्ध है, जो छान्दस ही समझना चाहिए। यह भी सम्भव है, जिस हस्तलिखित प्रति से सर्वप्रथम ब्राह्मण मुद्रित कराया गया, उसमें लिपिकार ने भ्रमवश 'दितं' के स्थान पर 'दिनं' लिपि कर दिया हो।

णाम्, यत् समूलं तत् पितृणाम्' जिन कुशाओं को जड़ से ऊपर की पहली गाँठ से काटा जाता है, वे दोनों की; जिनको जड़ और गाँठ के मध्य भाग से काटा जाता है, वे मनुष्यों की; तथा जिनको समूल काटा जाता है, वे पितरों की होती हैं। इसी के आगे विधिवाक्य पठित है—'समूलं बर्हिर्भवति व्यावृत्यै'—कुशा समूल काटनी चाहिए, न्यूनता आदि दोष निवारण के लिए।

(२) इसी प्रसंग में 'पितृभ्योऽग्निष्वातेभ्योऽभिवान्याः गोर्दुग्धे मन्थम्' अग्नि-कर्म-विशेषज्ञ पितरों के लिए मृतवत्सा (जिसको अन्य वत्स के सहारे दुहा जाता है, ऐसी अभिवानी) गाय के दूध में यवपिसान (=सत्तू) डालकर मन्थ बनाया जाता है। इस प्रकार मन्थन का उपक्रम कर, आगे पाठ है—'यत् पूर्णं तन्मनुष्याणाम्, उपर्यर्धो देवानाम्, अर्धः पितृणाम्'—जो दूध से भरे पात्र में मन्थन किया जाता है, वह मनुष्यों का; जो आधे से कुछ ऊपर तक भरे पात्र में मन्थन है, वह देवों का; तथा जो आधे भरे पात्र में मन्थन है, वह पितरों का होता है। इसके अनन्तर वहाँ विधिवाक्य पठित है—'अर्ध उपमन्थति अर्धो हि पितृणाम्' आधे के लगभग भरे पात्र में मन्थन करे, क्योंकि वह पितरों के लिए है।

(३) दर्श-पूर्णमास प्रकरणगत आग्नेय पुरोडाश के पाक-प्रसंग में तैत्तिरीय संहिता [२।६।३] का पाठ है—'यो विदग्धः स नैर्ऋतः, योऽश्रृतः स रौद्रः, यः श्रृतः स सदेवः; तस्मादविदहता श्रृतंकृत्यः सदेवत्वाय' पकाते हुए जो पुरोडाश जल जाय, वह निर्ऋति देवता का है; जो कच्चा रह जाय, वह रुद्रदेवता का; जो ठीक पका है, वह देवों के लिए है। इसलिए पुरोडाश ठीक पकाना चाहिए, जो न जले न कच्चा रहे; वह देव-सम्बन्ध के लिए होता है,—यह विधिवाक्य पठित है।

(४) ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत यजमान को दीक्षित किए जाने के प्रसंग में स्नान के अवसर पर तैत्तिरीय संहिता [६।१।१] में पाठ है—'घृतं देवानाम्, मस्तु पितृणाम्, निष्पक्वं मनुष्याणाम्'—घृत देवों का है, मस्तु पितरों का, निष्पक्व मनुष्यों का। इसके आगे पाठ है—'तद्वा एतत् सर्वदेवत्यं यन्नवनीतम्, यन्नवनीतेनाभ्यङ्क्ते सर्वा एव देवताः प्रीणाति' यह जो नवनीत है, सब देवताओं के साथ सम्बद्ध है; जो नवनीत से अभ्यञ्जन (=सिर से पाँव तक मर्दन) करता है, वह सब देवताओं को प्रसन्न करता है। 'तस्मान्नवनीतेनाभ्यङ्क्ते' इसलिए नवनीत से अभ्यञ्जन करे,—यह विधिवाक्य अन्त में पढ़ा है।

प्रस्तुत प्रसंग में 'घृत, मस्तु, निष्पक्वम्' पदों के अर्थ स्पष्ट नहीं हैं। आचार्यों ने इन पदों के जो विवरण दिए हैं, वे भी सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिए, लोक व वैदिक साहित्य में घी के लिए 'घृत' सामान्य पद है, यह चाहे अपनी किसी अवस्था में हो। मुख्यतः इसकी दो अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था है—दही बिलोकर निकला हुआ स्नेहभाग। यह डली या लौंदे की शक्ल में ढीला

जमा हुआ रहता है। इसका नाम 'नवनीत' है। इसी को चालू भाषा में 'मक्खन'[1] कहा जाता है। इसमें छाछ का थोड़ा अंश मिश्रित रहता है। वातावरण की उष्णता पाकर जब यही कुछ अधिक ढीला—बहने योग्य हो जाय, तब इसका नाम 'मस्तु' है। कोषों[2] में 'मस्तु' पद का प्रयोग छाछ के लिए आता है। छाछमिश्रित ढीला बहता हुआ नवनीत 'मस्तु' समझना चाहिए। नवनीत के लिए एक अन्य पद 'हैयङ्गवीन' है। यह एक दिन अधिक रक्खे हुए बासी दही से निकाला जाता है। जो सद्यस्क=ताजा दही से निकाला जाय, वह 'नवनीत' है। यही दोनों का अन्तर है। वैदिक वाङ्मय के यागीय प्रसंगों में 'हैयङ्गवीन' का उल्लेख नहीं मिलता।

घी की दूसरी अवस्था 'निष्पक्व' है। नवनीत को आग पर अच्छी तरह पकाकर—जब उसका छाछ-अंश सर्वथा जल जाय—कपड़े आदि से छानकर रख लिया जाता है। इसमें अपना स्वाभाविक सुरभिगन्ध रहता है। पकाते समय यदि उसमें नींबू के दो-चार हरे पत्ते अथवा मेथी के परिमित दाने डाल दिए जायें, तो उसमें कुछ विशेष सुरभिगन्ध उभर आता है। यह पका हुआ घी पूर्ण तरल अवस्था में 'आज्य' अथवा 'हवि' है। पूर्ण जमी अवस्था में 'घृत' है। कुछ ढीली-गाढ़ी बहती अवस्था में 'आयुत' है।

मीमांसा-ग्रन्थों में इन भेदों को बताने के लिए एक प्राचीन श्लोक उद्धृत उपलब्ध होता है—

सर्पिर्विलीनमाज्यं स्याद् घनीभूतं घृतं विदुः।
विलीनार्धमायुतं तु नवनीतं यतो घृतम्॥

पिघला हुआ 'सर्पि' तथा आज्य कहा जाता है। इसमें और वैशिष्ट्य देखना चाहें, तो जो कुछ गाढ़ा पिघला हुआ है, वह सर्पि है, तथा जो पूरा पिघला हुआ, नितान्त तरल है, वह आज्य है। जो पूर्ण जमा हुआ है वह घृत है। अधपिघला 'आयुत' है। आग पर गरम करके जिससे घी बनाया जाता है, वह 'नवनीत' है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में 'मस्तु' का अर्थ 'दही में सीमित जल मिलाकर अधबिलोई अवस्था' किया है।

---

१. आजकल कच्चे दूध को मथकर जो क्रीम निकाला जाता है, वह लौंदे की शक्ल में नहीं होता। उसे बाद में जमाकर टिकियाँ बना दी जाती हैं, जो मक्खन के नाम से बाजार में बिकता है। प्रस्तुत प्रसंग में उसकी चर्चा नहीं है।

२. आप्टे का संस्कृत-हिन्दी कोष। अमरकोश और उसकी रामाश्रमी टीका के अनुसार 'मस्तु' उस पानी का नाम है, जो दही को कपड़े में छानकर अलग किया जाता है। 'मण्डं दधिभवं मस्तु'। परन्तु यहाँ यज्ञिय प्रसंग में सहयोगी पदों के सामञ्जस्य से घृत की कोई अवस्था 'मस्तु' होनी चाहिए।

संख्या ४ पर निर्दिष्ट तैत्तिरीय संहिता के प्रारम्भिक वचनों में 'नवनीत' का उल्लेख नहीं है; पर आगे विधिवाक्य में नवनीत का उल्लेख है। अर्थवाद की दृष्टि से इसका सामञ्जस्य कैसे होगा ? विचारणीय है। दीक्षा के प्रकरण में यजमान के स्नान के अवसर पर यह विधि है; तब यह भी विचारणीय है कि यजमान को किस वर्ग में रक्खा जाय ? क्योंकि सन्दर्भ में 'देव, पितर, मनुष्य' तीन का ही निर्देश है। इन तीन में से किसके साथ यजमान को रक्खा जाय ?

गत अधिकरण में प्राचीनवंश देवमण्डप में प्रवेश के अवसर पर यजमान को ऋत्विज् और देव-सम विद्वानों के साथ रक्खा है। यजमान के सहित ये सब पूर्व-द्वार से मण्डप में प्रवेश करते हैं। यहाँ भी देवों के साथ यजमान को रखने पर 'घृतं देवानाम्' के साथ असामञ्जस्य का समाधान सोचना होगा, क्योंकि विधि-वाक्य में यजमान का अभ्यञ्जन नवनीत से विधान किया है; पर देववर्ग के लिए घृत का निर्देश है। इसके सामञ्जस्य के लिए यह मानना आवश्यक है कि घी की प्रत्येक अवस्था के लिए साधारण रूप से 'घृत' पद का प्रयोग मान्य है; तैत्तिरीय वाक्य में यहाँ 'घृत' पद का प्रयोग 'नवनीत' के लिए हुआ है। ऐसा मानने पर—स्नान के अवसर पर यजमान का अभ्यञ्जन नवनीत से किए जाने की विधि के ये प्रारम्भिक वचन स्तुतिरूप अर्थवाद हैं, यह जानना सम्भव होगा।

इस लम्बी प्रस्तावना में पूर्वोक्त वाक्यों द्वारा देव, पितर और मनुष्यों को लक्ष्य कर चार बातें कही गई हैं—

(१) कुशा का काटना; (२) पात्र का दूध से भरा होना; (३) पुरोडाश का पकाना; (४) घी के प्रयोग की यथावसर अवस्था।

शिष्य जिज्ञासा करता है—यहाँ मनुष्यसम्बन्धी और रुद्र देवतासम्बन्धी वचनों में सन्देह है—क्या ये वचन मनुष्यों के धर्म-सम्बन्धी विधियाँ हैं ? अथवा कर्म के धर्म होकर अनुवाद हैं ? तथा प्रकरण के अन्तर्गत जो मनुष्यप्रधान कर्म हैं, और रुद्र देवतासम्बन्धी कर्म हैं, उन्हीं में क्या इन वचनों का निवेश माना जाना चाहिए ? अथवा प्रकरण के बाहर आतिथ्य आदि कर्म में इनका उत्कर्ष होना चाहिए ? अथवा ये केवल अर्थवाद हैं ?

आचार्य सूत्रकार ने प्रथम अधिकरण का अतिदेश करते हुए जिज्ञासा का समाधान किया—

परुषिदितपूर्णघृतविदग्धञ्च तद्वत् ॥११॥

[परुषिदित-पूर्ण-घृत-विदग्धम्] परुषिदित = गाँठ से काटी हुई कुशा, पूर्ण = दूध से भरा पात्र, घृत और विदग्ध = जला हुआ पुरोडाश, इनके विधायक वचन [च] भी [तद्वत्] निवीत-वचन के समान अर्थवाद समझने चाहिएँ।

सूत्र के प्रथम चारों पद उक्त वचनों के अनुकरण हैं। इनमें समाहार द्वन्द्व-

समास है।

ये 'परुषिदित' आदि वचन भी प्रथम अधिकरण में विवेचित 'निवीत' के समान हैं। जो निवीत में पूर्वपक्ष है, वही इनमें भी पूर्वपक्ष है। जो निवीत में मध्यम पक्ष है, वह इनमें भी मध्यम पक्ष है। जो निवीत में सिद्धान्त है, वही इनमें भी सिद्धान्त है।

'१' संख्या पर दिए वाक्य को लीजिए—'यदन्तरा मनुष्याणाम्' वचन महापितृयज्ञ प्रकरण में पठित है, इसे कर्म का धर्म मानना चाहिए, यह प्रथम पक्ष है। इससे याग का प्रयोजन पूरा होता है, और मनुष्य का सम्बन्ध होने से यह विधिवचन है, और मनुष्य-धर्म है; यह पूर्वपक्ष है। मूल से ऊपर के भाग में काटने का नियम न होने से समूल काटने में लाघव है। प्रयोजन इसी से पूरा होने के कारण स्वतः प्राप्त होने से यह विधि न होकर अनुवाद है, तथा 'समूलं बर्हिर्भवति' विधि का स्तुतिरूप अर्थवाद है।

'२' संख्या पर आधे के लगभग दूध से भरे पात्र में सत्तू का घोल (–मन्थ) बनाने में लाघव है। पूरे भरे पात्र में घोल के बिखरने व उसके बचाव के प्रबन्ध में गौरव है; वह उपादेय नहीं। यह घोल पचास-पचपन वयस के लगभग पितृ-तुल्य वृद्धजनों के लिए होता है। 'यत्पूर्णं तन्मनुष्याणाम्' आदि वचन 'अर्धं उप-मन्थति' विधि के स्तुतिरूप अर्थवाद हैं। विधिवाक्य में पुंल्लिङ्ग 'अर्धं' पद 'आधे के लगभग' अर्थ को कहता है। ठीक बराबर आधे के अर्थ में नपुंसकलिङ्ग अर्धपद प्रयुक्त होता है।

'३' संख्या पर 'यो विदग्धः स नैर्ऋतः' इत्यादि वचन पुरोडाश-पाक प्रकरण में पठित हैं। पकाते हुए जो भाग जल गया, वह निर्ऋति देवता का; जो कच्चा रह गया, वह रुद्र देवता का। निर्ऋति भूमि का नाम है। जो जल गया, वह भूमि पर फेंक देना चाहिए; वह त्याज्य है। जो कच्चा है, वह रुद्र देवता का। तात्पर्य है—कच्चा पाक अपाचक-अस्वास्थ्यकर होने से रुलानेवाला है, त्याज्य है। विधि-वचन है—'श्रृतं कृत्यः सदेवत्वाय'—ठीक पकाना चाहिए, वह देव-सम्बन्ध के लिए है। देह में ऐसा आहार दिव्य शक्तियों का उत्पादक होता है। 'यो विदग्धः' आदि वचन 'श्रृतं कृत्यः सदेवत्वाय' विधिवाक्य के स्तुतिपरक अर्थवाद हैं।

'४' संख्या पर 'घृतं देवानाम्' आदि वचन यजमान के दीक्षा-प्रसंग में स्नान के अवसर पर पठित हैं। ये वचन 'नवनीतेनाभ्यङ्क्ते' विधिवाक्य के स्तुति-परक अर्थवाद हैं। यजमान का अभ्यञ्जन स्नान के अवसर पर नवनीत से किया जाना चाहिए, मस्तु अथवा निष्पक्व से नहीं। नवनीत से शिर आदि पर मर्दन शीतल व मनुष्यों के लिए सुखकर होता है, उपादेय है। अन्य वचन इसी के अर्थ-वाद हैं। यह सब उत्तरपक्ष है।

विधि तथा कर्म के धर्मों में पाठ होने से इन्हें कर्म का धर्म समझना चाहिए;

यह तीसरा पक्ष है।

पाक व दक्षिणा आदि मनुष्यप्रधान कर्म में इनका निवेश मानना चाहिए; इससे वाक्य और प्रकरण अनुगृहीत होते हैं। यह चौथा पक्ष है।

प्रकरण में सभी वाक्य समानरूप से पठित हैं; एक को विधि मानने और अन्य को न मानने से वाक्य-भेद प्राप्त होता है। इस दोष की निवृत्ति के लिए प्रकरण से बाहर आतिथ्य आदि मनुष्यप्रधान कर्म में उत्कर्ष मानना युक्त होगा; यह पाँचवाँ पक्ष है।

अपने प्रकरण में विधिवाक्यों के साथ इनकी एकवाक्यता है, इसलिए ये वचन विधियाँ नहीं हैं; अर्थवाद हैं, यह सिद्धान्त निश्चित होता है ॥११॥ (इति परुषिदितादीनामनुवादताधिकरणम्—३)।

(अनृतवदननिषेधस्य क्रतुधर्मताधिकरणम्—४)

दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पढ़ा है—'नानृतं वदेत्' झूठ न बोले। शिष्य जिज्ञासा करता है—इसमें सन्देह है—प्रकरण में पठित होने से दर्श-पूर्णमास कर्मविशेष में क्या यह वाक्य मिथ्याभाषण-निषेध का विधान करता है? अथवा स्मृति आदि में विहित मिथ्याभाषण-निषेध का यह अनुवाद है? प्रतीत होता है, स्मृति-प्रतिपादित सार्वत्रिक व सार्वदिक मिथ्याभाषण-निषेध का यह अनुवाद है, क्योंकि मिथ्याभाषण को कहीं भी उपादेय कर्म नहीं माना गया। शिष्य-सुभाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः स्यात् ॥१२॥

[क्रतुसंयुक्तम्] क्रतु के साथ सम्बद्ध, अर्थात् क्रतुविशेष के प्रकरण में पठित यह [अकर्म] मिथ्याभाषण कर्म का प्रतिषेध [संयोगात्] पुरुषमात्र के साथ सम्बद्ध होने से, तात्पर्य है—'वदेत्' क्रियापद में पुरुषमात्र के प्रयत्न का श्रवण होने से [नित्यानुवादः] स्मृति आदि प्रतिपादित नित्य मिथ्याभाषण-निषेध का अनुवाद [स्यात्] है।

'नानृतं वदेत्' वाक्य यद्यपि यहाँ दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पढ़ा है, पर उसका यह तात्पर्य नहीं माना जाना चाहिए कि दर्श-पूर्णमास के अनुष्ठानकाल से अन्य काल में अनृतभाषण करे। वाक्य के 'वदेत्' क्रियापद से यह भावना प्रकट नहीं होती कि उसी क्रतुविशेष में ऐसा करे। प्रत्युत साधारणरूप से पुरुषमात्र के प्रयत्न की भावना अभिव्यक्त होती है। इसलिए प्रत्येक अवसर पर प्रत्येक व्यक्ति को मिथ्याभाषण नहीं करना चाहिए; स्मृति आदि प्रतिपादित इस कर्म का ही अनुवाद प्रस्तुत वचन है। व्यक्तिमात्र को उपनयन-काल में ही 'सत्यं वद, धर्मं चर' आदि कर्त्तव्यरूप में सत्यभाषण का उपदेश दिया जाता है, जिससे समस्त जीवन में प्रत्येक अवसर पर मिथ्याभाषण का प्रतिषेध स्पष्ट होता है। प्रकरणपठित होने

से यदि 'नानृतं वदेत्' का सम्बन्ध दर्श-पूर्णमास कर्म के साथ जोड़ा जाता है, तो उससे इतना ही अर्थ जाना जायगा कि 'दर्श-पूर्णमास में झूठ न बोले'। इससे 'वदेत्' इस लिङ् का जो अनुष्ठानरूप अर्थ है, अर्थात् 'सर्वकाल में कर्त्तव्यरूप से सत्यभाषण अथवा मिथ्याभाषणनिषेध का पालन करना चाहिए' यह भाव परित्यक्त होता है, जो अनिष्ट है; क्योंकि इससे—दर्श-पूर्णमास से अन्य समय में—मिथ्याभाषण की अनुमति मिल जाती है। वह पुरुषधर्म न रहकर कर्म का धर्म होगा। 'नानृतं वदेत्' में पुरुष के प्रति उपदिष्ट—सर्वकाल में अनृतभाषणनिषेधरूप अनुष्ठेय लिङर्थ अविवक्षित हो जायगा। तात्पर्य है—यह अपने अर्थ को छोड़ बैठेगा। इसका सामञ्जस्य उसी अवस्था में सम्भव है, जब इसे पुरुषधर्म माना जाय। दर्श-पूर्णमास में यह वचन उसी का अनुवाद समझा जाय।

यह कहना भी युक्त न होगा कि दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित 'नानृतं वदेत्' श्रुतिवचन उस स्मृतिवचन का मूल है, जिसका उपदेश आचार्य द्वारा उपनयनकाल में किया जाता है। इसके अनुसार 'नानृतं वदेत्' वचन विधिवाक्य होगा, और उपनयनकालिक वचन इसका अनुवाद।

यह कथन इसलिए युक्त नहीं है, क्योंकि उपनयनकालिक वचन के साथ दर्श-पूर्णमास का कोई निर्देश व संकेत नहीं है। उपनयन के अवसर पर उपदेश करनेवाले आचार्य इन सब विषयों के जानकार होते हैं। यदि उपनयनकालिक सत्यभाषण अथवा अनृतभाषणनिषेध वचन का मूल दर्श-पूर्णमासस्थित वचन रहा होता, या माना गया होता, तो वे आचार्य उस समय इसका संकेत अवश्य करते। पर ऐसा कभी नहीं होता। आचार्य यही उपदेश करते हैं कि 'सत्य बोल, झूँठ मत बोल' यह पुरुष-धर्म है, यह सर्वकालिक अनुष्ठेय कर्म है, इसका कभी उल्लंघन न करना। इसलिए उपनयनकालिक वचन को 'नानृतं वदेत्' एतन्मूलक मानकर इसको विधि और उसको (उपनयनकालिक वचन को) अनुवाद कहना संगत न होगा। फलतः यही कथन युक्त प्रतीत होता है कि उपनयनकालिक वचन मिथ्याभाषणनिषेध के विधायक वाक्य हैं, 'नानृतं वदेत्' उसी का अनुवाद है ॥१२॥

आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

विधिर्वा संयोगान्तरात् ॥१३॥

[वा]सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है; तात्पर्य है—'नानृतं वदेत्' वचन उपनयनकालिक 'सत्यं वद' अथवा 'सत्यमेव वदेत्' स्मृतिवाक्य का अनुवाद न होकर [विधिः] अपूर्व अर्थ का विधायक वाक्य है, [संयोगान्तरात्] उक्त वाक्यों के साथ पुरुष के सम्बन्ध का भेद होने से। तात्पर्य है—उपनयनकालिक वाक्य के साथ पुरुष के सम्बन्ध का जो स्वरूप है, वह दर्श-पूर्णमास-पठित वाक्य के साथ पुरुष के सम्बन्ध से भिन्न है; इसलिए यह उसका अनुवाद नहीं है,

स्वतन्त्र विधि है।

स्मृतिवाक्य 'सत्यमेव वदेत्' में नियमपूर्वक सत्यभाषण के अनुष्ठान के साथ पुरुष का सम्बन्ध जाना जाता है। इसके विपरीत 'नानृतं वदेत्' वाक्य में अनृत-भाषण के प्रतिषेध के साथ पुरुष का सम्बन्ध कहा है। उपनयनकालिक स्मृतिवचन नियमपूर्वक पुरुष के सत्यभाषण का विधान करता है। उसका उल्लंघन करने पर पुरुष अपराधी होता है, और उसका अनिष्ट फल प्राप्त करता है, वह पुरुष-धर्म है। इसके विपरीत दर्श-पूर्णमास-प्रकरणगत 'नानृतं वदेत्' वाक्य याग-अनुष्ठान-काल में अनृतभाषण-प्रतिषेध का विधान करता है। इसका उल्लंघन पुरुष को अपराधी न कर याग को विगुण करता है। इससे यागजन्य फल को प्राप्ति अवरुद्ध हो जाती है। इसलिए यागानुष्ठानकाल में अनृतभाषण-प्रतिषेध याग का धर्म है, पुरुष का नहीं। फलतः उपनयनकालिक स्मृतिवचन तथा दर्श-पूर्णमास-प्रकरण-स्थित श्रुतिवचन सर्वथा भिन्न वाक्य हैं, विभिन्न अर्थों का कथन करते हैं, अतः 'नानृतं वदेत्' श्रुतिवचन किसी का अनुवाद न होकर अपूर्वविधि है, यह निश्चित होता है॥१३॥ (इति अनृतवदननिषेधस्य क्रतुधर्मताधिकरणम्—४)।

(जञ्जभ्यमानधर्माणां प्रकरणे निवेशाधिकरणम्—५)

तैत्तिरीय संहिता [६।१।१।१] के ज्योतिष्टोम प्रकरण में पाठ है—'अङ्गिरसः सुवर्गं लोकं यन्तोऽप्सु दीक्षात्तपसी प्रावेशयन्। अप्सु स्नाति···। तीर्थे स्नाति तीर्थमेव समानानां भवति।'

अङ्गिरस् (अङ्गिरा) सूर्य का नाम है। 'अङ्गिरसः' बहुवचनान्त पद अङ्गिरा = सूर्य के पुत्र किरणों का वाचक है। ये किरणें अन्तरिक्ष में व्याप्त हैं, इन्हें मध्यम-स्थानीय देव कहा जाता है। जब सूर्य-रश्मियाँ नदी एवं खुले जलाशयों पर पड़ती हैं, तब अपने प्राण (दीक्षा = जीवनी शक्तियाँ) और तप = उष्णता जल में छोड़-कर परिवर्तित होती हुई वापस सूर्यलोक चली जाती हैं। उन जलों में स्नान करता है, तीर्थ में स्नान करता है। ये जल सूर्यरश्मियों के संस्पर्श से पवित्र हो जाते हैं। इन जलों का नाम ही 'तीर्थ' है। इनमें स्नान करना प्राण व तेज का वर्धक होता है। जो यजमान तीर्थ में स्नान करता है, वह साथियों का उपकारक होता है।

इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता [२।५।२।४] के दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पाठ है—"**तस्मात् जञ्जभ्यमानात्···प्राणापानौ वा तदजहितां प्राणो वै दक्षोऽपानः क्रतुस्तस्मात् जञ्जभ्यमानो ब्रूयात्—'मयि दक्षक्रतू' इति, प्राणापानावेवात्मन् धत्ते।**"—जँभाई लेते हुए उस पुरुष से उसके प्राण-अपान उसे छोड़ जाते हैं। दक्ष प्राण है, क्रतु अपान है, उन्हें फिर प्राप्त करने के लिए 'मयि दक्षक्रतू'[1] वचन का

१. दक्षक्रतू ते मैत्रावरुणः (ग्रहः) पातु। [मैत्रा० सं० ४।८।७]; तुलना करें मैत्रा० सं० [४।५।९]।

पाठ करे। इससे प्राण और अपान को अपने में पुनः धारण करता है।

यहाँ सन्देह है—क्या यह तीर्थस्नान और वचन का पाठरूप धर्म का निवेश केवल अपने प्रकरण में है? अर्थात् ज्योतिष्टोम-अनुष्ठान में तथा दर्श-पूर्णमास-अनुष्ठान में बैठे यजमान के लिए ही यह विधान है? अथवा याग से बाहर भी मनुष्यमात्र के लिए यह विधान है? तात्पर्य है, अपने प्रकरण में ही स्नान व मन्त्र-पाठ का उपयोग है? अथवा प्रकरण से बाहर इसका उत्कर्ष माना जाना चाहिए?

शिष्य ने सुझाव दिया—उत्कर्ष माना जाना उपयुक्त होगा। क्योंकि तीर्थ-स्नान शक्ति और तेज प्राप्त करने के लिए तथा मन्त्रपाठ जम्भाई लेनेवाले पुरुष को पुनः अपने में प्राण-अपान का आधान करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपेक्षित होता है, अतः इसे पुरुषमात्र का धर्म मानना चाहिए।

शिष्य-सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने अधिक स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अहीनवत् पुरुषस्तदर्थत्वात् ॥१४॥

[अहीनवत्] जैसे 'द्वादशोपसदोऽहीनस्य'[1] वाक्य ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित होने पर भी 'अहीन' पद के श्रवण से अहीनसंज्ञक सोमयागों में द्वादश उपसद् नामक इष्टियों का विधान माना जाता है, वैसे ही [पुरुषः] यहाँ 'स्नाति' क्रियापद से स्नान करनेवाले तथा 'जञ्जभ्यमानः' पद से जम्भाई लेनेवाले पुरुष-प्रयास का श्रवण है, क्योंकि [तदर्थत्वात्] स्नान और उक्त वचन का पाठ पुरुष के लिए होने के कारण पुरुषमात्र का धर्म माना जाना चाहिए। इसलिए स्नान और मन्त्रपाठ का अपने प्रकरणों से उत्कर्ष (उठाकर दूसरी जगह ले-जाना) युक्त है।

गत (३।३।१५-१६) सूत्रों में 'द्वादशोऽपसदाऽहीनस्य' का विवेचन किया है। यह वाक्य साह्न (एक दिन में सम्पन्न होनेवाले) ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित है। पर बारह उपसद् नामक इष्टियों का उपयोग 'अहीन'-संज्ञक सोमयागों में होता है, जो दो दिन से लगाकर ग्यारह दिन तक में सम्पन्न होते हैं। ये याग साह्न ज्योतिष्टोम से अतिरिक्त हैं। अतः 'द्वादशाऽहीनस्य' का साह्न ज्योतिष्टोम से उत्कर्ष करके अहीन-संज्ञक सोमयागों में प्रयोग का सिद्धान्त किया है। उसी के समान ज्योतिष्टोम से तीर्थस्नान का तथा दर्श-पूर्णमास से मन्त्रपाठ का उत्कर्ष करके उसे मनुष्यमात्र का धर्म समझना चाहिए।

प्रकरण में पठित को प्रकरण से उत्कर्ष कर अन्यत्र ले-जाने में प्रकरण बाधित होगा, अर्थात् प्रकरण में उसका पाठ व्यर्थ होगा। अतः प्रकरण-बल से पुरुषमात्र

---

१. देखें, मीमांसा सूत्र [३।३।१५-१६] अधिकरण ८।

का धर्म न मानकर प्रकरणगत कर्म का ही धर्म मानना चाहिए,—ऐसी आशंका करना युक्त न होगा। क्योंकि वाक्य (=तीर्थे स्नाति, जञ्जभ्यमानः) स्वयं पुरुष का निर्देश करता है। वाक्य, प्रकरण से बलवान् होता है। अतः वाक्य के साम्मुख्य में प्रकरणबल स्नान एवं मन्त्रपाठ को पुरुषधर्म मानने में कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त मन्त्रपाठ का फल भी बताया गया है—प्राण-अपान का पुनः अपने में धारण करना। प्रकरणगत कर्म का धर्म मानने पर यह बाधित होगा। फलतः तीर्थस्नान और मन्त्रपाठ का अपने प्रकरणों से उत्कर्ष मानना तथा उसे पुरुषधर्म स्वीकार करना युक्त है ॥१४॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यवत् ॥१५॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—ज्योतिष्टोम से स्नान का एवं दर्श-पूर्णमास प्रकरण से मन्त्रपाठ का उत्कर्ष नहीं करना चाहिए, [प्रकरणविशेषात्] प्रकरण के साथ विशेष सम्बन्ध होने के कारण [तद्युक्तस्य] उस प्रकरणगत ज्योतिष्टोम याग से सम्बद्ध यजमान का एवं दर्श-पूर्णयाग से सम्बद्ध जम्भाई लेनेवाले यजमान पुरुष का यथाक्रम तीर्थस्नान एवं मन्त्रपाठ से [संस्कारः] संस्कार किया जाता है। [द्रव्यवत्] जैसे यव, ब्रीहि आदि यज्ञसम्बन्धी द्रव्य का प्रोक्षण आदि द्वारा संस्कार किया जाता है।

यज्ञ में उपयोग होनेवाले यवों (जौ) तथा ब्रीहि (धान) का प्रोक्षण आदि से यदि संस्कार नहीं किया जाता तो याग विगुण (विकृत) हो जायगा। अनुष्ठाता यजमान को उसका फल प्राप्त न होगा। इसलिए वह संस्कार याग-कर्म का धर्म है याग का उपकारक है। इसी प्रकार ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित तीर्थस्नान अनुष्ठाता यजमान का संस्कार है। यजमान-संस्कार द्वारा वह याग का उपकारक है, अतः याग का धर्म है। यदि उसका पालन नहीं किया जाता, तो याग विगुण हो जायगा, यजमान उसके फल से वाञ्चत रहेगा; अनुष्ठान व्यर्थ होगा। ऐसे ही दर्श-पूर्णमास अनुष्ठान के अवसर पर यदि यजमान को जम्भाई आ जाती है, तो यह उसके आलस्ययुक्त होने का संकेत है। उसमें प्राण-अपान व्यवस्थित नहीं रहते। 'मयि दक्षक्रतू' मन्त्र का उच्चारण करते हुए उन्हें पुनः व्यवस्थित किया जाता है। यह याग के अनुष्ठाता यजमान पुरुष का संस्कार है। इसके द्वारा याग विगुण होने से बच जाता है। अतः वह संस्कार याग का उपकारक होने से याग-कर्म का धर्म है।

अपने-अपने प्रकरण में पठित ये निर्देश यजमान-संस्कार द्वारा प्रकरणगत कर्म के धर्म हैं, उनके अनुष्ठान से यागकर्म विगुण नहीं होता। ऐसी दशा में इनका प्रकरण से उत्कर्ष कर अन्यत्र ले-जाना, और मनुष्यमात्र से उनका सम्बन्ध जोड़ना

सर्वथा अशास्त्रीय है। याग से बाहर किसी भी पुरुष के जम्भाई लेने पर मन्त्र-पाठ का कोई प्रयोजन नहीं है। बिना मन्त्रपाठ के भी वह स्वतः स्वस्थ हो जाता है। यागानुष्ठान-काल में जम्भाई आना, याग के प्रति अनुष्ठाता की उपेक्षा-भावना को अभिव्यक्त करता है। यह याग के वैगुण्य का जनक है। मन्त्रोच्चारणपूर्वक पुनः पूर्व-अवस्था को प्राप्त होना यजमान का संस्कार है, जो याग को विगुण होने से बचाता है। प्रकरण में मन्त्रपाठ का यही प्रयोजन है। फलतः स्नान व मन्त्र-पाठ का अपने प्रकरण से उत्कर्ष करना अनावश्यक है, निष्प्रयोजन है ॥१५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—ज्योतिष्टोम में पठित द्वादश उपसद् इष्टियों का उत्कर्ष स्वीकार किया गया है; यहाँ उत्कर्ष नहीं माना; ऐसा क्यों? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

व्यपदेशादपकृष्येत ॥१६॥

[व्यपदेशात्] वहाँ अहीन पद का स्पष्ट निर्देश होने से [अपकृष्येत] द्वादश उपसद् इष्टियों का ज्योतिष्टोम से अहीनसंज्ञक सोमयागों में अपकर्ष किया जाता है। तात्पर्य है—ज्योतिष्टोम में उनका प्रयोग न कर अहीन यागों में किया जाता है।

'तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य' [तै० सं० ६।२।६] वाक्य के द्वारा तीन उपसद् इष्टियाँ ज्योतिष्टोम की तथा बारह अहीन नामक सोमयागों की बताई गई हैं। ज्योतिष्टोम यद्यपि पाँच-दिन-साध्य कर्म है—पहले दिन उपसद् इष्टि नहीं होती, दूसरे-तीसरे-चौथे दिन प्रातः-सायं तीन दिन तक होने से छह होती हैं, पर एक दिन के प्रातः-सायं अनुष्ठित उपसद् एक कर्म मानकर ज्योति-ष्टोम में तीन उपसद् इष्टियाँ कही हैं। उन दिनों में प्रातः-सायं सोमाभिषव के पूर्व प्रवर्ग्य-संज्ञक कर्म के पश्चात् होती हैं। तपे हुए घृत में गाय और बकरी का दूध मिलाना 'प्रवृञ्जन' कहलाता है। इसी प्रवृञ्जन के सम्बन्ध से इस कर्म का नाम प्रवर्ग्य है। ज्योतिष्टोम के दूसरे-तीसरे-चौथे दिन सायं-प्रातः पहले प्रवर्ग्य-कर्म, उसके अनन्तर उपसद् इष्टि, तदनन्तर सोमाभिषव किया जाता है। सोमा-भिषव के अतिसमीप स्थित होने के कारण इन इष्टियों का नाम 'उपसत्' है।

इस प्रकार उक्त वाक्य ज्योतिष्टोम की तीन उपसद् इष्टियों का, तथा अहीन-संज्ञक सोमयागों की बारह उपषद् इष्टियों का विधान करता है। यद्यपि उक्त वाक्य ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित है, पर बारह उपसद् इष्टियों का विधान—वह 'अहीन' यागों का स्पष्ट निर्देश कर—उन्हीं में बताता है। प्रकरण के आधार पर ज्योतिष्टोम में बारह उपसद् का कोई अवसर नहीं। अतः वाक्य के साम्मुख्य में प्रकरण दुर्बल होने के कारण ज्योतिष्टोम से द्वादश उपसद् का अन्यत्र (अहीन-संज्ञक यागों में) उत्कर्ष सर्वथा युक्त है।

प्रस्तुत प्रसंग में उसे लागू किया जा सकता है, क्योंकि 'द्वादशाहीनस्य' वाक्य के समान यहाँ कोई ऐसा वाक्य नहीं है, जिसके आधार पर तीर्थस्नान और मन्त्र-पाठ को अपने प्रकरणों से हटकर अन्यत्र उत्कर्ष के लिए बाध्य होना पड़े। फलतः प्रस्तुत प्रसंग में 'अहीनवत्' [१३] दृष्टान्त असंगत होने से स्नान व मन्त्रपाठ का प्रकरण में ही निवेश सर्वथा उपयुक्त है ॥१६॥ (इति जञ्जम्यमानधर्माणां प्रकरणे निवेशाऽधिकरणम्—५)।

(अवगोरणादीनां पुमर्थताऽधिकरणम्—६)

भाष्यकार शबर स्वामी ने अधिकरण को प्रारम्भ करते हुए जिस विवेच्य सन्दर्भ को उद्धरणरूप में प्रस्तुत किया है, वह उसी आनुपूर्वी के साथ वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है। सम्भव है, भाष्यकार ने अपने वचनों के साथ संक्षिप्त करके उसका निर्देश किया हो, अथवा सम्प्रति अनुपलब्ध किसी अन्य ग्रन्थ से उद्धृत किया हो (यु० मी०)। भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत सन्दर्भ से मिलता-जुलता पाठ तैत्तिरीय संहिता [२।६।१०] में निम्नांकित रूप से उपलब्ध है—

देवा वै यज्ञस्य स्वगाकर्त्तारं नाविन्दन्, ते शंयुं बार्हस्पत्यमब्रुवन् इमं नो यज्ञं स्वगा कुर्विति।

देवों ने यज्ञ के प्रशस्तकर्त्ता को नहीं जाना। वे बृहस्पति के पुत्र शंयु को बोले—हमारे इस यज्ञ को प्रशस्त-कर्तृक बनाओ। ऐसा आरम्भ करके आगे पाठ पाठ है—'किं मे प्रजाया ? इति। योऽपगुरातै शतेन यातयाद्, यो निहनत् सहस्रेण यातयाद्, यो लोहितं करवद् यावतः प्रस्कन्द्य पांसून् संगृह्णात् तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानादिति तस्माद् ब्राह्मणाय नावगुरेत न निहन्यान्न लोहितं कुर्यात्।'

शंयु ने देवों से पूछा—मेरी पुत्र-पौत्र आदि सन्तान के लिए क्या करोगे ? देवों ने उसके उत्तर में कहा—जो ब्राह्मण को चोट पहुँचाने के लिए प्रयास करे, अर्थात् हाथ में डण्डा आदि उठाकर धमकी दे, उसे सौने के सौ सिक्के (निष्क) दण्ड दिया जाय। जो डण्डा आदि मारकर चोट पहुँचाये, उसे एक सहस्र निष्क दण्ड दिया जाय। जो आघात कर रक्त निकाल दे, वह रक्त भूमि पर जितने धूलि-कणों को साने, उतने संवत्सर-पर्यन्त वह पितृलोक अर्थात् पितृभाव को प्राप्त न होवे। तात्पर्य है, पुत्रादि सन्तान से रहित होवे।[1]

---

१. इतिहास में ऐसी घटनाओं का पता लगता है, जब चिरकाल तक वंश में निज सन्तति का अभाव रहा हो; दत्तक=गोद-लिये पुत्र से वंश चलाया जाता रहा हो। उदयपुर के राजवंश में किसी सती के शाप से अनेक पीढ़ियों से पुत्रोत्पत्ति का अभाव देखा गया है। (यु० मी०)

यहाँ सन्देह है—क्या ब्राह्मण के अवगोरण (धमकाने, पीटने) आदि का प्रतिषेध दर्श-पूर्णमास प्रकरण में ही निविष्ट है ? अर्थात् दर्श-पूर्णमास अनुष्ठान के अवसर पर ऐसा न करे ? अथवा याग से बाहर भी ब्राह्मणमात्र के लिए अवगोरण आदि का निषेध है ? गत अधिकरण में बताये सिद्धान्त के अनुसार यहाँ ब्राह्मण के अवगोरण आदि का निषेध दर्श-पूर्णमास याग में सीमित माना जाना प्राप्त होता है; अर्थात् प्रकरण से इसका उत्कर्ष नहीं होना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में सिद्धान्त किया—

शंयौ च सर्वपरिदानात् ॥१७॥

[शंयौ] तैत्तिरीय संहिता के शंयु-उपाख्यान के प्रसंग में [च] भी जो ब्राह्मण के अवगोरण आदि का निषेध कहा है, उसका प्रकरण से उत्कर्ष होना चाहिए, क्योंकि [सर्वपरिदानात्] 'ब्राह्मण' पद सब अवस्थाओं में ब्राह्मण व्यक्ति का ग्रहण करता है। इस कारण 'ब्राह्मणाय नावगुरेत्' आदि वाक्य में 'ब्राह्मण' पद ब्राह्मणमात्र का परामर्शक है।

शंयु-उपाख्यान प्रसंग से दर्श-पूर्णमास प्रकरण में ब्राह्मण के अवगोरण आदि का जो प्रतिषेध किया गया है, वह केवल दर्श-पूर्णमास में संलग्न ब्राह्मण के लिए ही न होकर उससे अन्यत्र भी ब्राह्मणमात्र के अवगोरण का प्रतिषेध करता है। इसलिए अवगोरण-प्रतिषेध का प्रकरण से उत्कर्ष किया जाना अभीष्ट है। जञ्जभ्यमान के समान प्रकरण में इसका निवेश मानना युक्त नहीं, क्योंकि जञ्जभ्यमान के लिए याग से बाहर मन्त्रपाठ का कोई फल नहीं। यागानुष्ठान के अवसर पर जञ्जभ्यमान पुरुष द्वारा किये गये मन्त्रपाठ से याग उपकृत होता है, यही मन्त्रपाठ का वहाँ फल है। उत्कर्ष करने पर फल की कल्पना करनी होगी, जो अशास्त्रीय है। इसलिए वहाँ उत्कर्ष निष्प्रयोजन है। पर यहाँ ऐसा नहीं है, क्योंकि 'ब्राह्मणाय नावगुरेत्' वाक्य स्पष्ट ही ब्राह्मणमात्र के अवगोरण आदि का प्रतिषेध कर रहा है, तथा उसके उल्लंघन में दण्ड का विधान करता है। अतः सब प्रसंग पर ध्यान देते हुए यहाँ उत्कर्ष अभिमत है।

मूलतः प्रसंग का तात्पर्य है, ब्राह्मण को अनुकूल बनाने के लिए बौद्धिक मृदु उपायों का प्रयोग किया जाना चाहिए, डण्डा आदि दिखाकर धमकाना या चोट पहुँचाना अथवा तीक्ष्णधार शस्त्र के आघात से रक्त निकाल देना उचित नहीं माना गया। ब्राह्मण सुपठित वेदादि सत्यशास्त्रों का ज्ञाता विद्वान् होता है, समझाने-बुझाने व धर्म आदि के भय से उसका अनुकूल होना संभव है। यदि वेदवेत्ता होकर भी रावण आदि के समान कुमार्ग पर चलने से—मृदु उपायों द्वारा—विरत न हो, तो उसको कठोर साधनों से दण्डित किया जाना अशास्त्रीय नहीं है। ऐसे ब्राह्मण-गुरुओं के लिए धर्मशास्त्र व राजनीति-शास्त्रों में उचित दण्ड का विधान

है ॥१७॥ (इति अवगोरणादीनां पुमर्थताधिकरणम्—६) ।

(मलवद्वाससः संवादनिषेधस्य पुरुषधर्मताधिकरणम्—७)

तैत्तिरीय संहिता [२।५।१।५-६] के दर्श-पूर्णमास प्रसंग में पाठ है—'मलवद्वाससा न सं वदेत, न सहासीत, नास्या अन्नमद्यात्' मलवद्वासा = रजस्वला स्त्री से बातचीत न करे, सहासन या सहवास न करे, उसका अन्न न खाये। यहाँ सन्देह है—क्या रजस्वला स्त्री के साथ दर्श-पूर्णमास का अङ्गभूत संवाद न करे? अथवा सर्वत्र रजस्वला स्त्री के साथ संवाद आदि के लिए पुरुष का निषेध है? प्रकरण के बल पर दर्श-पूर्णमास कर्म में संवाद आदि प्रतिषेध का विधान है, ऐसा ज्ञात होता है।

इस विषय में आचार्य सूत्रकार ने शास्त्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया—

प्रागपरोधान्मलवद्वाससः ॥१८॥

[प्राक्] दर्श-पूर्णमास कर्मानुष्ठान प्रारम्भ करने से पहले उपवास के दिन [मलवद्वाससः] मैले वस्त्रवाली अर्थात् रजस्वला स्त्री का [अपरोधात्] अपरोध—अवरोध—होने से। उपवास अथवा दीक्षा के दिन ही यदि यजमान-पत्नी रजस्वला हो जावे, तो यज्ञ में उसकी उपस्थिति वर्जित की गई है। तब दर्श-पूर्णमास कर्मानुष्ठान के अवसर पर रजस्वला स्त्री के अनुपस्थित रहने से उसके साथ संवाद आदि की सम्भावना ही नहीं। अतः प्रकरण से उत्कर्ष कर इसे पुरुषमात्र का धर्म मानना ही युक्त है।

दर्श-पूर्णमास यागानुष्ठान के अवसर पर यजमान-पत्नी के साथ अध्वर्यु का संवाद प्रस्तुत याग का अङ्गभूत कर्म है। दीक्षा के दिन अध्वर्यु यजमान-पत्नी से कहता है—'पत्नि! एष ते लोकः' हे यजमान-पत्नि! यह तुम्हारा लोक है—स्थान है। परन्तु यदि यागानुष्ठान से पहले ही व्रत (=उपवास) के दिन पत्नी रजस्वला हो जावे, तो उसके लिए तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।७।१।६] में निर्देश है—'यस्य व्रत्येऽहनि पत्नी अनालम्भुका स्यात्, तामपरुध्य यजेत'—जिस यजमान की पत्नी उपवास के दिन अस्पर्शनीया (=अनालम्भुका—स्पर्श के अयोग्य) हो जाय, अर्थात् रजस्वला हो जाय, तो उसका परित्याग करके यजमान अकेला यागानुष्ठान करे। जब पत्नी रजस्वला होने के कारण व्रत के दिन ही अनुपस्थित रहेगी, तब अगले दिन दर्श-पूर्णमास कर्मानुष्ठान के अवसर पर यजमान-पत्नी की अनुपस्थिति निश्चित है। ऐसी दशा में अध्वर्यु का पत्नी के साथ संवाद सम्भव नहीं। तब प्रकरण में रजस्वला स्त्री के साथ संवाद का प्रतिषेध निरर्थक है। अतः प्रकरण से इसका उत्कर्ष आवश्यक है ॥१८॥

इसी सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए आचार्य सूत्रकार ने हेतु प्रस्तुत

किया—

अन्नप्रतिषेधाच्च ॥१९॥

[अन्नप्रतिषेधात्] अन्न=अभिगमन—सम्भोग का प्रतिषेध होने से [च] भी उत्कर्ष आवश्यक है।

प्रकरण में रजस्वला स्त्री के साथ संवाद-प्रतिषेध के समान उसके अन्न का प्रतिषेध भी कहा है—'नास्या अन्नमद्यात्'। आपाततः प्रतीत होनेवाला इसका यह अर्थ भी मान्य है कि रजस्वला स्त्री का तैयार किया अन्न न खाये। पर तैत्तिरीय संहिता [२।५।१।६] में 'अन्न' का अर्थ 'अभ्यञ्जन' किया है। वहाँ पाठ है—'नास्या अन्नमद्यात्.....। अथो खल्वाहुः—अभ्यञ्जनं वाव स्त्रिया अन्नम्, अभ्यञ्जनमेव न प्रतिगृह्यम्, काममन्यत्'—स्त्री के अन्न के विषय में अनुभवी आचार्यों ने बताया—अभ्यञ्जन ही स्त्री का अन्न है। यह स्त्री के लिए अन्न के समान पुष्टि व सन्तुष्टिकर होता है। रजस्वला की स्थिति में केवल अभ्यञ्जन अग्राह्य है, वर्जित है, अन्य कार्य इच्छानुसार किये जा सकते हैं। 'अभ्यञ्जन' पद का अर्थ अभिगमन=सम्भोग है। यह स्थिति यज्ञानुष्ठान के अवसर पर सम्भव नहीं। इसलिए प्रकरण में उसका प्रतिषेध निष्प्रयोजन है। कर्मानुष्ठान के अवसर पर रजस्वला स्त्री न उपस्थित हो सकती है, न अभिगमन की सम्भावना है। तब प्रकरण में संवाद आदि के प्रतिषेध का कोई प्रयोजन न होने से उत्कर्ष आवश्यक है। वह प्रकरणगत कर्म का धर्म न होकर पुरुषमात्र का धर्म है। प्रत्येक दशा में रजस्वला का सम्भोग सर्वथा वर्ज्य है।

यद्यपि उक्त वाक्य में सम्भोग के अतिरिक्त अन्य दन्तधावन, स्नान आदि कार्यों को इच्छानुसार करने की बात कही है, पर विवाहिता सधवा स्त्रियों के लिए रजस्वला-दशा में इन कार्यों का भी निषेध है; यह संहिता के इस प्रकरण से स्पष्ट होता है। वहाँ बताया है, रजस्वला-दशा में जो स्त्री दन्तधावन, स्नान, नखनिकृन्तन (नाखून काटना), केशविन्यास आदि करती है, उसकी सन्तान दूषित होती है। इससे तात्पर्य निकलता है—जिनका पुरुष-सम्पर्क सम्भव नहीं—ब्रह्मचारिणी कन्या, परिव्राजिका, विधवा आदि—वे रजस्वला-दशा में स्नान, दन्तधावन आदि कार्यों के करने में स्वतन्त्र हैं ॥१९॥ (इति मलवद्वासः संवाद-निषेधस्य पुरुषधर्मताधिकरणम्—७)।

(सुवर्णधारणादीनां पुरुषधर्मताधिकरणम्—८)

भाष्यकार शाबर स्वामी ने इस प्रसंग में एक सन्दर्भ उद्धृत किया है—'तस्मात् सुवर्णं हिरण्यं भार्यम्, सुवर्ण एव भवति। दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति। अन्य वाक्य लिखा है—'सुवाससा भवितव्यम्, रूपमेव बिभर्त्ति'—पूर्ण शुद्ध हिरण्य

(सोने का आभूषण) धारण करना चाहिए; इससे व्यक्ति रूपवान् (आकर्षक) लगने लगता है। इसके विरोधी मलिन, दुर्बल, अशक्त दिखाई देते हैं। व्यक्ति को स्वच्छ वस्त्र पहननेवाला होना चाहिए; स्वच्छ वस्त्र पहनना रूप को धारण करना है।

ये वाक्य किसी विशेष याग का प्रारम्भ करके नहीं कहे गये हैं। यहाँ सन्देह है, क्या ये वाक्यबोधित अर्थ किसी कर्मविशेष के धर्म हैं? अर्थात् किसी प्रधान कर्म के अङ्ग हैं? अथवा पुरुष के धर्म हैं? अर्थात् स्वयं यह प्रधान कर्म है?

आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में सिद्धान्त प्रस्तुत किया—

अप्रकरणेतु तद्धर्मस्ततो विशेषात् ॥२०॥

[अप्रकरणे] किसी यागविशेष के प्रकरण में न कहा हुआ अर्थ [तु] तो [तद्धर्मः] उसका धर्म, अर्थात् मनुष्य का धर्म होता है, [ततः] उस प्रकरणगत अर्थ से [विशेषात्] विशेष—भिन्न होने के कारण।

यागविशेष का आरम्भ करके प्रकरण में जो अन्य तत्सम्बन्धी विधियाँ पढ़ी जाती हैं, वे उस प्रधान आरब्ध याग का अङ्ग होती हैं। जो विधियाँ किसी याग-विशेष के प्रकरण में पठित नहीं हैं, वे प्रकरणपठित अङ्गभूत विधियों से भिन्न हैं। इसलिए वे किसी प्रधान कर्म का अङ्ग नहीं। फलतः इसे साधारण पुरुषधर्म मानना युक्त होगा, जो अपने में स्वतः प्रधान कर्म है।

प्रतीत होता है, उस प्राचीन काल में यहाँ हिरण्य धातु का प्राचुर्य था। साधारणजन स्वच्छ वस्त्र के समान हिरण्य-धारण भी आवश्यक कर्त्तव्य समझते थे। चाहे वे यज्ञकर्म में संलग्न हों, अथवा बाहर हों, इनका धारण करना उनके लिए साधारण बात थी। अतः हिरण्य या स्वच्छ वस्त्र-धारण अन्य कर्मविशेष का अङ्ग या धर्म न होकर स्वयं प्रधानरूप पुरुषधर्म है; उसी का यहाँ विधान किया गया है। यही शास्त्रीय मान्यता है ॥२०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—हिरण्य एवं स्वच्छ वस्त्र-धारण को कर्म का अङ्ग क्यों न माना जाय? जैसे प्रोक्षण आदि व्रीहि आदि के संस्कारक होकर याग को उपकृत करते हैं, और उसके अङ्ग माने जाते हैं, वैसे ही हिरण्य आदि धारण से संस्कृत होकर याग के उपकारक होते हैं। अतः उसका अङ्ग माने जाने चाहिएँ।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप से सूत्रित किया—

अद्रव्यदेवतात्वात् तु शेषः स्यात् ॥२१॥

[तु] सूत्र में 'तु' पद पूर्वोक्त अर्थ (—हिरण्यादि धारण पुरुषधर्म है) की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—हिरण्यादि-धारण पुरुषधर्म नहीं है, प्रत्युत [शेषः] अग्निहोत्र आदि कर्मों का शेष=अङ्ग [स्यात्] है, [अद्रव्यदेवतात्वात्]

द्रव्य और देवता का यहाँ कोई सम्बन्ध न होने से। किसी विधि को स्वतन्त्र कर्म मानने के लिए आवश्यक होता है कि उस विधि को सम्पन्न करने के लिए उसमें अपेक्षित द्रव्य, देवता तथा उसके फल का निर्देश किया गया हो। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा नहीं है। अतः हिरण्य-धारण-विधि को किसी कर्म का अङ्ग मानना उपयुक्त होगा। वह किस प्रधान कर्म का अङ्ग है? इसके लिए आचार्यों ने 'अग्निहोत्र' का संकेत किया। अग्निहोत्र नित्यकर्म है; इसका कोई अतिरिक्त फल नहीं माना गया, जैसे अन्य काम्य कर्मों का अतिरिक्त फल माना जाता है। नित्यकर्म का नियमपूर्वक अनुष्ठान न करने से जो प्रत्यवाय (दोष) होता है, अनुष्ठान करने पर व्यक्ति उस प्रत्यवाय से बचा रहता है। भले ही इसे फल कह लिया जाय, पर यह अतिरिक्त फल नहीं है, जैसे दर्श-पूर्णमास का स्वर्गप्राप्ति फल है।

ज्ञात होता है—'हिरण्य-धारण' आदि कर्म भी ऐसा ही नित्यकर्म है, जिसका कोई अतिरिक्त फल न होता हो। अग्निहोत्र न करने से प्रत्यवाय के समान, इसके (हिरण्यादि-धारण के) उल्लंघन से भी ऐसे दोषों की उद्भावना सम्भव है, जो अज्ञात शत्रु के रूप में ऐसे व्यक्ति को हानि. पहुँचाते रहते हैं। फलतः द्रव्य-देवता का यहाँ निर्देश न होना, हिरण्य-धारण की प्रधानकर्मता का निवारण करता है। इसलिए कर्म का अङ्ग मानना युक्त होगा।

वस्तुतः द्रव्य-देवता के निर्देश का अभाव हिरण्यादि-धारण के स्वतन्त्र याग-रूप होने का निषेध या निवारण कर सकता है; हिरण्यादि धारण के अभाव का द्योतक नहीं है। तब 'भार्यम्' पद का अर्थ 'धारणेन हिरण्यं संस्कुर्यात्' यही किया जा सकता है। अध्वर्यु आदि धारण से हिरण्य को संस्कृत करे। संस्कृत हिरण्य अग्निहोत्र आदि का उपकारक होने से उनका अङ्ग है, यह मानना युक्त होगा। इसे पुरुषधर्म मानना निष्प्रयोजन है। इसी प्रकार स्वच्छ वस्त्र धारण करना भी कर्म का अङ्ग मान्य होगा ॥२१॥

उक्त अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

वेदसंयोगात् ॥२२॥

[वेदसंयोगात्] 'हिरण्यं भार्यम्' आध्वर्यव कर्म है। इस रूप में वेद के साथ सम्बन्ध होने से इसको कर्म का अङ्ग मानना युक्त होगा।

यजुर्वेद अध्वर्यु-वेद कहा जाता है, क्योंकि यजुर्वेद में जो भी प्रधान या अङ्गभूत कर्म कहे गये हैं, उन सबका करनेवाला अध्वर्यु होता है। 'हिरण्यं भार्यम्' कर्म यजुर्वेद-विहित है। इसका करनेवाला भी अध्वर्यु होगा। पुरुषधर्म का कर्त्ता अध्वर्यु नहीं होता। इस प्रकार वेद के साथ 'हिरण्यं भार्यम्' का सम्बन्ध होने से यह पुरुषधर्म न होकर कर्म का अङ्ग मानना चाहिए ॥२२॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

द्रव्यसंयोगाच्च ॥२३॥

[द्रव्यसंयोगात्] 'हिरण्यं भार्यम्' में द्रव्य का सम्बन्ध होने से [च] भी यह कर्म का धर्म जाना जाता है।

'व्रीहीन् प्रोक्षति' वाक्य में द्वितीया विभक्ति इष्ट है; वह 'प्रोक्षति' का कर्म है। वैसे प्रोक्षण-क्रिया से व्रीहि का संस्कार किया जाता है। उस संस्कृत व्रीहि का यागकर्म में उपयोग होता है। वैसे ही 'हिरण्यं भार्यम्' वचन में द्वितीया विभक्तियुक्त 'हिरण्यम्' पद 'भार्यम्' का कर्म है। धारण-क्रिया से हिरण्य का संस्कार किया जाता है। संस्कृत हिरण्यद्रव्य याग का ऐसे ही उपकारक होता है, जैसे संस्कृत व्रीहिद्रव्य। इस प्रकार प्रस्तुत वचन (हिरण्यं भार्यम्) में द्रव्य का सम्बन्ध होने से इसको अग्निहोत्रादि कर्म का धर्म मानना उपयुक्त होगा; क्योंकि द्रव्य का संस्कार, कर्म का धर्म मानने पर ही सार्थक हो सकता है। यदि इसको पुरुष का धर्म माना जाता है, तो द्रव्यसंस्कार निष्प्रयोजन होगा। फलतः 'हिरण्यं भार्यम्' को पुरुषधर्म मानना प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। यही स्थिति 'सुवाससा भवितव्यम्' आदि वचनों के विषय में समझनी चाहिए ॥२३॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

स्याद्वास्य संयोगवत् फलेन सम्बन्धस्तस्मात् कर्मैतिशायनः ॥२४॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है; अर्थात् हिरण्यादि-धारण किसी अन्य कर्म का अङ्ग नहीं है, प्रत्युत [संयोगवत्] प्राजापत्य व्रत आदि के फल के संयोग के समान [अस्य] इस हिरण्यादि-धारण का [फलेन] फल के साथ [सम्बन्धः] सम्बन्ध [स्यात्] होता है, [तस्मात्] उस कारण से यह [कर्म] प्रधान कर्म है, पुरुषधर्म है,—ऐसी [ऐतिशायनः] इतिश के पुत्र ऐतिशायन आचार्य की मान्यता है।

जैमिनि आचार्य ने अपना सिद्धान्त अधिकरण के प्रथम सूत्र में कह दिया है। उसी कथन की पुष्टि के लिए ऐतिशायन आचार्य की मान्यता को—मानो साक्षी-रूप में प्रस्तुत किया है। तात्पर्य है, प्राचीन आचार्य भी इसी सिद्धान्त को मानते आये हैं।

जिस कर्म के फल का निर्देश नहीं होता, उसके द्रव्य, देवता व फल उसी प्रधान कर्म के अनुसार माने जाते हैं, जिसका वह अङ्ग या विकार है। हिरण्य-धारण के फल का निर्देश न होने से वह प्रधान कर्म न माना जाकर किसी अन्य कर्म का अङ्ग हो सकता है। हिरण्यधारण कर्म के विषय में यह आशंका पूर्वपक्ष

के प्रथम सूत्र (२१) द्वारा उभारी गई है। उसीका समाधान प्रस्तुत सूत्र द्वारा किया है। किसी कर्म का फल के साथ सम्बन्ध स्पष्ट हो जाने पर उसे प्रधान कर्म माने जाने में ओई अनिवार्य बाधा नहीं रहती। 'हिरण्यं भार्यम्' वाक्यबोधित कर्म ऐसा ही है। सूत्रकार ने बताया, जैसे प्रजापति व्रत में—व्रत-सम्बन्धी वाक्य के अनन्तर पठित अर्थवाद-वाक्य से—उसका फल के साथ सम्बन्ध होता है, वैसे ही हिरण्य-धारण कर्म का फल के साथ सम्बन्ध, वाक्य के अनन्तर पठित अर्थवाद-वाक्य से जाना जाता है।

प्रजापति व्रत है—'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्, नास्तं यान्तम्'—उदय होते हुए और अस्त होते हुए सूर्य को न देखे। 'तस्य व्रतम्' उसका व्रत है, यह कहकर उक्त वाक्य का निर्देश किया गया है। 'तस्य व्रतम्' यह सामान्य कथन है; उसे विशेष आकांक्षा रहती है, यह व्रत किस विषय का है? उस आकांक्षा की पूर्ति उक्त वाक्य से होती है—उदय-अस्त होते सूर्य को न देखने का संकल्प। यह सब पुरुषधर्म है; इसका किसी अन्य कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। अतः यह स्वयं में प्रधान कर्म है। प्रधान कर्म मानने पर इसके फल की कल्पना नहीं करनी पड़ती, प्रत्युत इसके आगे पठित—'एतावता ह्येनसा वियुक्तो भवति'—इतना करने से पाप-दोष से अलग हो जाता है, इस अर्थवाद-वाक्य से फल लक्षित हो जाता है, पहचाना जाता है। उदय-अस्त-काल में सूर्य को देखने से दृष्टि में दोष उत्पन्न हो जाता है। उसी को अर्थवाद-वाक्य में 'एनस्'—(पाप) पद से कहा है। उदयास्त-काल में सूर्य के अनीक्षण का व्रत=संकल्प लेनेवाला व्यक्ति—इसका पालन-अनुष्ठान करता हुआ—दृष्टिदोष से बचा रहता है; यही अनीक्षण संकल्परूप व्रत का फल है। सूर्य का प्रजापति नाम होने से इस व्रत को 'प्रजापति व्रत' कहा जाता है।

इसी प्रकार 'सुवर्ण हिरण्यं भार्यम्' के आगे 'सुवर्ण एव भवति, दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति' अर्थवाद-वाक्य पठित है। इन दोनों वाक्यों की परस्पर एक-वाक्यता स्पष्ट है। शुद्ध हिरण्य एवं स्वच्छ अखण्ड वस्त्रों का धारण करना आरोग्य तथा आयुष्य का वर्द्धक होता है। यजुर्वेद [३४।५१] में मन्त्र है—'यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः।' जो शत-प्रतिशत शुद्ध [दाक्षायण] हिरण्य को धारण करता है, वह देवों और मनुष्यों में निश्चय ही दीर्घ आयु करता है। इसी के अनुसार 'सुवर्ण एव भवति' का तात्पर्य है, वह व्यक्ति सुन्दर व स्वस्थ-नीरोग रहता है। इसी सन्दर्भ में 'दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति' का तात्पर्य है—स्वस्थ-नीरोग व्यक्ति के शत्रु=आयु व स्वास्थ्य को क्षीण करनेवाले शरीरस्थ रोगरूप शत्रु दुर्वर्ण हो जाते हैं; मलिन—क्षीण व दुर्बल हो जाते हैं। इस प्रकार अर्थवाद-वाक्य के अनुसार हिरण्यादि-धारण कर्म का फल रोगों से बचे रहना—अभिव्यक्त होता है। इसलिए हिरण्य-धारण को पुरुष-धर्मरूप प्रधान कर्म मानकर—उसके फल की कल्पना करने की जो आपत्ति

पूर्वपक्ष में उठाई गई, वह निराधार है।

यजुर्वेद के उक्त मन्त्र की ऋषि दयानन्दकृत व्याख्या में 'हिरण्य' पद ब्रह्मचर्य को लक्षित करता है,—ऐसी भावना अभिव्यक्त होती है। यह (ब्रह्मचर्य) अपने रूप में दीर्घकालिक स्वास्थ्य, आरोग्य, आयुष्य का सर्वाङ्गपूर्ण आधार है। तब 'हिरण्यं भार्यम्' में यह रहस्य भी अन्तर्हित समझना चाहिए। इसे पुरुषधर्म मानने पर तथा इसके फल का निश्चय हो जाने पर द्रव्य-देवता-विषयक आशंका निरादृत हो जाती है। संयत आहार-विहार-ब्रह्मचर्य आदि द्रव्य, और पुरुष स्वयं देवता है ॥२४॥ (इति सुवर्णधारणादीनां पुरुषधर्मताधिकरणम्—८)।

(जयादीनां वैदिकधर्माङ्गताधिकरणम्—९)

प्रस्तुत अधिकरण में कर्म से सम्बद्ध 'जप' आदि होम विवेच्य हैं। इस विषय में पाठ है—'येन कर्मणा ईर्त्सेत् तत्र जयान् जुहुयात्, राष्ट्रभृतो जुहोति, अभ्यातानान् जुहोति'—जिस कर्म से व्यक्ति समृद्धि की इच्छा करे, उस कर्म के साथ 'जय'-संज्ञक होम करना चाहिए; राष्ट्रभृत्-संज्ञक होम करता है, अभ्यातान-संज्ञक होम करता है। इनके विषय में सन्देह है—क्या ये होम कृषि आदि लौकिक कर्म तथा अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्म इन दोनों में ही जय आदि होम करने चाहिएँ? अथवा इन दोनों में से किसी एक में अनुष्ठेय हैं? शिष्य ने सुझाव दिया, दोनों प्रकार के कर्मों में इन होमों का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि अनुष्ठाता व्यक्ति समानरूप से यह चाहता है कि उसके द्वारा अनुष्ठीयमान प्रत्येक कर्म अपने विषय में समृद्धि का जनक हो।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-सुझाव को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

शेषोऽप्रकरणेऽविशेषात् सर्वकर्मणाम् ॥२५॥

[अप्रकरणे] जो कर्म किसी प्रधान कर्म के प्रकरण में पठित नहीं, वह [अविशेषात्] किसी विशेष=असाधारण हेतु के न होने से [सर्वकर्मणाम्] लौकिक-वैदिक सब कर्मों के [शेषः] शेष=अङ्ग होते हैं।

इसके अनुसार अप्रकरण-पठित 'जय' आदि संज्ञक होमों का लौकिक-वैदिक सब कर्मों में अनुष्ठान किया जाना चाहिए।

श्रौतकर्म आहवनीय अग्नि में किये जाते हैं, तथा गृह्यकर्म गार्हपत्य अग्नि में। विवाहसंस्कार गृह्यकर्म है, गार्हपत्य अग्नि में होता है। जय-संज्ञक आदि होमों का विवाहसंस्कार में विनियोग है। कृषि, शाला, वृक्षारोपण आदि के समान विवाहसंस्कार लौकिक कर्म है। 'जय'-संज्ञक आदि होमों का इसमें विधान यह स्पष्ट करता है कि 'जय' आदि संज्ञक होम लौकिक-वैदिक सभी कर्मों के अङ्ग हैं।

जय होम—'चित्तञ्च स्वाहा' इत्यादि १३ मन्त्रों से सम्पन्न होनेवाला १३ आहुतियों का होम 'जय'-संज्ञक है।

राष्ट्रभृत् होम—'ऋताषाड्' इत्यादि १२ मन्त्रों से किया जानेवाला १२ आहुतियों का होम 'राष्ट्रभृत्' कहाता है।

अभ्यातान होम—'अग्निर्भूतानां' इत्यादि १८ मन्त्रों से पूरा किया जानेवाला १८ आहुतियों का 'अभ्यातान' होम कहा जाता है ॥२५॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनीयसंयोगात् ॥२६॥

[तु] 'तु' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है, जय आदि होम लौकिक-वैदिक सब कर्मों के अङ्ग नहीं हैं। [होमाः] ये होम हैं, अतः [आहवनीयसंयोगात्] होमों का आहवनीय अग्नि के साथ सम्बन्ध होने से, जयादि होम [व्यवतिष्ठेरन्] केवल वैदिक कर्मों के साथ व्यवस्थित रहने चाहिएँ।

जय आदि होम सब कृषि आदि कर्मों के भी अङ्ग हैं, यह मान्य नहीं है। जय आदि के साथ 'जुहुयात्, जुहोति' क्रियाओं का सम्बन्ध होने से ये होम हैं, जिनका आहवनीय अग्नि में सम्पादन किया जाता है। 'यदाहवनीये जुहोति, तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति'—जो आहवनीय में होम किया जाता है, उससे कर्त्ता को वह अभीष्ट प्राप्त होता है, जो उसको प्रिय है। इस वचन से श्रौतकर्मों का आहवनीय अग्नि के सम्बन्ध ज्ञात होता है। इस कारण जो कर्म आहवनीय अग्नि में किए जाते हैं, जयादि-संज्ञक होम उन्हीं कर्मों के अङ्ग हो सकते हैं। कृषि आदि लौकिक कर्मों का सम्बन्ध, क्योंकि आहवनीय अग्नि के साथ नहीं है, इसलिए जयादि होम कृषि आदि लौकिक कर्मों के अङ्ग सम्भव नहीं। यही शास्त्रीय सिद्धान्त है ॥२६॥

इसी की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

शेषश्च समाख्यानात् ॥२७॥

[समाख्यानात्] आध्वर्यव नाम से कहे जानेवाले वेद में जयादि होमों के पठित होने से [च] भी [शेषः] ये होम अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के अङ्ग हैं, यह स्पष्ट होता है।

आध्वर्यव अथवा अध्वर्युवेद नाम से यजुर्वेद जाना जाता है। वहाँ विधान किए गए सब कर्मों का सम्पादन अध्वर्यु द्वारा किया जाता है। जयादि होमों का विधान भी यजुर्वेद में होने से उनका सम्पादन अध्वर्यु द्वारा होता है। यदि जयादि होमों को लौकिक कृषि आदि कर्म का अङ्ग माना जाय, तो अध्वर्यु द्वारा उनका सम्पादन सम्भव न होगा, क्योंकि कृषि का सम्पादन कृषक क्षेत्र में करता है। आहवनीय अथवा गार्हपत्य अग्नि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। फलतः जयादि

होमों को अग्निहोत्रादि केवल वैदिक कर्मों का अङ्ग मानना शास्त्रीय सिद्धान्त है[1] ॥९॥ (इति जयादीनां वैदिकधर्माङ्गताधिकरणम्—९)।

---

१. सूत्रकार और भाष्यकार का यह कथन कि—जयादि होम लौकिक कर्मों का अङ्ग नहीं है—चिन्तनीय है। विवाह आदि लौकिक कर्म में इनके विनियोग पर आचार्यों ने कोई प्रकाश नहीं डाला। इसके विवेचन के लिए निम्नांकित विचार पढ़िए—

"विचारणीय यह है कि जय-राष्ट्रभृत्-अभ्यात (०तान) होमों का विधान विवाह-कार्य में भी गृह्यकारों ने किया है। यह वैवाहिक अग्नि आहवनीय नहीं है। अतः सूत्रकार और भाष्यकार का वचन विचारणीय है। गृह्यकर्म श्रौतकर्मों के ही परिशिष्टरूप हैं, क्योंकि श्रौत, गृह्य और धर्म-सूत्रों की 'कल्प' यह सामान्य संज्ञा है। यथा ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों का परस्पर सम्बन्ध है, सभी ब्राह्मण के ग्रहण से गृहीत होते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी गृह्यकर्मों में श्रौत-सूत्रोक्त सामान्य परिभाषाएँ गृहीत होती हैं। धर्मसूत्रों में गृह्योक्त कर्म के अतिरिक्त भी होमों का विधान मिलता है। अतः सूत्र [३।४।२६] में आहवनीय को मथनादि से संस्कृत अग्नि का उपलक्षण मान लें, तो सारी आर्ष पारम्परिक वैदिक व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। अन्यथा विवाह-कर्म में जयादि होम का प्रयोग चिन्त्य मानना होगा। कृषिकर्म में तो गृह्यसूत्रों में साक्षात् होम का विधान देखा जाता है, यथा 'अथ सीतायज्ञः' (पार० गृ० २।१७)।

वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अनेक ऐसे संस्कारादि कर्मों में होम का विधान किया है, जिनमें प्राचीन गृह्यकारों ने होम का विधान नहीं किया है, यथा—गर्भाधानादि कुछ संस्कार। स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत है कि प्रत्येक शुभ कर्म में होम करना चाहिए। उससे जहाँ अभीष्ट-सिद्धि के लिए ईश्वर से स्तुति-प्रार्थना होती है, वहाँ होम का लोकदृष्ट 'जलवायु की शुद्धि' प्रयोजन भी उपपन्न होता है। इस प्रकार दत्तक-विधि, कारखाना व दुकान खोलना, वृक्षारोपण, रामनवमी, कृष्ण-जन्माष्टमी आदि सभी लौकिक कर्मों में भी होम कर्त्तव्य है। यह स्मार्त्त होम गृह्यसूत्रोक्त शालाकर्म-सम्बन्धी होम के सदृश करना चाहिए। पुराने विचारों के वैदिक चाहे स्वामी दयानन्द सरस्वती के इस मत को स्वीकार न करें, तथापि यह मत परम्परा से ऋषि-मुनियों द्वारा समादृत है, अन्यथा गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में इन जयादि होमों का विधान न होता। इतना ही नहीं, स्वामी दयानन्द सरस्वती के मतों को अवैदिक माननेवाले पौराणिक विद्वान् भी आजकल विष्णुयाग, दुर्गाहोम आदि अवैदिक होमों के रूप में होम करते

(वैदिकाश्वप्रतिग्रहे इष्टिकर्त्तव्यताधिकरणम्—१०)

तैत्तिरीय संहिता [२।३।१२।१]में पाठ है—'वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति। यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्'—वरुण उसको पकड़ लेता है, जो अश्वों का दान लेता है। जितने अश्वों का दान ले, वरुण देवतावाले उतने चार कपालों में पकाये गए हवि से याग करे। वरुण देवता के उद्देश्य से किए जाने के कारण इसका नाम वारुणी इष्टि है। इसमें सन्देह है—क्या इस इष्टि का विधान लौकिक अश्वप्रतिग्रह में माना जाय ? अथवा वैदिक अश्वप्रतिग्रह में ? लोक में माँगने पर या बिना माँगे किसी को अश्व दान में मिल जाय, यह लौकिक अश्वप्रतिग्रह है। यागानुष्ठान में दक्षिणारूप से अश्व का दान-रूप में प्राप्त होना वैदिक अश्वप्रतिग्रह है। पौण्डरीक याग में सहस्र अश्व दक्षिणा कही है। ज्योतिष्टोम में गौ और अश्व दक्षिणारूप में दिया जाता है।

शिष्य ने जिज्ञासारूप से कहा—इन दोनों विकल्पों में से केवल लौकिक अश्वप्रतिग्रह में इष्टि का प्रयोग माना जाना चाहिए। अश्वप्रतिग्रह में 'वरुणो वा एतं गृह्णाति' इत्यादि वाक्य से दोष का माना जाना निश्चित है। वैदिक अश्व-प्रतिग्रह में उसकी सम्भावना नहीं; क्योंकि याग के अङ्गरूप में वहाँ अश्वदक्षिणा का विधान है। इसलिए लौकिक अश्वप्रतिग्रह में वारुणी इष्टि का प्रयोग होना युक्त प्रतीत होता है।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

दोषात् त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके
न दोषः स्यात् ॥२८॥

[दोषात्] 'वरुणो वा एतं गृह्णाति, योऽश्वं प्रतिगृह्णाति' वाक्य से अश्व-प्रतिग्रह में दोष सुने जाने के कारण [तु] तो [लौकिके]लौकिक अश्व-प्रतिग्रह में [इष्टिः] वारुणी इष्टि का प्रयोग[स्यात्]होना चाहिए, [हि]क्योंकि [वैदिके] वैदिक अश्वप्रतिग्रह में[शास्त्रात्]याग में अश्वदक्षिणा दान का शास्त्रवचन प्रमाण होने से [दोषः] दोष [न] नहीं [स्यात्] होगा।

किसी क्षुद्र-नीच अथवा पापयुक्त पुरुष से अश्व के प्रतिग्रह में दोष का माना जाना संगत है। जहाँ दोष है, वहाँ इष्टि का प्रयोग उपयुक्त है। उस दोष के

ही हैं। इस दृष्टि से जयादि होमों का उन सभी शुभ कर्मों में निवेश हो सकता है, जिनमें समृद्धि की कामना हो। सूत्रकारानुसार श्रौतकर्म के मुख्य-तया अङ्ग होते हुए भी गृह्यादि स्मार्त्त कर्मों के माध्यम से लौकिक कर्मों से भी मोक्ष सम्भव है।" (यु० मी०)

निवारण के लिए चतुष्कपाल—संस्कृत हवि द्रव्यवाली वारुणी इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। ऐसे अश्वप्रतिग्रह में दोष का कथन ही उक्त वाक्य द्वारा हुआ है। यहाँ अश्वप्रतिग्रह को वरुणदेव के द्वारा ले लेना दोष है। उससे छुड़ाना-रूप कर्म इष्टि है। यह सब लौकिक अश्वप्रतिग्रह में सम्भव है। वैदिक अश्वप्रतिग्रह में इसका अवकाश नहीं। वहाँ दक्षिणारूप में अश्वप्रतिग्रह शास्त्रवचन से प्रमाणित होने के कारण निर्दोष है। अवाञ्छित व अनुचित स्थान से अश्वप्रतिग्रह में दोष सम्भव है; क्योंकि वह अकर्त्तव्य है। अकर्तव्य का करना दोष (=पाप) का उद्भावन करता है, पर वैदिक अश्वप्रतिग्रह कर्त्तव्य है, याग का शास्त्रविहित अंग है। इसलिए दोष-निवारणार्थ वारुणी इष्टि का निर्दोष वैदिक अश्वप्रतिग्रह में निवेश का प्रश्न ही नहीं उठता। इस इष्टि का अनुष्ठान दाता को करना चाहिए? या प्रतिग्रहीता को? इसका विवेचन अग्रिम अधिकरण (११) में किया गया है। यहाँ केवल इतना कहना अभीष्ट है कि उक्त कारणों से वारुणी इष्टि का प्रयोग वैदिक अश्वप्रतिग्रह में नहीं होना चाहिए ॥२८॥

उक्त पूर्वपक्ष का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अर्थवादो वाऽनुपपातात् तस्मात् यज्ञे प्रतीयेत ॥२९॥

[वा] सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है, तात्पर्य है—लोक में किसी क्षुद्र-नीच या पापी व्यक्ति से अश्वप्रतिग्रह में इष्टि नहीं है। 'वरुणो वा एतं गृह्णाति' यह दोषकथन [अर्थवादः] अर्थवाद है, [अनुपपातात्] अश्व-प्रतिग्रह से वरुणग्रहण=जलोदर की प्राप्ति न होने से, [तस्मात्] इसलिए [यज्ञे] वैदिक कर्म में अश्वप्रतिग्रह पर इष्टि का प्रयोग [प्रतीयेत] जाना जाता है।

जो व्यक्ति लोक में क्षुद्र-नीच व पापकर्मा से अश्वप्रतिग्रह करे, वह वारुणी इष्टि का प्रयोग करे,—यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि 'वरुणो वा एतं गृह्णाति' इत्यादि वाक्य श्रौतयाग प्रसंग में कहा गया है। अतः वारुणी इष्टि का अनुष्ठान श्रौत कर्म का अङ्ग माना जाना चाहिए। ऐसा न मानकर लौकिक कर्म में अनुष्ठान मानने से स्वतन्त्र कर्म होने के कारण इसके फल की कल्पना करनी होगी, जो गौरवमूलक होने से अन्याय्य है। श्रौतकर्म का अङ्ग मानने पर उसी कर्मफल के साथ इसकी एकवाक्यता होने से अतिरिक्त फलकल्पना के गौरव से बचा जा सकता है।

अश्वप्रतिग्रह किए जाने पर वरुण से गृहीत होता है, अर्थात् वरुण=जल इसे पीड़ित करता है, उस पीड़ा से बचने के लिए इष्टि का अनुष्ठान है। वरुण द्वारा पीडित किया जाना, जलोदर से पीड़ित होने के समान है। अश्वप्रतिग्रह से जलो-दर हो जाता हो, यह यथार्थ नहीं है। यह उपमामूलक स्तुतिरूप अर्थवाद है। जैसे

चिकित्सा द्वारा जलोदर से छुटकारा मिल जाता है, ऐसे ही अश्वप्रतिग्रह में इष्टि का अनुष्ठान श्रेय का आपादन करने में सहायक होता है।

यदि गम्भीरता से विचार किया जाए, तो वैदिक कर्म में अनुष्ठान के अनन्तर दक्षिणारूप में अश्वप्रतिग्रह ऋत्विक् करता है। यह आवश्यक नहीं कि ऋत्विक् के पास अश्व को रखने के उपयुक्त साधन हों, तथा उसको प्रयोग में लाने के लिए समुचित सामर्थ्य व जानकारी हो। यह अश्वप्रतिग्रह उसको पीड़ित–दुःखी करनेवाला हो जाता है, क्योंकि घास, दाना-पानी, खुरैरा, नियमित रूप से घुमाना आदि अश्वसम्बन्धी कार्य उसके लिए एक नई विपदा खड़ी हो जाती है। ऐसी स्थिति में एक लोक-कहावत है—पेट का पानी पतला पड़ जाना। जिस वस्तु को रख सकना किसी व्यक्ति की शक्ति के बाहर हो, उस वस्तु के मिल जाने पर उसके परिणाम को उक्त कहावत अभिव्यक्त करती है। ऐसी ही कुछ भावना 'वरुण-गृहीत' पद की है। उस विपदा से छुटकारा पाने के लिए वारुणी इष्टि के अनुष्ठान का तात्पर्य है—उन साधनों से सम्पन्न होने का प्रयास करना जिनके रहते—उस वस्तु के रखने में कोई असुविधा सामने नहीं आती। वह अश्वप्रतिग्रह श्रौतकर्म में हो, अथवा लौकिक कर्म में, उक्त स्थिति उभयत्र समान रहती है ॥२९॥ (इति वैदिकाश्वप्रतिग्रहे इतिकर्त्तव्यताऽधिकरणम्—१०)।

(दातुर्वारुणीष्ट्यधिकरणम्—११)

गत अधिकरण में यह निश्चय किया गया कि वारुणी इष्टि का अनुष्ठान वैदिक अश्वप्रतिग्रह में किया जाना चाहिए। इष्टि के अनुष्ठान का वाक्य है—'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्' जितने अश्वों का प्रतिग्रह करे, उतने—चार कपालों में पकाए गए वरुण देवतासम्बन्धी—पुरोडाशों से याग करे। इसमें सन्देह है—क्या इष्टि का अनुष्ठान अश्व का दाता यजमान करे? अथवा अश्व का प्रतिग्रहीता = आदाता = दान स्वीकार करनेवाला ऋत्विज् करे? इष्टि-वाक्य से ज्ञात होता है कि अनुष्ठान दान लेनेवाले ऋत्विज् को करना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने इसी भाव को पूर्वपक्षरूप से सूत्रित किया—

अचोदितं च कर्मभेदात् ॥३०॥

[अचोदितम्] अश्व का दाता इष्टि करे, यह अर्थ कहीं कहा नहीं गया [च] और [कर्मभेदात्] दान देना तथा दान लेना रूप कर्मभेद से जाना जाता है कि इष्टि का अनुष्ठान दान लेनेवाले ऋत्विज् को करना चाहिए।

'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्' वाक्य में 'प्रतिगृह्णीयात्' और 'निर्वपेत्' दो क्रियापद हैं। जो पहली क्रिया का कर्त्ता है,

वही दूसरी का। इससे स्पष्ट है, जो अश्वों का प्रतिग्रह करे, अश्वों का दान स्वीकार करे, वही निर्वाप=याग करे। दान स्वीकार करनेवाला ऋत्विज् है, वही इष्टि का अनुष्ठान करेगा। जब दान लेनेवालों के लिए इष्टि का विधान वाक्यबोधित है, तो दान देनेवाला इष्टि नहीं करेगा; क्योंकि देना-लेना दोनों भिन्न कर्म हैं। दान देनेवाला इष्टि करे, ऐसा कहीं कथन भी नहीं है। अतः इष्टि आदाता करे ॥३०॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सा लिङ्गादार्त्विजे स्यात् ॥३१॥

[सा] वह अश्वप्रतिग्रह-सम्बन्धी वारुणी इष्टि [लिङ्गात्] लिङ्गरूप प्रमाण से [आर्त्विजे] ऋत्विक् के प्रेरयिता=अश्व के प्रदाता यजमान के विषय में [स्यात्] होती है।

इष्टि का अनुष्ठान अश्व के दाता यजमान को करना चाहिए। दाता यजमान के लिए इष्टि है, अथवा आदाता ऋत्विज् के लिए, ऐसा श्रुतिरूप स्पष्ट कथन किसी पक्ष में नहीं है। गत सूत्र से वाक्य के आधार पर इष्टि का अनुष्ठान ऋत्विज् के लिए बताया। परन्तु लिङ्ग-प्रमाण से जाना जाता है कि इष्टि का अनुष्ठान यजमान को करना चाहिए। वाक्य से लिङ्ग बलवान् होता है; अतः इष्टि का अनुष्ठान अश्व के प्रदाता यजमान के लिए निश्चित है।

वह लिङ्ग है, उक्त प्रसंग के पूर्वापर पदों की एकवाक्यता, अर्थात् पूर्वापर पदों का परस्पर अर्थमूलक सामञ्जस्य वचन है—'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्' प्रजापति ने वरुण के लिए अश्व प्रस्तुत किया। यहाँ प्रजापति अश्व का दाता है, वरुण आदाता=प्रतिग्रहीता है। आगे वचन है—'स स्वरं देवतामार्च्छत्' उसने अपनी देवता को आर्त्त=दुःखी किया। यहाँ 'सः' सर्वनाम पद पूर्वप्रकृत अर्थ की अपेक्षा करता है। 'सः' प्रथमा एकवचन पद है, पूर्वप्रकृत प्रथमा एकवचन पद 'प्रजापतिः' है। इस प्रकार 'सः' पद यहाँ प्रजापति का निर्देश करता है। इसलिए उसके साथ 'सः' की एकवाक्यता सम्पन्न होती है। वरुण के साथ 'सः' की एकवाक्यता कहना युक्त नहीं, क्योंकि पूर्ववाक्य में 'वरुणाय' चतुर्थी एकवचन है। यह वैयाधिकरण्य एकवाक्यता का बाधक है।

आगे पाठ है —'सः पर्यदीर्यत' वह परिदीर्ण=दीर्घा रोग से ग्रस्त हुआ। यहाँ भी पूर्वोक्त आधार पर 'सः' पद की एकवाक्यता पूर्वप्रकृत 'प्रजापति' के साथ है, अतः उसी का निर्देश करता है। पुनः पाठ है—'स एवैतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्, तं निरवपत्' उसने ही इस वरुण देवतासम्बन्धी चार कपालों में पकाए गए पुरोडाश से सम्पन्न होनेवाले याग को देखा, अर्थात् जाना व उसका अनुष्ठान किया। यहाँ भी 'सः' सर्वनाम प्रजापति का निर्देश करता है। वारुणी इष्टि का अनुष्ठान

करनेवाला यहाँ 'प्रजापति' ही है; क्योंकि प्रसंग में 'निरवपत्' क्रिया का कर्त्ता वही सम्भव है। 'ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत प्रजापतिः' वारुणी इष्टि का अनुष्ठान करने से निश्चित ही वह प्रजापति वरुणपाश से मुक्त हो गया।

पूर्वापर पदों ('सः' आदि) के परस्पर सामञ्जस्य से निश्चित हुआ—अश्व का दाता प्रजापति और आदाता वरुण है। यहाँ 'वरुणो वा एतं गृह्णाति' वरुण इसको पकड़ता है, अर्थात् पीड़ित करता है, कथन हेतुगर्भित है। दाता पीड़ित होता है, आदाता पीड़ित करता है। जो पीड़ित होता है, पीड़ा-निवारण के लिए उसी को इष्टि का अनुष्ठान करना अभीष्ट है। क्योंकि यहाँ अश्वदाता प्रजापति वरुण से गृहीत अर्थात् पीड़ित हुआ, तब 'वरुणो वा एतं गृह्णाति, योऽश्वं प्रतिगृह्णाति' वाक्य में 'प्रतिगृह्णाति' क्रियापद के—'दान लेना' अर्थ को छोड़कर 'दान देना' (प्रतिगृह्णाति = प्रयच्छति) अर्थ करना चाहिए। उक्त वाक्य की हेतुगर्भिता है—जिस कारण प्रजापति अश्वदाता वरुण की पकड़ से—इष्टि के अनुष्ठान द्वारा—मुक्त हुआ, इसी कारण अश्व प्रदान करनेवाले अन्य किसी को भी वरुण देवता-सम्बन्धी हवि का निर्वाप (= याग) करना चाहिए।

इस अधिकरण की व्याख्या में व्याख्याकारों ने लम्बा विवाद खड़ा किया है। तब भी यह निर्बाध, चतुरस्र स्वारस्य रूप में निश्चित नहीं किया जा सका कि अश्वप्रदाता यजमान को ही इष्टि का अनुष्ठान करना चाहिए। इष्टि अनुष्ठान की भावना है, जो पीड़ित हो, वह इष्टि-अनुष्ठान करे। अनुभव में देखा जाता है, दाता और आदाता, अर्थात् यजमान और ऋत्विज् अपने-अपने रूप में दोनों पीड़ित होते हैं। ऋत्विज् की पीड़ा का निर्देश गतसूत्र में किया गया है। दाता यजमान की पीड़ा का स्वरूप आचार्यों ने बताया है—स्वामित्व का नष्ट होना। यजमान याग सम्पन्न हो जाने पर ऋत्विज् को दक्षिणारूप में अश्व प्रदान करता है। अश्व पर उसका स्वामित्व नहीं, इससे उसके पेट का पानी पतला पड़ जाता है, तात्पर्य है—अश्व अपने हाथ से निकल जाने के कारण वह दुःखी होता है। इसी स्थिति का नाम है—वरुण से पकड़ा जाना। इससे बचने के लिए यजमान अश्व-दान की उपेक्षा नहीं कर सकता। याग की सम्पन्नता के निमित्त वह अश्व की दक्षिणा देने के लिए बाध्य है, क्योंकि वह शास्त्रविहित है। उसका उल्लंघन व विकल्प सम्भव नहीं। तब अश्वदान में स्वामित्व के नष्ट होने का दुःख, कर्त्तव्य से विमुख होना है। उस दशा (अश्व दक्षिणा न देने की दशा) में याग सम्पन्न न होने से यजमान याग के भावी फल से वञ्चित रह जायगा। ऐसी अवस्था में यजमान द्वारा वारुणी इष्टि के अनुष्ठान का स्वरूप यही सम्भव है कि वह अपने हृदय में स्वामित्वनाश की भावना को हटाकर शास्त्रीय कर्त्तव्य की भावना को जागृत करे।

ऋत्विक् भी दक्षिणा के रूप में अश्व को लेने के लिए बाध्य है, क्योंकि उस विशिष्ट याग की अश्व-दक्षिणा शास्त्रविहित है। उसका उल्लंघन व बदल सम्भव

नहीं। उसका दुःख है—अश्व को यथावत् रखने के लिए साधनहीनता, तथा उपयुक्त व्यवहार में लाने के लिए असामर्थ्य। उसके रख-रखाव के लिए साधन जुटाना तथा उसे (अश्व को) सवारी आदि व्यवहार में लाने के लिए सामर्थ्य का सम्पादन ही ऋत्विक् का वारुणी इष्टि-अनुष्ठान है। अश्व को देने और लेने से जो दोनों के पेट का पानी पतला पड़ गया था, वह ठीक हो जाता है। वरुणपाशरूप अपने-अपने दुःख से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार दाता और आदाता दोनों के द्वारा इष्टि के अनुष्ठान में कोई दोष नहीं है ॥३१॥ (इति दातुर्वारुणीष्ट्यधिकरणम्—११)।

(वैदिकसोमपानव्यापदि सौमेन्द्रचरुविधानाधिकरणम्—१२)

मैत्रायणी संहिता [२।२।१३] में पाठ है—**'सौमेन्द्रं चरुं निर्वपेच्छ्यामाकं सोमवामिनः'**—सोम पीकर वमन करनेवाले के लिए सोम और इन्द्र देवतावाले श्यामाक चरु का निर्वाप करे। इसमें सन्देह है—क्या यह श्यामाक चरु इष्टि का—लौकिक सोमपान के वमन में—विधान है? अथवा वैदिक सोमपान के वमन में? ज्योतिष्टोम और उसकी विकृतियों में जो सोमपान किया जाता है, वह वैदिक सोमपान है। आयुर्वेद में वमन के लिए गिलोय आदि के रूप में प्रयोग किया जानेवाला लौकिक सोमपान है।

लौकिक या वैदिक सोमपान का वमन होने पर सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग लौकिक सोमपान के वमन में होना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में इसी अर्थ को प्रस्तुत किया—

पानव्यापच्च तद्वत् ॥३२॥

[पानव्यापत्] पिये हुए सोम की व्यापत्=विपदा=वमनरूप दोष [च] भी [तद्वत्] अश्वप्रतिग्रह में वारुणी इष्टि के समान समझनी चाहिए। तात्पर्य है—जैसे वारुणी इष्टि का प्रयोग लौकिक अश्वप्रतिग्रह में कहा गया है, वैसे ही सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग लौकिक सोमपान का वमन होने पर किया जाना चाहिए।

सोम और इन्द्र देवतावाले श्यामाक चरु से की जानेवाली इष्टि का प्रयोग वैदिक सोमपान-वमन में किया जाना निष्प्रयोजन है, अतः अनावश्यक है। ज्योतिष्टोम अथवा उसके विकृतियागों में यज्ञशेष सोम के पान का विधान है। सोम का पान कर लेने पर यागविधान सम्पन्न हो जाता है। यदि पिये सोम का अनन्तर वमन हो जाय, तो याग की सम्पन्नता=पूर्णता में कोई दोष नहीं आता। यागशेष सोम के पान का विधान है, जो पी लेने पर पूरा हो चुका है। परन्तु लौकिक सोमपान में ऐसा नहीं है। वहाँ सोमपान के अनन्तर वमन हो जाने पर पित्तादि धातुवैषम्य की स्थिति विद्यमान रहती है। उसको साम्य अवस्था में लाने के लिए श्यामाक चरु का प्रयोग अपेक्षित रहता है। सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग दोष

उपस्थित होने पर बताया है—'इन्द्रियेण वा एष वीर्येण व्यृध्यते, यः सोमं वमति' निश्चय ही यह इन्द्रियगत सामर्थ्य से हीन होता है, जो सोम का वमन करता है। लोक में पित्तादि धातुओं की समता के लिए सेवन किए गए सोम का वमन हो जाने पर धातुओं की समता न रहने से चक्षु आदि इन्द्रियों पर उसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। इन्द्रियाँ मुरझाई-सी हो जाती हैं। लौकिक सोमपान-वमन में इन्द्रिय का सामर्थ्यहीन होना कथन उपपन्न होता है। इस दोष की निवृत्ति के लिए लौकिक सोमपान-वमन में इष्टि का प्रयोग सार्थक है।

शास्त्रीय विधान के अनुसार वैदिक सोमपान-वमन में कोई दोष नहीं है, जैसा गत पंक्तियों में स्पष्ट किया। वैदिक सोमपान में 'शेषः पातव्यः' के अनुसार याग-शेष सोम पी लेना चाहिए। पी लेने पर विधि पूरी हो जाती है। शास्त्रविहित सोमपान की क्रिया पूरी हो जाने पर यदि पश्चात् वमन हो जाता है, तो उससे शास्त्रविधान में कोई न्यूनता या दोष नहीं आता। फलतः सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग लौकिक सोमपान-वमन में माना जाना युक्त प्रतीत होता है ॥३२॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

दोषात्तु वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न
दोषः स्यात् ॥३३॥

[तु] सूत्र में 'तु' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है; तात्पर्य है—लौकिक सोम के वमन में सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग युक्त नहीं है। [दोषात्] दोष का कथन होने से [वैदिके] वैदिक सोम के वमन में इष्टि का प्रयोग [स्यात्] होता है। [लौकिके] लौकिक सोम के वमन में [दोषः] दोष [न] नहीं [स्यात्] होता, [हि] क्योंकि वह [अर्थात्] अर्थ=विशेष प्रयोजन से होता है।

पूर्वपक्षी ने लौकिक सोमपान के वमन की वास्तविकता को न समझकर उक्त कथन किया है। लोक में—शरीर के भीतर पित्त आदि धातुओं के विषम हो जाने—विकृत हो जाने पर उन्हें बाहर निकाल देने के प्रयोजन से वमन कराया जाता है। जो औषध प्रायः वमन के लिए दिए जाते हैं, उनमें मुख्य मैनफल है। पर गिलोय एवं अन्य सोम-पद-वाच्य लताओं का—रोगी व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार—सम्मिश्रण रहता है। उसी को यहाँ लौकिक सोमपान-रूप में कहा गया है। उस सोमपान का प्रयोजन ही वमन है। वह पान सोम=शान्ति के लिए होता है। वमन के साथ पित्त आदि विकृत धातु शरीर के बाहर हो जाते हैं। रोगी व्यक्ति उससे शान्ति-सुख, शरीर में सौम्य भाव का अनुभव करता है। लोक में वह वमन दैहिक धातुसाम्य को स्थापित करता है, उसमें कोई दोष नहीं।

वैदिक सोमपान-वमन में स्थिति उससे विपरीत है। जहाँ लौकिक सोम-वमन में व्यक्ति स्वयं को स्वस्थ व शान्त अनुभव करता है, वहाँ वैदिक सोम-वमन में

व्यक्ति की अस्वस्थता, उद्विग्नता, चक्षु आदि इन्द्रियशैथिल्य प्रभृति दोष स्पष्ट अनुभव में आते हैं। इसी स्थिति को 'इन्द्रियेण वा एष वीर्येण व्यृध्यते, यः सोमं वमति' वाक्य से निर्दिष्ट किया गया है। यह कथन वैदिक सोमपान के वमन में उपपन्न होता है। वमन का कारण अधिक पिया जाना अथवा प्रकृति के अनुकूल न होना आदि कुछ भी हो, पर ज्योतिष्टोम में सोमपान के वमन को शास्त्र ने दोष माना है, यह उक्त वाक्य से स्पष्ट है। वमन के परिणामस्वरूप चक्षु आदि इन्द्रियों में शिथिलता व चित्त की स्पष्ट अनुभूत उद्विग्नता के शमन के लिए श्यामाक चरु-इष्टि के अनुष्ठान का विधान है। श्यामाक का प्रयोग ऐसी उद्विग्नता को शान्त करता है।

श्यामाक एक कदन्न है, जो स्वयं खेतों में उपज आता है। लोकभाषा में इसे 'सभा' या 'सावाँ' बोलते हैं ॥३३॥ (इति वैदिकसोमपानव्यापदि सौमेन्द्रचरु-विधानाऽधिकरणम्—१२)।

(सौमेन्द्रचरोर्यजमानपानव्यापद्विषयताऽधिकरणम्—१३)

गत अधिकरण में निश्चित किया—सौमेन्द्र चरु इष्टि का प्रयोग वैदिक सोम-वमन में होता है। वहाँ विचारणीय है, प्रस्तुत इष्टि का प्रयोग ऋत्विक् और यजमान–किसी को भी सोम-वमन हो जाय, वहाँ–सर्वत्र होना चाहिए? अथवा किसी एक के वमन में होना चाहिए? वमन होना सबके लिए समान है, इसलिए इष्टि का प्रयोग सबके लिए होना चाहिए। इसी अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्व-पक्षरूप में सूत्रित किया—

तत्सर्वत्राविशेषात् ॥३४॥

[तत्] वह सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग [सर्वत्र] सबके विषय में, अर्थात् ऋत्विक् और यजमान सबके सोमवमन में समझना चाहिए, क्योंकि [अविशेषात्] किसी विशेष का निर्देश न होने से।

'सोमवामिनः' सामान्य निर्देश है। सोमपान करके जिस किसी को भी वमन हो जाय, उसे सौमेन्द्र इष्टि का अनुष्ठान करना चाहिए। यागशेष सोम का यज-मान और ऋत्विक् सभी पान करते हैं। किसी को भी सोम का वमन सम्भव है। ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है कि अमुक के सोम-वमन में इष्टि का प्रयोग हो, अमुक के न हो। इसलिए ऋत्विक् और यजमान सबके लिए—सोमवमन होने पर इष्टि का प्रयोग समझना चाहिए ॥३४॥

ऐसा पूर्वपक्ष होने पर आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥३५॥

[वा]सूत्र में 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है; तात्पर्य है—सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग यजमान और ऋत्विक् सबके लिए हो, ऐसा समझना युक्त नहीं है। [स्वामिनः]स्वामी=यज्ञकर्त्ता यजमान के सोमवमन में इष्टि का प्रयोग होता है, [तदर्थत्वात्] प्रधानकर्म के उसी के लिए होने से।

सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग केवल स्वामी, अर्थात् यज्ञकर्त्ता यजमान के लिए है। ज्योतिष्टोम आदि याग यजमान के लिए होता है; वही उसका कर्त्ता है, वही उसके फल का भोक्ता है। उस याग के प्रसंग में ही सोमवमन करने पर सौमेन्द्र इष्टि का विधान है, तो वह भी यजमान के लिए है। अध्वर्यु-होता आदि ऋत्विक् यजमान द्वारा क्रीत हैं, दक्षिणा आदि पारिश्रमिक देकर खरीदे हुए हैं। प्रधानकर्म ज्योतिष्टोम के कर्तृत्व और भोक्तृत्व में उनका कोई भाग नहीं है। उनके सोमवमन से याग की सर्वाङ्गपूर्णता में कोई कमी आने की सम्भावना नहीं है। पर याग का स्वामी यजमान यदि सोमवमन करता है, तो याग की सर्वाङ्गपूर्णता में न्यूनता आ जाती है। तब याग के अपूर्ण रह जाने से यजमान यागफल से वञ्चित रह जायगा, इसलिए सौमेन्द्र इष्टि का प्रयोग सोमवामी यजमान का उपकारक है। सोमवामी ऋत्विक् आदि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। फलतः सौमेन्द्र कर्म यजमान के सोमवमन में निविष्ट है, अन्यत्र नहीं ॥३५॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥३६॥

[लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग के देखे जाने से [च] भी यजमान के सोमवमन में सौमेन्द्र इष्टि का विधान जाना जाता है।

मैत्रायणी संहिता [२।२।१३] के प्रस्तुत प्रसंग में पाठ है—**'सोमपीथेन वा एष व्यृध्यते, यः सोमं वमति'** सोमपान द्वारा होनेवाले संस्कार से वह वञ्चित रह जाता है, जो सोम का वमन करता है। ज्योतिष्टोम में यज्ञशेष सोम का पान यजमान को संस्कृत करता है। कर्मानुरूप उसमें गुणाधान करता है। यज्ञशेष सोमपान द्वारा यजमान का संस्कृत होना ज्योतिष्टोम का अङ्ग है। यदि यजमान सोम का वमन कर देता है, तो गुणाधानरूप संस्कार से वञ्चित रह जाएगा; तब ज्योतिष्टोम याग अङ्गहीन रहने से अपूर्ण होगा। याग की पूर्णता के लिए आवश्यक है, यदि यजमान सोमवमन कर दे, तो सौमेन्द्र इष्टि के अनुष्ठान द्वारा उस अपूर्णता को पूरा करे। ऋत्विजों द्वारा सोमवमन करने पर उनमें किसी प्रकार की हीनता की कोई आशंका नहीं है। सोमपान से उनमें न यागसम्बन्धी गुणाधान की सम्भावना है, न सोमवमन से हीनता का भय; क्योंकि उनको प्रत्येक दशा में

उनका ध्येय=दक्षिणा पूरी मिल जानी है। परन्तु सोमपानजन्य संस्कार से—यजमान उस समय हीन हो जाता है, जब सोम का वमन कर दे। इसलिए उक्त वाक्य इस तथ्य में लिङ्ग है, हेतु है कि केवल यजमान के सोमवमन में सौमेन्द्र इष्टि का विधान है, अन्यत्र नहीं ॥३६॥ (इति सौमेन्द्रचरोर्यजमानपानव्यापद्विषयताऽधिकरणम्—१३)।

(आग्नेयाद्यष्टाकपालपुरोडाशस्य द्व्यवदानमात्रस्य होतव्यताऽधिकरणम्—१४)

तैत्तिरीय संहिता [२।६।३।३] के दर्श-पूर्णमास प्रसंग में पाठ है—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति सुवर्गस्य लोकस्याभिजित्यै'–अग्नि देवतावाला आठ कपालों में तैयार किया गया जो पुरोडाश है, वह अमावास्या और पौर्णमासी दोनों में निरन्तर प्रयुक्त होता है, उसमें नाश नहीं होना चाहिए; यह स्वर्गलोक की विजय के लिए है। यहाँ सन्देह है—क्या वह पुरोडाश पूरा प्रयोग में लाना चाहिए? अथवा कुछ प्रयोग में लाया जाय, और कुछ बचा लेना चाहिए? प्रतीत होता है, पूरा प्रयोग में लाया जाय; क्योंकि वह उन्हीं कर्मों को सम्पन्न करने के लिए होता है।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात् ॥३७॥

[सर्वप्रदानम्] देवता के लिए जिसका संकल्प किया है, वह सम्पूर्ण हवि देवता के लिए दे देनी चाहिए। [हविषः] हवि के [तदर्थत्वात्] देवता के लिए होने के कारण।

आठ कपालों में संस्कृत किया पुरोडाश आग्नेय है, अग्नि देवता के लिए है, यह उक्त वचन में स्पष्ट है। अग्नि देवता के उद्देश्य से तैयार किया गया पुरोडाश अग्नि देवता के लिए ही है, अतः सम्पूर्ण पुरोडाश हवि कर अग्नि देवता के लिए प्रदान कर देना चाहिए। उसमें से कुछ बचाना अभीष्ट नहीं ॥३७॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

निरवदानात्तु शेषः स्यात् ॥३८॥

[तु] सूत्र में 'तु' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है; तात्पर्य है—सम्पूर्ण हवि का प्रदान नहीं करना चाहिए, [निरवदानात्] अवदान=भाग निकालकर देवता के लिए होम का विधान होने से; [शेषः] शेष=हवि का कुछ अंश स्वतः [स्यात्] रह जाता है, बच जाता है।

अमावास्या-पौर्णमासी में आग्नेय पुरोडाश-हवि का होम करने के लिए

विशेष विधान है। वाक्य है—'द्विर्हविषोऽवद्यति' पुरोडाश हवि से दो बार टुकड़े काटता है। अन्य वचन है—'द्व्यवदानं जुहोति' दो अवदान = टुकड़ों का होम करता है। पुरोडाश-हवि से कितना टुकड़ा काटना चाहिए, इसके लिए विधान है—'अंगुष्ठपर्वमात्रमवद्यति' अंगूठे के पोर के बराबर टुकड़ा काटता है। इस प्रकार पुरोडाश-हवि के अंगुष्ठ-पर्व के बराबर दो टुकड़े एक आहुति में प्रयुक्त होते हैं।

इस आहुति का प्रकार निम्नांकित है—पहले जुहूपात्र में एक स्रुवा घृत डाला जाता है। यह पुरोडाश-हवि के दो टुकड़ों का उपस्तरण = बिछौना है। घृत के ऊपर जुहू में पुरोडाश-हवि के दो टुकड़े रक्खे जाते हैं। उनके ऊपर जुहू में एक स्रुवा घृत और छोड़ा जाता है। इसका नाम 'अवघारण' है, अर्थात् पुरोडाश-हवि के टुकड़ों को घृत से सींचना। यह एक आहुति है। इसके विषय में विधान है—'चतुरवत्तं जुहोति' चार भाग एक आहुति में होमता है। पहले उपस्तरण और बाद में अवघारणरूप दो स्रुवा घृत और दो खण्ड पुरोडाश-हवि, ये चार अवदान एक आहुति में उपस्तरण और अवघारण इसलिए होते हैं कि दो टुकड़े पुरोडाश-हवि का कोई अंश जुहू में लगा न रह जाए। वह निःशेष अग्नि में होमा जा सके।

सूत्र के 'निरवदानात्' पद में 'निर्' उपसर्ग और 'अवदान' दो पद हैं। उपसर्ग का अर्थ है निकालकर। तात्पर्य है—सम्पूर्ण पुरोडाश से सीमित अंश निकालकर, उतने अवदान = भाग से अग्नि में होम करना चाहिए। यह सूत्र-व्याख्या से स्पष्ट है। फलतः पुरोडाश के सीमित अंश का होम होने से उसका कुछ भाग स्वतः शेष रह जाता है, इसलिए सम्पूर्ण पुरोडाश का होम नहीं होता ॥३८॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में अन्य विचार प्रस्तुत किया—

उपायो वा तदर्थत्वात् ॥३९॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्र में कहे अर्थ की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—पुरोडाश के दो खण्ड की आहुति देकर शेष को बचाना नहीं चाहिए, उसका भी होम कर देना चाहिए। [उपायः] पुरोडाश के दो खण्ड करना पुरोडाश-द्रव्य का संस्कार है; दो खण्ड करके उसे होम के योग्य बनाने का केवल उपाय है, [तदर्थत्वात्] क्योंकि पुरोडाश-द्रव्य होम के लिए ही है।

आठ कपालों में तैयार किया गया पुरोडाश-हविद्रव्य एकसाथ होम नहीं किया जा सकता। एक आहुति में कितना पुरोडाश-द्रव्य होम करना चाहिए, यही द्व्यवदान (दो खण्ड करने) का प्रयोजन है। यह एक बार में आहुत किए जानेवाले द्रव्य का संस्कारमात्र समझना चाहिए। वहाँ कोई ऐसा निर्देश नहीं है कि सम्पूर्ण पुरोडाश का होम न किया जाय। पुरोडाश के यागार्थ होने के कारण उसे अग्नि में होम न कर, बचा रखना उचित प्रतीत नहीं होता। सम्पूर्ण पुरोडाश को

एकसाथ होम न किए जा सकने के कारण द्वयवदान पुरोडाश को केवल होम के योग्य बनाने का उपाय है। फलतः सम्पूर्ण पुरोडाश का होम करना न्याय्य होगा ॥३९॥

आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया—

कृतत्वात्तु कर्मणः सकृत् स्याद् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥४०॥

[तु] 'तु' पद सूत्र में पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है; तात्पर्य है—द्वयवदान से बचे हुए पुरोडाश का भी होम कर देना चाहिए—यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि [कर्मणः कृतत्वात्] 'द्वयवदानं जुहोति' विधान के अनुसार दो खण्ड पुरोडाश से होम किए जाने पर विहित कर्म के सम्पूर्ण हो जाने के कारण, [सकृत् स्यात्] क्योंकि होम एक बार ही होता है; शेष पुरोडाश से दुबारा होम किए जाने का विधान नहीं है, [द्रव्यस्य] पुरोडाश-हविर्द्रव्य के [गुणभूतत्वात्] प्रधानभूत यागकर्म की अपेक्षा—गौण होने के कारण। द्रव्य याग के लिए होता है, याग द्रव्य के लिए नहीं।

'द्वयवदानं जुहोति' विधि के अनुसार सीमित पुरोडाश-द्रव्य से होम निष्पन्न हो जाने पर यागकर्म पूर्ण हो जाता है, बचे हुए द्रव्य के लिए प्रधानभूत यागकर्म की पुनः आवृत्ति नहीं हुआ करती। पुरोडाश-द्रव्य के अंगुष्ठपर्व-मात्र दो टुकड़ों से होम का विधान है। वह सब उस होम में एक बार पूरा कर लिया, जहाँ उसका विनियोग है। बचा हुआ पुरोडाश होमीय द्रव्य नहीं है। पुरोडाश-द्रव्य वस्तुतः याग के सम्पादन के लिए तैयार किया जाता है। विधि-अनुसार जितने द्रव्य से याग सम्पन्न हो जाय, उतना ही होमीय है। समस्त पुरोडाश-द्रव्य को याग के साथ जोड़ना नहीं चाहिए; क्योंकि यागकर्म प्रधान है, द्रव्य गौण है, विधान के अनुसार अपेक्षित द्रव्य से याग सम्पन्न हो जाता है; तब याग द्रव्य के पीछे-पीछे नहीं भागेगा कि बचे द्रव्य का—आवश्यकता न होने पर भी—होम के लिए उपयोग किया जाय। याग के लिए द्रव्य ग्रहण किया जाता है, द्रव्य के उपयोग के लिए याग नहीं होता। विहित याग से ही यागकर्त्ता पुरुष का प्रयोजन पूरा हो जाता है। तब बचे द्रव्य से पुनः याग करना व्यर्थ है। तात्पर्य है—सम्पन्न यागकर्म की—द्रव्योपयोग के लिए—नियमतः आवृत्ति करना अशास्त्रीय है।

द्रव्य को प्रधान मानकर याग की आवृत्ति कहना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि याग साध्य है, द्रव्य साधन है। साध्य को सम्पन्न करने के लिए साधन होता है। अतः साध्य प्रधान और साधन गौण है। द्रव्य से याग सम्पन्न होता है, यह प्रत्यक्ष है; पर याग से द्रव्य का कुछ भला होता हो, यह नहीं जाना जाता। यह कहना भी संगत न होगा कि हवि को आग्नेय कहा है—'आग्नेयो हविः' इसलिए समस्त

हवि को अग्नि में होम कर देना चाहिए। कारण यह है—'आग्नेयो हविः' सामान्य कथन है; 'द्वयवदानं जुहोति' विशेष वचन है। विशेष से सामान्य बाधित हो जाता है। हवि के सीमित अंश का विधानानुसार अग्नि में होम होने से सम्पूर्ण हवि के लिए 'आग्नेय' पद का प्रयोग होने में कोई असामञ्जस्य नहीं है। आग्नेय पद का प्रयोग इस अर्थ का विधायक नहीं है कि समस्त हवि का एकबार ही अग्नि में होम कर दिया जाय, जबकि उसका अपवाद 'द्वयवदानं जुहोति' विधि विद्यमान है। फलतः पुरोडाश-हवि का शेष रहना शास्त्रीय है ॥४०॥

इसी अर्थ की पुष्टि में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

शेषदर्शनाच्च ॥४१॥

[शेषदर्शनात्] शेष का दर्शन होने से [च] भी सम्पूर्ण पुरोडाश-हवि का प्रथम बार ही होम नहीं होता।

पुरोडाश-हवि की प्रधान आहुति के अनन्तर सुना जाता है—'शेषाद् इडामवद्यति' शेष=बचे हुए हवि से इडा का अवदान करता है। 'शेषात् स्विष्टकृतमवद्यति' शेष से स्विष्टकृत् का अवदान करता है। पुरोडाश की प्रधान आहुति देने के अनन्तर बचे हुए पुरोडाश-हवि से इडा और स्विष्टकृत् अवदान का विधान है। इससे स्पष्ट होता है, प्रथम प्रधान आहुति में सम्पूर्ण पुरोडाश का होम नहीं किया जाता।

बचे हुए पुरोडाश से स्विष्टकृत् आहुति दी जाती है; तथा प्रथम आहुति के समान इडा-पात्र में पुरोडाश को संस्कृत कर ऋत्विक्-यजमान उसका भक्षण करते हैं। दर्श-पौर्णमास इष्टियों में यह व्यवस्था है ॥४१॥ (इति आग्नेयाष्टाकपाल-पुरोडाशस्य द्वयवदानमात्रस्य होतव्यताऽधिकरणम्—१४)।

(सर्वशेषैः स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानाधिकरणम्—१५)

दर्श-पूर्णमास में बचे हुए हवि से किए जानेवाले इडासम्बन्धी, प्राशित्रसम्बन्धी तथा स्विष्टकृत्सम्बन्धी आदि कार्य बताए हैं। इनमें सन्देह है—क्या प्रत्येक हवि से शेष कार्य करने चाहिएँ? अथवा किसी एक हवि से कर लिये जाएँ? कोई विशेष कथन न होने के कारण किसी एक हवि से शेष कार्य कर लेना पर्याप्त होगा।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अप्रयोजकत्वादेकस्मात् क्रियेरञ्छेशस्य गुणभूतत्वात् ॥४२॥

[अप्रयोजकत्वात्] हवियों की सिद्धि में शेष कार्यों के प्रयोजक न होने से

[एकस्मात्] किसी एक हवि से शेष कार्य [क्रियेरन्] कर लिये जाएँ, [शेषस्य] शेष = बचे हुए हवि के [गुणभूतत्वात्] गौण होने के कारण।

प्रधान होम के सम्पादन के लिए हवि को तैयार किया जाता है। प्रधान होम के सम्पन्न हो जाने पर बचा हुआ हवि गौण है। इडा-सम्बन्धी आदि कार्यों के सम्पादन के लिए हवि तैयार नहीं किया जाता। यदि ऐसा होता, तो प्रत्येक हवि से शेषकार्य किया जाना आवश्यक था। पर हवि तो प्रधान कर्म के सम्पादन के लिए तैयार किया जाता है। उससे जो हवि बच गया, वह गौण है, होमीय नहीं है। तब किसी भी एक हवि से शेषकार्य किये जा सकते हैं। सबसे किया जाना अनावश्यक है ॥४२॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

संस्कृतत्वाच्च ॥४३॥

[संस्कृतत्वात्] किसी भी एक हवि से शेष कार्य किये जाने पर प्रधान कर्म के संस्कृत हो जाने से [च] भी सम्पूर्ण हवियों से शेष कार्य करना आवश्यक नहीं।

हवि-द्रव्य प्रधान कर्म के सम्पादन के लिए तैयार किया गया। हवि के कुछ भाग से प्रधान कर्म सम्पन्न हो गया। बचे हुए हवि का क्या किया जाय? क्या उसे फेंक दिया जाय? यदि ऐसा किया जाता है, तो वह प्रधान कर्मसम्बन्धी दोष है। हवि प्रधान कर्म के लिए तैयार किया गया, और अब यह फेंका जा रहा है; यह अच्छा प्रधान कर्म हुआ, जिसमें इतने हविद्रव्य की हानि हुई! यह प्रधान होम-सम्बन्धी दोष व उसपर एक कलङ्क है। वह हविद्रव्य होम में प्रयोग न आने से होमीय नहीं रहा। तब आचार्यों ने स्विष्टकृत् अवदान आदि के रूप में उसका उपयोग बताया। इसे शेष हविद्रव्य का संस्कार कहा जाता है। शेष हवि-द्रव्य का—स्विष्टकृत् अवदान आदि के रूप में—उचित उपयोग ही उसका संस्कार है। इससे प्रधान कर्म भी संस्कृत होता है। उसपर अब यह दोष या आरोप नहीं लगाया जा सकता कि कैसा यह प्रधान कर्म है? इसके लिए यह हविद्रव्य तैयार किया गया था, और अब यह फेंका जा रहा है। यही प्रधान कर्म का संस्कृत होना है। वह शेष हवि का उचित उपयोग हो जाने पर किसी भी दोष, कलङ्क व आरोप से रहित हो जाता है। यह स्थिति किसी भी एक हवि के उपयोग से पूरी हो जाती है; तब सम्पूर्ण हवियों से शेष कार्य करना आवश्यक नहीं रहता ॥४३॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

सर्वेभ्यो वा कारणाविशेषात्, संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४४॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है, स्विष्टकृत् आदि शेष कार्य एक ही हवि से करने चाहिएँ, सबसे नहीं,—यह कथन अयुक्त है। [सर्वेभ्यः] सब हवियों से शेष कार्य करने चाहिएँ; [कारणाविशेषात्] एक हवि से करने में कारणविशेष के न होने से। तात्पर्य है—शेष हवि का उचित उपयोग-रूप कारण सब हवियों के लिए समान है, [संस्कारस्य] स्विष्टकृत् आदि अवदान द्वारा उत्पन्न संस्कार के [तदर्थत्वात्] उन सब शेष हवियों के लिए होने के कारण।

स्विष्टकृत् आदि शेष कार्य सब हवियों से करने चाहिएँ, किसी एक हवि से नहीं। एक हवि से शेष कार्य करने में जो कारण हैं, वही कारण सब हवियों से शेष कार्य करने में हैं। कारण है —प्रधान कर्म के अनुष्ठान से बचे हुए अष्टाकपाल पुरोडाश का उचित उपयोग। गत सूत्र की व्याख्या में इसे स्पष्ट किया है। बचे पुरोडाश को फेंका नहीं जा सकता। आचार्यों ने उसका उचित उपयोग बताया है—स्विष्टकृत् आदि अवदान के रूप में हवि का संस्कार। शास्त्र में इसका नाम 'प्रतिपत्ति संस्कार' है। जो हविद्रव्य किसी कर्म के सम्पादन के लिए तैयार किया जाय, उसके शेष अंश का अन्यत्र प्रयोग करना 'प्रतिपत्ति संस्कार' है [देखें—मी०सू० ४।२।१९, अधि० ७]। प्रस्तुत प्रसंग में दर्श-पौर्णमास कर्म के लिए तैयार किये गये पुरोडाश-हविद्रव्य के शेष अंश का स्विष्टकृत् आदि अवदान के रूप में उपयोग। स्विष्टकृत् आहुति के द्वारा उसे अग्नि में छोड़ दिया जाता है। सम्भवतः कुछ भाग 'इडा अवदान' के रूप में यजमान-ऋत्विजों द्वारा भक्षण कर लिया जाता है। यज्ञशेष का भक्षण शास्त्रीय है ॥४४॥

सब हवियों से शेष कार्य करने चाहिएँ, इस अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४५॥

[लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग = प्रयोजक हेतु के देखे जाने से [च] भी सब हवियों से शेष कार्य किये जाने चाहिएँ।

भाष्यकार शबर स्वामी ने यहाँ एक गाथा प्रस्तुत की है—'देवा वै स्विष्टकृतमब्रुवन्—हव्यं नो वह, इति' देवों ने स्विष्टकृत् अग्नि को कहा—हमारी हवियों का वहन कराओ, अर्थात् हवियों को हमें प्राप्त कराओ। 'सोऽब्रवीत्—वरं वृणै भागो मेऽस्त्विति' वह बोला—वर माँगता हूँ, मेरा भी भाग उसमें हो। 'तेऽब्रुवन्—वृणीष्वेति' देवों ने कहा—वर माँगो। 'सोऽब्रवीत्—उत्तरा धर्मदेव मह्यं सकृत् सकृदवद्यादिति' तब स्विष्टकृत् अग्नि ने कहा—मेरे लिए हवि के

उत्तरार्ध भाग से एक-एक बार अवदान दिया जाय। इस वाक्य में 'सकृत्' पद वीप्सा है; दो बार पढ़ा गया है। इसका तात्पर्य है, एक हवि से एक बार अवदान, अन्य हवि से अन्य अवदान। यदि स्विष्टकृत् आदि शेष कार्यों में एक ही हवि का अवदान होता, तो वाक्य में 'सकृत्' पद का दो बार प्रयोग नहीं होना चाहिए था। सकृत् पद का वीप्सा प्रयोग इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि स्विष्टकृत् आदि शेष कार्यों में सब हवियों का प्रयोग होता है। किसी एक ही हवि से शेष कार्य सम्पन्न नहीं होते ॥४५॥ (इति सर्वशेषैः स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानाऽधिकरणम्—१५)।

(प्राथमिकशेषात् स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानाऽधिकरणम्—१६)

गत अधिकरण में निश्चय किया है कि शेष कार्य सब हवियों से किये जाने चाहिएँ। वहाँ पूर्वपक्षरूप में कहा गया—शेष कार्य किसी एक हवि से किये जाएँ? अथवा सब हवियों से? इस विकल्प में किसी भी एक हवि से शेष कार्य किये जाने की बात कही गई। यह पूर्वपक्ष है। यह अर्थ अभी अपरीक्षित है, इसकी प्रमाणपूर्वक परीक्षा नहीं की गई। ऐसे अपरीक्षित—असिद्ध अर्थ को परीक्षित=सिद्ध अर्थ के समान मानकर उसके विषय में जो विशेष विचार किया जाय, गौतमीय न्यायशास्त्र में उसको 'अभ्युपगम सिद्धान्त' कहा है। प्रस्तुत शास्त्र में उसी का नाम 'कृत्वा चिन्ता' है।

शेष कार्य सब हवियों से किये जाएँ? अथवा किसी एक हवि से? यहाँ एक हवि में शेष कार्य किये जाने के असिद्ध अर्थ को सिद्धवत् मानकर उसके विषय में यह विशेष विचार प्रस्तुत है कि शेष कार्य किसी भी एक हवि से कर लिये जायें? अथवा किसी एक निर्धारित हवि से? वह भी प्रथम हवि से? अथवा अन्य किसी निर्धारित हवि से?

इस विचार को सम्मुख रख सूत्रकार ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

एकस्माच्चेद् याथाकाम्यविशेषात् ॥४६॥

[एकस्मात्-चेत्] एक हवि से यदि शेष कार्य किये जायें, तो [याथाकामी] जिस हवि से शेष कार्य करने की अपनी इच्छा हो, उससे करे, [अविशेषात्] किसी विशेष वचन के न होने से। तात्पर्य है, इस विषय में कोई ऐसा शास्त्रीय वचन नहीं है, जिससे यह जाना जाय कि अमुक हवि से शेष कार्य करे, अमुक से न करे। इसलिए अपनी इच्छानुसार यजमान जिस किसी हवि का निर्धारण कर ले, उसीसे शेष कार्य सम्पादन करे।

दर्श-पौर्णमास में आग्नेय आदि तीन हवि-पुरोडाश कहे हैं। यजमान इन तीन में से अपनी इच्छानुसार जिस किसी एक का निर्धारण कर ले, उसी से शेष कार्य

सम्पादन करे ॥४६॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

मुख्याद्वा पूर्वकालत्वात् ॥४७॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है, इच्छानुसार जिस किसी पुरोडाश-हवि से शेष कार्य करे, यह कथन युक्त नहीं है। [मुख्यात्] मुख्य—अर्थात् प्रथम पुरोडाश-हवि से शेष कार्य करे [पूर्वकालत्वात्] अन्य हवियों के पूर्वकाल में होने से।

किसी कार्य का आरम्भ उसका मुख कहा जाता है। आरम्भ अर्थात् सर्व-प्रथम जो उपस्थित है, वह मुख्य है। दर्श-पूर्णमास दोनों यागों में सर्वप्रथम आग्नेय पुरोडाश-हवि का विधान है। तब प्रथम उपस्थित होने के कारण प्रधान आहुति के अनन्तर बचे हुए उसी पुरोडाश-हवि से स्विष्टकृत् आदि शेष कार्य करे। जब प्रथम हवि से शेष कार्य हो गया, अन्य हवि तब तक उपस्थित नहीं हैं; तब एक से कार्य सम्पन्न हो जाने पर अन्य हवियाँ उस कार्य के लिए बाधित हो जाती हैं। प्रथम उपस्थित आग्नेय हवि अबाधित है, क्योंकि उससे पहले अन्य कोई विधि उपस्थित नहीं होता, जो उसकी बाधा करे, इसलिए शेष कार्य स्विष्टकृत् आदि अवदान आग्नेय पुरोडाश-हवि से किया जाना चाहिए ॥४७॥ (इति प्राथमिक-शेषात् स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानाऽधिकरणम्—१६)।

(पुरोडाशादिभागस्य भक्षार्थताऽधिकरणम्—१७)

दर्श-पूर्णमास प्रसंग में ये वाक्य पठित हैं—'इदं ब्रह्मणः' यह भाग ब्रह्मा का है। 'इदं होतुः' यह होता का है। 'इदमध्वर्योः' यह अध्वर्यु का है। 'इदमाग्नीधः' यह अग्नीत् का है। यहाँ सन्देह है, क्या यह ऋत्विजों के भाग का विभाजन उनका पारिश्रमिक है? अर्थात् याग का कार्य करने की भृति है? अथवा भक्षण के लिए है? तात्पर्य है, पुरोडाश के इन भागों की गणना ऋत्विजों की भृति में नहीं होगी। इन दोनों विकल्पों में क्या मान्य है?

इसके निर्णय के लिए आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रये ॥४८॥

[भक्षाश्रवणात्] ब्रह्मा आदि के लिए विभक्त पुरोडाश-भागों के विषय में भक्षणबोधक कोई वाक्य न सुने जाने के कारण [दानशब्दः] ऋत्विजों को वे विभक्त भाग दिये जाने की बात [परिक्रये] ऋत्विजों के परिक्रय के सम्बन्ध में जाननी चाहिए।

यागकार्य-सम्पादन के लिए दक्षिणा आदि देकर ऋत्विजों को खरीद लिया

जाता है। इसी का नाम 'परिक्रय' है। 'इदं ब्रह्मणः' आदि वाक्यों से विहित पुरोडाश के विभक्त भाग ब्रह्मा आदि ऋत्विजों की दक्षिणा के अन्तर्गत समझने चाहिएँ, क्योंकि प्रसंग में याग-काल के अवसर पर ब्रह्मा आदि द्वारा इनके भक्षण का बोधक कोई वाक्य सुना नहीं जा रहा, जबकि अन्यत्र सुना जाता है। भाष्यकार शबर स्वामी ने मीमांसा सूत्र [६।४।४] के भाष्य में एक वाक्य उद्धृत किया है—'यजमानपञ्चमा इडां प्राश्नन्ति' चार ऋत्विज् और पाँचवाँ यजमान इडा पात्रस्थित पुरोडाश का भक्षण करते हैं। यहाँ 'प्राश्नन्ति' भक्षण-विधायक क्रिया स्पष्ट निर्दिष्ट है। ऐसा कोई निर्देश 'इदं ब्रह्मणः' आदि के प्रसंग में नहीं है। इसलिए पुरोडाश के विभक्त भागों को याग के अवसर पर भक्षण के लिए न मानकर ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के परिक्रय—अर्थात् दक्षिणा के रूप में दिया जाना समझना चाहिए ॥४८॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

तत्संस्तवाच्च ॥४९॥

[तत्संस्तवात्] उन चार भागों में विभक्त पुरोडाश की दक्षिणा के रूप संस्तुति करने से [च] भी यह चतुर्धा विभक्त पुरोडाश परिक्रय-सम्बन्धी समझना चाहिए।

भाष्यकार शबर स्वामी ने इस प्रसंग में एक वाक्य उद्धृत किया है—'एषा वै दर्श-पूर्णमासयोर्दक्षिणा' यह चतुर्धा विभक्त पुरोडाश दर्श-पूर्णमास की दक्षिणा है। इस संस्तुति से स्पष्ट है, यह विभक्त पुरोडाश परिक्रयसम्बन्धी है ॥४९॥

पूर्वपक्ष का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ॥५०॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है; तात्पर्य है, 'इदं ब्रह्मणः' आदि वाक्यों के आधार पर किया गया पुरोडाश-विभाग ऋत्विजों के परिक्रय-सम्बन्धी नहीं है। तब क्या है? [भक्षार्थः] याग-काल में भक्षण के लिए है, [द्रव्ये] हविरूप द्रव्य के उपयोग के विषय में [समत्वात्] यजमान और ऋत्विजों के परस्पर तुल्य होने से।

हविद्रव्य देवता को उद्देश्य करके तैयार किया जाता है। तैयार करनेवाला यजमान अग्नि आदि देवताओं के लिए उसका संकल्प कर देता है। वह उसका स्वामी नहीं रहता। कोई व्यक्ति दक्षिणा आदि दान उसी वस्तु का कर सकता है, जिसका वह स्वामी हो। हविद्रव्य का स्वामी अब यजमान नहीं है; तब यह दक्षिणा आदि के रूप में उसको कैसे दे सकता है? इस दृष्टि से हविद्रव्य के विषय में यजमान और ऋत्विज् बराबर हैं। विचारना चाहिए, शेष हविद्रव्य का

क्या उपयोग है ? शास्त्रीय मान्यता है, श्रुत अर्थ के परित्याग में जितना दोष होता है, उतना ही दोष अश्रुत की परिकल्पना में होता है। भक्षणविषयक वाक्य श्रुत न होने से भक्षण की कल्पना भी दोषपूर्ण होगी। पवित्र हवि को फेंका भी नहीं जा सकता। वास्तविकता यह है—'इदं ब्रह्मणः' आदि वाक्यों से ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के साथ हवि का सम्बन्ध विधान किया है। देखना चाहिए, इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध में कौन किसका कितना उपकार करता है ? अपने-अपने रूप में दोनों एक-दूसरे के उपकारक हैं। वह उपकार ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के द्वारा हवि के भक्षण किये जाने पर सम्भव है। इसमें हवि का उपकार है—उसका सदुपयोग हो जाना। ऋत्विजों का उपकार है—याग की पूर्णता—सम्पन्नता से हर्षोद्रेक की भावना। यह भावना व्यक्ति में साहस व सामर्थ्य को जागृत करती है। भक्षण का पद द्वारा श्रवण न होने पर भी हवि का यह दृष्ट प्रयोजन हवि के भक्षण को उद्भावित करता है। अनेक बार शब्द से कोई तथ्य न कहे जाने पर भी तात्पर्य से स्पष्ट हो जाता है। प्रसंग में ऐसा ही है। फलतः प्रधान आहुति से बचे पुरोडाश-हवि का परिक्रम में उपयोग न मानकर भक्षण में जानना चाहिए ॥५०॥

दक्षिणारूप में हवि के संस्तव का सूत्रकार ने समाधान किया—

व्यादेशाद् दानसंस्तुतिः ॥५१॥

[व्यादेशात्] व्यादेश=व्यपदेश—प्रयोजन की समानता से [दानसंस्तुतिः] भक्षणार्थ दिये गये हवि-भागों की दक्षिणा के रूप में स्तुति की गई है। वस्तुतः वह भाग दक्षिणा में नहीं गिना जाता।

जैसे दक्षिणा-प्राप्ति की भावना से प्रोत्साहित होकर ब्रह्मा आदि ऋत्विज् कर्म करने में सहर्ष प्रवृत्त होते हैं, ऐसे ही यागकाल में पुरोडाश-हवि के भाग का भक्षण करने से—कर्मानुष्ठान-जनित—श्रान्ति व क्षुधा की निवृत्ति हो जाने पर ब्रह्मा आदि ऋत्विक् शेष कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित हो जाते हैं। दक्षिणा व हवि-भागों के प्रयोजन इस समानता के आधार पर भक्षणार्थ हवि-प्रदान को दक्षिणा पद से कह दिया गया है। यह केवल औपचारिक कथन है। फलतः 'इदं ब्रह्मणः' आदि वाक्यविहित हवि-भागों को दक्षिणारूप मानना अशास्त्रीय है।

इति जैमिनीय मीमांसासूत्राणां विद्योदयभाष्ये
तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

अथ तृतीयाध्याये पञ्चमः पादः

दर्श-पूर्णमास याग-सम्बन्धी कतिपय सन्दिग्ध स्थलों का विवेचनपूर्वक निर्णय गत पाद में प्रस्तुत किया गया। अन्य सन्दिग्ध स्थलों के निर्णय के लिए पञ्चम पाद का प्रारम्भ है। दर्श-पूर्णमास प्रसंग में कहा है—'उत्तरार्धात् स्विष्टकृते समवद्यति' पुरोडाश के उत्तर-अर्धभाग से स्विष्टकृत् अग्नि के लिए अवदान करता है, अर्थात् स्विष्टकृत् आहुति के लिए पुरोडाश का ग्रहण करता है। तथा अन्य वाक्य है—'इडामुपह्वयति' इडा का उपह्वान करता है। इडापात्र पार्श्वभागों से मध्य में संकुचित (भिचा हुआ) होता है; उसमें दो भाग-से दिखाई देते हैं। पात्र को पकड़ने की ओर से पहला भाग 'पूर्व' और दूसरा 'पश्चिम' कहा जाता है। उसका प्रथम उपस्तरण (आज्यस्थाली से घृत लेकर उसे चुपड़ना) होता है। अनन्तर आग्नेय पुरोडाश के दक्षिणभाग से मन्त्रोच्चारणपूर्वक टुकड़ा काटकर, इडापात्र के पूर्वभाग में, तथा पुरोडाश के उत्तरभाग से अमन्त्रक टुकड़ा लेकर दोनों को इडापात्र के पूर्वभाग में रक्खा जाता है। तत्पश्चात् अग्नीषोमीय पुरोडाश के—दक्षिण और पूर्वभाग से पहले के समान (=समन्त्रक, अमन्त्रक) टुकड़े लेकर उन्हें इडापात्र के पश्चिमभाग में रक्खा जाता है। अनन्तर आज्यस्थाली से घृत लेकर इडापात्र के दोनों भागों पर डाला जाता है। इसका नाम 'अभिघारण' है। यहाँ तक की क्रिया का 'इडावदान' नाम है। तात्पर्य है—इस अवसर पर इडापात्र से जो कार्य सम्पाद्य है, उसके लिए उसे तैयार कर लिया गया है। अब अध्वर्यु इडापात्र को उठाकर अपने मुख व नासिका के बराबर सामने की ओर धारण करता हुआ मन्त्र जपता है। इस क्रिया का नाम 'इडोपह्वान' है। यह भी स्विष्टकृत् अवदान के समान दर्श-पूर्णमास-सम्बन्धी शेष कार्य है।

पूर्णमास के आग्नेय और अग्नीषोमीय प्रधान कर्मों के समान तीसरा प्रधान कर्म उपांशुयाज है। उसका होमद्रव्य आज्य=घृत है, जबकि आग्नेय और अग्नीषोमीय कर्मों का होमद्रव्य पुरोडाश होता है। इस प्रसंग में यह सन्देह है कि —क्या आग्नेय और अग्नीषोमीय पुरोडाश के समान, उपांशुयाज के द्रव्य घृत से भी स्विष्टकृत् और इडा का अवदान करना चाहिए? अथवा नहीं करना चाहिए?

इसी विषय का निर्धारण करने के लिए प्रस्तुत अधिकरण प्रारम्भ किया गया है।

सिद्धान्त की दृढ़ता के लिए ऊहापोहपूर्वक विवेचन की भावना से आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

आज्याच्च सर्वसंयोगात् ॥१॥

[आज्यात्] उपांशुयाज के आज्य=घृत से [च] भी स्विष्टकृत् अवदान आदि शेष कार्य करने चाहिएँ, [सर्वसंयोगात्] स्विष्टकृत् अवदान आदि शेष कार्यों का सब हवियों के साथ संयोग होने से।

स्विष्टकृत् आदि के लिए उपांशुयाज के हविद्रव्य घृत से भी अवदान करना चाहिए, क्योंकि 'स्विष्टकृतमवद्यति' आदि वचन सामान्य प्रकरण में पठित हैं। सभी हवियों का उनका सम्बन्ध है। ऐसा वाक्य भी है—'सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति' सब हवियों से अवदान करता है। इसलिए उपांशुयाज के आज्य हवि से भी स्विष्टकृत् अवदान, इडोपह्वान आदि शेष कार्य किए जाने चाहिएँ ॥१॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

कारणाच्च ॥२॥

[कारणात्] कारण के—उभयत्र—तुल्य होने से [च] भी उपांशुयाज के हवि आज्य द्वारा भी शेष कार्य सम्पन्न किए जाने चाहिएँ।

जो कारण—पुरोडाश से अवदान आदि शेष कार्य के सम्पादनार्थ दिए जाते हैं, वे ही कारण उपांशुयाज हवि आज्य से शेष कार्य किए जाने मे लागू होते हैं। दोनों जगह कारणों की समानता से दोनों (=पुरोडाश और आज्य) हवियों से शेष कार्य किया जाना युक्त है।

वह कारण आचार्यों ने अर्थवादरूप एक गाथा के आधार पर बताया है। गत [३।४।४५] सूत्र की व्याख्या में गाथा का निर्देश है। वहाँ स्विष्टकृत् अग्नि के विभिन्न हवियों के अवदान में जो कारण पुरोडाश हवि के लिए है वही कारण आज्य हवि के लिए भी है। अतः उभयत्र कारण आज्य की समानता से पुरोडाश और आज्य दोनों हवियों द्वारा शेष कार्य करना युक्त है ॥२॥

उक्त अर्थ की पुष्टयार्थ आचार्य सूत्रकार ने अन्य सहायक हेतु प्रस्तुत किया—

एकस्मिन् समवत्तशब्दात् ॥३॥

[एकस्मिन्] एक हवि के कथन में [समवत्तशब्दात्] 'समवत्त' शब्द का प्रयोग होने से व्यतिरेक द्वारा जाना जाता है कि यहाँ अन्य हवि से भी अवदान होता है।

'समवद्यति' क्रियापद में 'सम्' उपसर्ग समवेत अर्थ में है—सम्मिलित होकर अवदान करना। किसी एक हवि से अवदान के कथन में यदि 'समवद्यति' प्रयोग किया गया है, तो व्यतिरेक द्वारा समझना चाहिए कि यहाँ अन्य हवि से भी अवदान किए जाने का तात्पर्य है। यदि ऐसा न होता, और उस कथित एकमात्र हवि से ही अवदान करना अभिप्रेत होता, तो वहाँ 'समवद्यति' का प्रयोग न होकर केवल 'अवद्यति' क्रियापद प्रयुक्त किया जाता।

आचार्यों ने इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सोमयाग के दूसरे दिन उपांशुयाज-कर्म के अङ्गभूत प्रायणीय इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। इसमें अदिति देवता के चरु के साथ चार आज्ययाग और हैं—'आज्येन देवताश्चतस्रो यजति—पथ्यां स्वस्तिं, अग्निं, सोमं, सवितारञ्च' [कात्या०श्रौ० ७।५।१३; आप० श्रौत सूत्र १०।२१।११] में इन देवताओं की दिशा का नियमन करते हुए बताया है—'एकस्माच्च हविषोऽवद्यति।··· मिश्रस्य चान्येन हविषा समवद्यति' एक ही हवि से अवदान करना हो, तो 'अवद्यति' प्रयोग होता है; समवेत हवियों से अवदान करने पर 'समवद्यति' प्रयोग होगा। 'समवेत' का यह तात्पर्य नहीं कि हवियों को परस्पर मिलाकर अवदान किया जाय, प्रत्युत यह तात्पर्य है कि अनेक हवियों से अवदान किया जाय; हवियों का समवाय न होकर अवदानों का समवाय है।

दर्श-पूर्णमास प्रसंग में 'अग्नये स्विष्टकृते समवद्यति' वचन है—स्विष्टकृत् अग्नि के लिए सम्मिलित अवदान करे। दर्श-पूर्णमास का अन्यतम प्रधानकर्म उपांशुयाज है। उसी का विकृति=अङ्ग प्रायणीय इष्टि है। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस अतिदेश के अनुसार प्रायणीय इष्टि में उपांशुयाज के हविद्रव्य आज्य से अवदान की प्राप्ति मानने पर ही चरु-सम्बन्धी स्विष्टकृत् के अवदान के लिए 'समवद्यति' क्रियापद का प्रयोग उपपन्न हो सकता है। यदि एक चरु से ही स्विष्टकृत् अग्नि के लिए अवदान हो, तो 'अवद्यति' प्रयोग होना चाहिए। पर ऐसा नहीं है; इसलिए उपांशुयाज के आज्य हवि से स्विष्टकृत् के लिए अवदान मानना युक्त है ॥३॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

आज्ये च दर्शनात् स्विष्टकृदर्थवादस्य ॥४॥

[आज्ये] ध्रुवा में रक्खे गए आज्य में [स्विष्टकृदर्थवादस्य] स्विष्टकृद्-विषयक अर्थवाद के [दर्शनात्] देखे जाने से [च] भी जाना जाता है कि आज्य से अवदान होता है।

ध्रुवा नामक एक कटोरानुमा यज्ञियपात्र है, जिसमें लम्बी डण्डी जुड़ी रहती है। डण्डी के लगभग मध्यभाग में उतनी ऊँचाई की एक टेक लगी रहती है जितनी

कटोरे की ऊँचाई है। ध्रुवा को भूमि पर रखने से उसका सन्तुलन स्थिर रहे, बिगड़ने न पाए, इसी के लिए डण्डी में टेक लगाई जाती है। स्रुवा (विशेष नाप के छोटे चम्मच) से 'चतुर्ध्रुवायाम्' [तै० ब्रा०, ३।३।५।३] वचन के अनुसार चार स्रुवा परिमित घृत आज्यस्थाली से लेकर ध्रुवा में रक्खा जाता है। आहुति के लिए जितना आज्य ध्रुवा से जुहू में लिया जाता है, उतना ही आज्यस्थाली से लेकर ध्रुवा में डाल दिया जाता है। इसी का नाम 'ध्रुवा का प्रत्यभिघारण' है। इस प्रकार ध्रुवा पात्र में चार स्रुव् आज्य बराबर बना रहता है। सम्भवतः इसी कारण पात्र का 'ध्रुवा' नाम है—परिमित आज्य का ध्रुव=स्थिर बना रहना। इस प्रसंग का अर्थवाद है—

'अवदाय अवदाय ध्रुवां प्रत्यभिघारयति। स्विष्टकृतेऽवदाय न ध्रुवां प्रत्यभिघारयति। न हि ततः परमाहुतिं यक्ष्यन् भवति' ध्रुवा से आज्य का अवदान करके ध्रुवा में प्रत्यभिघारण करता है; अर्थात् उतना ही आज्य, आज्यस्थाली से लेकर उसमें डाल देता है। स्विष्टकृत् के लिए अवदान करके ध्रुवा में प्रत्यभिघारण नहीं करता, क्योंकि स्विष्टकृत् आहुति के अनन्तर अन्य कोई आहुति देने के लिए नहीं होती। यह अर्थवाद ध्रुवा में प्रत्यभिघारण के प्रयोजन को बताता है। वह प्रयोजन है—आगे आहुति का देना। स्विष्टकृत् याग के अनन्तर कोई आहुति नहीं होती। इससे स्पष्ट है, ध्रुवा में जो आज्य रहता है, उसी से स्विष्टकृत् आहुति दी जाती है। यही स्विष्टकृत् अग्नि का अवदान है। क्योंकिअबअन्य कोई आहुति देय नहीं है, इसीलिए आज्यस्थाली से अन्य आज्य लेकर ध्रुवा में डालना (=प्रत्यभिघारण) अनावश्यक है। इस स्विष्टकृद्-विषयक अर्थवाद से सिद्ध हो जाता है कि स्विष्टकृत्-अवदान आज्य से भी होता है ॥४॥

इस लम्बे पूर्वपक्ष का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अशेषत्वात्तु नैवं स्यात् सर्वादानादशेषता ॥५॥

[तु] 'तु' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—उपांशुयाज के हविद्रव्य आज्य से स्विष्टकृत् अवदान होता है, यह कथन युक्त नहीं, [अशेषत्वात्] ध्रुवा में उपांशुयाज के आज्य का शेष न रहने के कारण। [एवम्] इस प्रकार स्विष्टकृत् और इडा के लिए आज्य से अवदान [न स्यात्] नहीं होता। क्योंकि [सर्वादानात्] ध्रुवा में जो आज्य रहता है, वह सभी यागों के लिए ग्रहण किया जाता है, इस कारण [अशेषता] ध्रुवा में उपांशुयाज के आज्य का बचा रहना सम्भव नहीं। ध्रुवा में उपांशुयाज-आज्य के शेष का अभाव रहता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।३।५।५] में बताया है—'सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्' ध्रुवा में जो आज्य गृहीत किया जाता है, वह सभी यागों के लिए होता है। इस कारण ध्रुवा में जो आज्य बचा है, वह उपांशयाज का

शेष है, यह कहना निराधार है। अतः यह कथन अयुक्त है कि उपांशुयाज के हविर्द्रव्य आज्य से स्विष्टकृत् अवदान आदि होता है ॥५॥

बीच में शिष्य ने जिज्ञासा की—ध्रुवा में यदि सब यागों के लिए गृहीत आज्य है, तो उसमें उपाशुयाज के लिए गृहीत आज्य का शेष अंश भी तो है। उससे स्विष्टकृत् व इडा का अवदान उपपन्न होगा। सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात् ॥६॥

[ध्रुवायाम्] ध्रुवा में जो आज्य है, वह उपांशुयाज के लिए गृहीत आज्य का शेष [न स्यात्] नहीं है, [साधारण्यात्] ध्रुवा में गृहीत आज्य के सब यागों के लिए साधारण = समान होने से।

आज्य-हविर्द्रव्यवाले यागों के लिए आज्यस्थाली से ध्रुवा में आज्य गृहीत किया जाता है। यथावसर अन्य यागों के समान उपांशुयाज भी उसी आज्य में से आज्य लेकर किया जाता है। अन्त में जो आज्य शेष रहता है, उसे उपांशुयाज का शेष आज्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ध्रुवा में जो आज्य गृहीत किया गया, वह सब आज्य-सम्पाद्य यागों के लिए समान है। जितना आज्य जिस याग के सम्पादन के लिए उपयोग में आया, उसके लिए वह पूरा हो गया। बचे आज्य को किसी एक याग का शेष कहकर प्रतिपत्ति-कर्म के लिए उसका उपयोग बताना सर्वथा अशास्त्रीय है। उपांशुयाज में अथवा अन्य किसी याग में उपयुक्त होनेवाले आज्य की मात्रा को अलग छाँटा नहीं जा सकता। इसलिए आज्य-हवियागों के अनन्तर ध्रुवा में बचे आज्य को उपांशुयाज याग का अथवा अन्य किसी एक याग का शेष नहीं कहा जा सकता। जैसे अतिथियों के लिए एक पात्र में पकाया अन्न एक अतिथि के भोजन कर लेने पर शेष अन्य कार्य, भृत्य आदि के उपयोग में लाने के लिए नहीं होता, प्रत्युत अन्य अतिथियों के उपयोग में लाने के लिए ही होता है। जब सब भोजन कर लेते हैं, तब उसका प्रयोजन पूरा हो जाने पर शेष खाद्य का भृत्य-पशु-पक्षी आदि के लिए उचित उपयोग कर लिया जाता है। वह अन्न आतिथेय नहीं रहता। उसका उचित उपयोग ही उसका संस्कार है।

इसी प्रकार ध्रुवा में गृहीत आज्य का—आज्य-सम्पाद्य सब यागों के सम्पन्न = पूर्ण हो जाने पर—प्रयोजन पूरा हो जाता है। शेष आज्य यज्ञिय नहीं रहता। उसका उचित उपयोग ही उसका संस्कार है। यज्ञ-प्रसंग में ऐसे आज्य के अनेक उपयोग हैं। आग्नेय तथा अग्निषोमीय पुरोडाश के उपस्तरण व अभिघारण में उपयोग हो सकता है। इसी का नाम 'प्रतिपत्ति कर्म' है—निर्धारित कार्य में उपयुक्त द्रव्य का जो शेष रहता है, उसका अन्यत्र उचित उपयोग कर लेना। जुहू आदि के धारण के लिए भूमि पर बिछाई गई कुशा को कर्म की समाप्ति पर अग्नि

में छोड़ दिया जाता है। प्रधान याग में उपयुक्त पुरोडाश के शेष अंश को स्विष्ट-कृत् आहुति के रूप में अग्नि में छोड़ दिया जाता है। सोमयाग में उपयुक्त ग्रह आदि पात्रों को जल में प्रवाहित कर दिया जाता है। निर्धारित कर्म में उपयुक्त हविर्द्रव्य का प्रयोजन पूरा हो जाने पर शेष वस्तु को कहीं रक्खा या फेंका जा सकता है। उसी के उचित उपयोग का नाम 'प्रतिपत्ति कर्म' है। किस शेष का कहाँ उपयोग किया जाना चाहिए, शास्त्र इसकी भी व्यवस्था करता है, जो गत पंक्तियों से प्रकट है ॥६॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है–ध्रुवा में शेष आज्य से अवदान न हो, साधारण होने से; पर जुहू में जो शेष आज्य है, उससे अवदान क्यों न होगा ? सूत्रकार ने समाधान किया—

अवत्तत्वाच्च जुह्वां तस्य च होमसंयोगात् ॥७॥

[जुह्वाम्] जुहू में [च] भी [अवत्तत्वात्] आज्य के अवत्त=परिमित गृहीत होने से [च] और [तस्य] उस परिमित आज्य का [होमसंयोगात्] होम के साथ सम्बन्ध होने से जुहू में शेष आज्य नहीं होता।

जुहू में आज्य लेने की व्यवस्था है—'चतुर्जुह्वां गृह्णाति' वचन के अनुसार चार स्रुवा आज्य जुहू में ग्रहण किया जाता है। जुहू में गृहीत इसी परिमित आज्य का नाम 'चतुरवदान' है। इस पूरे आज्य का होम के साथ सम्बन्ध है—'चतुरवत्तं जुहोति'[1] अथवा 'चतुरवत्तं स वषट्कारेषु' [कात्या० श्रौ० ३।३।११] आदि वचन इसमें प्रमाण हैं। फलतः जितना आज्य जुहू में लिया जाता है, वह सब होम कर दिया जाता है; शेष रहता ही नहीं। तब जुहू में बचे आज्य का—शेष कार्य में उपयोग करने का प्रश्न ही नहीं उठता ॥७॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—चमस में होम के लिए सोम भरा जाता है, सोम की आहुति देने पर बचे सोम का जैसे शेष कार्य (ऋत्विज् आदि द्वारा सोम-पान) में उपयोग होता है, ऐसे ही जुहू में बचे आज्य से शेष कार्य क्यों न हो ? शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

चमसवदिति चेत् ॥८॥

[चमसवत्] जैसे होम के लिए चमस में गृहीत सोम से आहुति के अनन्तर बचे सोम का शेष कार्य में उपयोग होता है, वैसे ही जुहू में बचे उपांशुयाज के आज्य से शेष कार्य होना चाहिए, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो—(वह युक्त नहीं, यह अगले सूत्र के साथ सम्बद्ध है) ॥८॥

---

१. कुतूहलवृत्ति [३।५।८] में उद्धृत, यु० मी०।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न चोदकाविरोधात् हविः प्रकल्पनत्वाच्च ॥९॥

[न] चमसों में जुहू के समान हविद्रव्य की स्थिति नहीं है, अर्थात् जुहू के चमस का उदाहरण देना युक्त नहीं है, [चोदकाविरोधात्] चमस प्रसंग में विधि-वचन का विरोध न होने से, [च] और [हविः प्रकल्पनत्वात्] हवि की प्रकल्पना = सम्भावना होने से।

ग्रह नामक चमसों में सोम भरे जाने के प्रसंग में कोई ऐसा विधिवचन नहीं है, जिससे यह ज्ञात हो कि यह सब सोम होम के लिए है। वहाँ वाक्य है—'सोम-स्याग्ने वीहि इत्यनुवषट् करोति' [ऐ० ब्रा० ३।५], 'सोमस्याग्ने वीहि' मन्त्र से अनुवषट् करता है। अन्य वाक्य है—'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' इन्द्र और वायु देवता-वाले ग्रहपात्र में सोमरस को ग्रहण करता है, अर्थात् भरता है। सोम के ग्रहण-विषयक ये विधिवचन हैं। इन प्रसंगों में यह कहीं नहीं कहा गया कि होम के साथ इस सोम का सम्बन्ध है। यह सब कार्य सोम के हविद्रव्य होने की सम्भावना को अवश्य प्रकट करता है, परन्तु उपांशुयाज याग के आज्य के विषय में 'चतुरवत्तं जुहोति' यह स्पष्ट उल्लेख है—चार स्रुवा परिमित—जुहू में गृहीत—सम्पूर्ण आज्य होम के लिए है, यह 'जुहोति' क्रियापद से स्पष्ट होता है। यदि यहाँ आज्य बचाया जाता है, तो इस वाक्य से विरोध होगा। चमस में यदि सोम बचाया जाता है, तो किसी विधिवाक्य के साथ उसका विरोध नहीं है, प्रत्युत आनुकूल्य है। 'अनुवषट् करोति' वाक्य—चमसों द्वारा वषट्कार से होम करने के अनन्तर अनुवषट्कार से होम का विधान यह प्रकट करता है कि वषट्कार होम में चमस-स्थित सम्पूर्ण सोम का होम नहीं होता; सोम बचाकर रक्खा जाता है।

कुतूहलवृत्ति [३।५।८ (यु०मी०)] में एक वाक्य उद्धृत है—'हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षयन्ति' चमस से सोम की आहुति देनेवाले अध्वर्यु आदि ऋत्विज् होम करके वापस लौटकर सदःस्थान में सोम का भक्षण करते हैं। इससे होम के अनन्तर चमस में सोम का बचा रखना सिद्ध होता है। सोम से होम के विषय में उक्त वृत्तिकार ने अन्य वाक्य उद्धृत किया है—'असर्वहुतं जुहोति' चमस में भरे पूरे सोम को होम नहीं करता है; होम से बचाकर चमस में सोम रखता है। इससे सिद्ध है, होम के अनन्तर भी चमस में सोम शेष रहता है। उसका सोमरस-पान आदि शेष कार्य में उचित उपयोग सम्भव है। इसके विपरीत जुहू में होम के अनन्तर आज्य निःशेष हो जाता है। अतः जुहू-सम्बन्धी कार्य में चमस का दृष्टान्त सर्वथा असंगत है।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, चमसे-षून्नयति' आदि वाक्यों में सोम के ग्रहणमात्र का विधान है; हवि के रूप में प्रयोग

किए जाने का कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है। फिर भी सोमरस के आडम्बरपूर्ण सम्भार के सार्थक्य की भावना से हविरूप में उसका समर्थन माना जाता है ॥९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—ऐसी स्थिति में 'सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति'—'सब हवियों से समवेत अवदान करता है', वाक्य का समाधान होना चाहिए।

सूत्रकार ने समाधान किया—

उत्पन्नाधिकारात् सति सर्ववचनम् ॥१०॥

[सति] शेष के होने पर [उत्पन्नाधिकारात्] अधिकार उत्पन्न हो जाने से [सर्ववचनम्] उन्हीं के लिए 'सर्व'-पद का कथन है।

जिन कर्मों के पूरा हो जाने पर हविद्रव्य शेष रह जाता है, वहाँ शेष कार्य में प्रवृत्ति के लिए अधिकार प्राप्त हो जाता है, उन्हीं स्थलों के लिए 'सर्व' पद का प्रयोग किया गया है। जिन कर्मों में अशेष हविद्रव्य उपयोग में आ जाता है, वे कर्म इस 'सर्व' की सीमा में नहीं आते। इसलिए 'सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति' के साथ इस व्यवस्था का कोई विरोध नहीं है ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—यद्यपि उक्त कथन ठीक है, पर प्रायणीय इष्टि के अकेले हविद्रव्य चरु के लिए 'समवद्यति' पद-प्रयोग अव्यवहार्य है। उसे व्यवहार्य बनाने के लिए उपांशुयाज याग के हविद्रव्य आज्य का समवाय क्यों न माना जाय ?

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

जातिविशेषात् परम् ॥११॥

[परम्] अन्य अथवा अगला 'समवत्त' पद [जातिविशेषात्] ओदन जाति और आज्य जाति के भेद से दोनों के समवाय की अपेक्षा करके प्रयुक्त हुआ है।

प्रायणीय इष्टि का हविद्रव्य चरु-ओदन है। जिस ओदन का—आज्य के उपस्तरण और अभिघारण से विशद पाक होता है, वह खिला हुआ ओदन हविद्रव्य चरु है। इसके पाक में ओदन जाति से भिन्नजातीय आज्य उपस्तरण और अभिघारण के रूप में संयुक्त रहता है। इसी आज्य-समवाय की अपेक्षा से अकेले चरु-ओदन के लिए 'समवद्यति' प्रयोग व्यवहार्य है। इसमें असामञ्जस्य की आशंका निराधार है। उपांशुयाज याग का आज्य चरु-सम्बन्धी शेष कार्य के लिए सर्वथा अवपेक्षित है ॥११॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—अन्तिम आक्षेप में जो कहा गया कि स्विष्टकृद्-विषयक अर्थवाद से जाना जाता है कि उपांशुयाज आज्य से स्विष्टकृद्-अवदानरूप शेष कार्य किया जाना चाहिए, उसका समाधान अपेक्षित है।

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अन्त्यमरेकार्थे ॥१२॥

[अन्त्यम्] 'स्विष्टकृतेऽवदाय' अर्थवाद के आधार पर स्विष्टकृत् के लिए आज्य से अवदान का जो अन्तिम आक्षेप कहा है, उसका अभिप्राय [अरेकार्थे] ध्रुवा पात्र के आज्य से रिक्त न होने में समझना चाहिए।

ध्रुवा में जो आज्य रहता है, वह उपांशुयाज का आज्य नहीं है। गत सूत्रों की व्याख्या में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उपांशुयाज का आज्य शेष नहीं रहता; वह सम्पूर्ण होम कर दिया जाता है। ध्रुवा में जो आज्य है, वह स्विष्टकृत् से पूर्व होनेवाले कर्म तथा स्विष्टकृत् के लिए गृहीत पुरोडाश हवि के उपस्तरण और अभिघारण-पर्यन्त कार्यों के लिए है। इसलिए प्रति अवदान के अनन्तर ध्रुवा का अभिघारण किया जाता है, जिससे आगे होनेवाले कार्य सम्पन्न होते रहें। अन्तिम आहुति स्विष्टकृत् अग्नि के लिए है, वह पुरोडाश की दी जाती है। उसके नीचे-ऊपर ध्रुवास्थित आज्य से सेचन किया जाता है, जिससे जुहू में पुरोडाश का कोई अंश लगा न रह जाय। यह ध्रुवास्थित आज्य का अन्तिम प्रयोजन है। अब तक ध्रुवा में आज्य विद्यमान रहता है; ध्रुवापात्र आज्य से रिक्त नहीं रहता। स्विष्टकृत् के अनन्तर अन्य कोई आहुति देय न होने से ध्रुवा में आज्य के अभिघारण का कोई प्रयोजन नहीं, अतः अभिघारण नहीं होता। 'न हि ततः परामाहुतिं यक्ष्यन् भवति' अर्थवाद-वाक्य का इतना ही तात्पर्य है—उठाये गये सब आक्षेपों का समाधान हो जाने पर यह सिद्ध हो जाता है कि उपांशुयाज के आज्य से स्विष्टकृत् एवं इडा का अवदान नहीं किया जाता ॥१२॥ (इति ध्रुवाज्यादिभिः स्विष्टकृदादिशेषाऽननुष्ठानाधिकरणम्—१)।

(साकंस्थायीये शेषकर्माननुष्ठानाधिकरणम्—२)

तैत्तिरीय संहिता [२।५।४।३] के दर्श-पूर्णमास प्रसंग में पाठ है—'साकम्प्रस्थायीयेन यजेत पशुकामः'—पशु की कामनावाला साकम्प्रस्थायीय याग से यजन करे। यह दर्श-पूर्णमास का विकृतियाग है। इसमें सन्देह है—स्विष्टकृत् और इडा का अवदान यहाँ होना चाहिए? अथवा नहीं? प्रतीत होता है, अवदान होना चाहिए; क्योंकि साकंप्रस्थायीय याग दर्श-पूर्णमास का विकार है। दर्श-पूर्णमास में स्विष्टकृत् और इडा का अवदान होता है। इसलिए 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' नियम के अनुसार दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग के समान उसके विकृतियाग साकम्प्रस्थायीय में भी अवदान होना चाहिए

इस प्रतीति पर आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

साकम्प्रस्थायीये स्विष्टकृदिडञ्च तद्वत् ॥१३॥

[साकम्प्रस्थायीये] साकम्प्रस्थायीय नामक याग में [स्विष्टकृदिडम्] स्विष्ट-

कृत् और इडा का अवदान [च] भी [तद्वत्] ध्रुवाज्य के समान समझना चाहिए। तात्पर्य है—जैसे ध्रुवाज्य से स्विष्टकृत् और इडा का अवदान नहीं होता, वैसे ही साकम्प्रस्थायीय हविद्रव्य से स्विष्टकृत् और इडा का अवदान नहीं होता।

विधि के अनुसार साकम्प्रस्थायीय याग का हविद्रव्य शेष नहीं रहता; तब अवदान का प्रश्न ही नहीं उठता। हविद्रव्य शेष रहे तो अवदान का अवसर आवे। इस विषय में विधान है, आज्यभागाभ्यां प्रचर्य्य आग्नेयेन च पुरोडाशेनाग्नीधे स्रुचौ प्रदाय सह कुम्भीभिरभिक्रामन्नाह'—आज्यभाग और आग्नेय पुरोडाश से यजन करके अग्नीत्संज्ञक ऋत्विज् को दूध और दही की दोनों स्रुक् देकर कुम्भियों (दूध और दही की घड़ियों = मटकियों) के साथ दक्षिण से अभिक्रमण करते हुए (दाहिनी ओर से निकलते हुए) कहता है, अर्थात् इन्द्र के लिए यजन करो, ऐसा आदेश देता है। इस अनुष्ठान में—कुम्भियों में विद्यमान—सम्पूर्ण हविद्रव्य = दूध और दही होम कर दिया जाता है। शेष कुछ नहीं रहता। इसलिए प्रस्तुत याग में स्विष्टकृत् आहुति एवं इडाभक्षण आदि शेषकार्य का कोई अवकाश नहीं। कतिपय आचार्यों ने स्पष्ट लिखा है, साकम्प्रस्थायीय याग में स्विष्टकृत् और इडा-भक्षण नहीं होते—'स्विष्टकृद्मक्षाश्च न विद्यन्ते' [आप०सूत्र, ३।१७।२]॥१३॥ (इति साकम्प्रस्थायीये शेषकर्माननुष्ठानाधिकरणम्—२)।

(सौत्रामण्यां शेषकर्माननुष्ठानाधिकरणम्—३)

दर्श-पूर्णमास और सोमयाग के विकृतियागों में एक सौत्रामणी याग है। इस याग में अश्वी, सरस्वती और इन्द्र देवता के उद्देश्य से 'ग्रह' नामक पात्रों में दूध और सोमरस अलग-अलग भरकर उसकी आहुतियाँ दी जाती हैं। यहाँ सन्देह है, ग्रहपात्रों में बचे दूध व सोमरस से स्विष्टकृत् और इडा का अवदान करना चाहिए? अथवा नहीं? प्रतीत होता है, करना चाहिए। क्योंकि शास्त्र की एक साधारण व्यवस्था है—'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'—जो कार्य प्रकृतियाग में होते हैं, वे विकृतियाग में भी किए जाने चाहिएँ। दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग में शेष कार्य स्विष्टकृत् और इडा का अवदान किया जाता है; तब उसके विकृतियाग सौत्रामणी में भी स्विष्टकृत् और इडा का अवदान प्राप्त होता है।

आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

सौत्रामण्याञ्च ग्रहेषु ॥१४॥

[सौत्रामण्याम्] सौत्रामणी याग में जो [ग्रहेषु] ग्रह हैं, उनमें [च] भी स्विष्टकृत् और इडा का अवदान नहीं करना चाहिए।

सूत्र में पठित 'च' पद से पूर्व-प्रकृत–अवदान नहीं करना चाहिए—का अति-देश होता है। ग्रहों में स्विष्टकृत् आदि अवदान न किये जाने का कारण यह है

कि ग्रह-संज्ञक पात्रों में जो हविद्रव्य गृहीत होता है, भरा जाता है, वह सम्पूर्ण (=सब-का-सब) होम के लिए होता है। ='यत् पयोग्रहाश्च सोम (=सुरा) ग्रहाश्च गृह्यन्ते' इन ग्रहपात्रों में विद्यमान जो हविद्रव्य है, वह देवता के लिए ग्रहण हुआ, देवता के लिए कहा हुआ, देवता के लिए सुनाया हुआ है। तात्पर्य है—हविद्रव्य से भरे ग्रहपात्रों को अलग-अलग ऋत्विज् उठाते हैं और मन्त्रपाठ-पूर्वक अग्नि में उसकी आहुति देते हैं। मन्त्रों में निर्देश है कि यह हविद्रव्य अमुक देवता का है। आश्विन ग्रह को अध्वर्यु, सारस्वत को ब्रह्मा, ऐन्द्र को प्रतिप्रस्थाता उठाता है। उस सम्पूर्ण हवि को देवता के लिए आहुत कर दिया जाता है। उसका कोई अंश बचा नहीं रहता। इन ग्रहों का होम के साथ सम्बन्ध भी सुना जाता है—'उत्तरेऽग्नौ पयोग्रहान् जुह्वति'–उत्तरवेदि की आहवनीय अग्नि में पयोग्रहों का होम करते हैं। 'दक्षिणेऽग्नौ सुरा(=सोम ?) ग्रहान् जुह्वति'–दक्षिणाग्नि में सुरा[1] (सोम) ग्रहों का होम करते हैं। फलतः ग्रहपात्रों में अवस्थित अशेष हवि-द्रव्य देवता के लिए आहुत हो जाता है। शेष कुछ भी बचता नहीं। तब स्विष्टकृत् आदि के लिए उसका अवदान असम्भव है। अतः ग्रहों में अवदान का कथन निराधार है ॥१४॥

उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने सहायक प्रमाण प्रस्तुत किया—

---

१. "सौत्रामणि याग में सुरा से होम का विधान तथा शेष रूप से ऋत्विजों द्वारा सुरा-भक्षण का निर्देश मिलता है। यहाँ सुरा शब्द लोकप्रसिद्ध मद्य के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। सौत्रामणि याग में सुरा बनाने की जो विधि श्रौत-सूत्रों में लिखी है, उसके अनुसार व्रीहि और श्यामाक का अधिक जल में चावल पकाकर उसके मांड में शष्पादि के चूर्ण के साथ पके चावलों को डालकर ३ दिन गड्ढे में गाड़कर रखा जाता है। (द्रष्टव्य—कात्या० श्रौत, १९।२।२०।२१)। इससे इसमें खटास तो उत्पन्न हो जाता है, परन्तु मादकता उत्पन्न नहीं होती है। आसव वा अरिष्ट बनाने के लिए उनके द्रव्य को ४० दिन भूमि में गाड़ते हैं, तब भी उनमें ५ से १० प्रतिशत ही मादकता आती है। मद्य बनाने के लिए उसका सार भबके (=वाष्प-यन्त्र) से खींचा जाता है। प्रकृत सुरा में यह कार्य भी नहीं होता है। अतः सौत्रामणिस्थ सुरा को मद्य समझना भूल है। उस सुरा की तुलना गाजर या बड़े की बनाई 'कांजी' द्रव्य से की जा सकती है, जिसमें खटाई-मात्र होती है।" (यु० मी०)

प्रतीत होता है, यहाँ सोम के स्थान पर सुरा का प्रवेश किया गया। ग्रहों में हविद्रव्य दूध हो, सोम हो या सुरा हो, ऋत्विजों द्वारा उसके भक्षण का कथन प्रकरण-विरुद्ध है। सुरा-सम्बन्धी लेख सन्दिग्ध हैं।

तद्वच्च शेषवचनम् ॥१५॥

[शेषवचनम्] 'उच्छिनष्टि न सर्वं जुहोति'—कुछ बचाता है, सब होम नहीं करता—यह निषेधपूर्वक बचाये जाने का कथन [तद्वत्] सार्कस्थायीय के समान सौत्रामणी याग में स्विष्टकृत् और इडा-अवदान के अभाव को बोधित करता है।

सौत्रामणी याग के उपसंहार-प्रसंग में वचन है—'उच्छिनष्टि न सर्वं जुहोति' 'कुछ बचाता है, सब नहीं होमता', निषेधपूर्वक हविद्रव्य बचाने का कथन यह सिद्ध करता है कि प्रकरण के अनुसार हवि नहीं बचाया जाना चाहिए, सब-का-सब होम कर देना चाहिए। यह प्राप्त का प्रतिषेध है। इससे प्रकरण स्विष्टकृत् आदि के लिए शेष अवदान के अभाव का बोध कराता है।

तब सौत्रामणी याग में ग्रहों में बचाये गये हवि का क्या उपयोग होना चाहिए? इस विषय में आचार्यों ने जो सुझाव दिये हैं, उनसे प्रतीत होता है, यह सूत्र अनन्तर-काल में प्रक्षिप्त किया गया है। एक सुझाव है—शेष सुराद्रव्य किसी ब्राह्मण को बुलाकर पिला देना चाहिए। दूसरा सुझाव है—किसी क्षत्रिय या वैश्य को भी पिलाया जा सकता है। तीसरा सुझाव है—ऋत्विजों से अन्य किसी को भी पिलाये जाने पर उसमें से कुछ सुराद्रव्य बचाया जाता है। उस बचे सुराद्रव्य को—किसी छीदे बुने छन्ने—अथवा सब ओर सैकड़ों छिद्रों से युक्त पात्र—में शतमान (विशेष परिमाण) सुवर्ण रखकर—ऊपर डालकर छाना जाता है। वह छनती हुई सुरा-धारा दक्षिणाग्नि में गिरती है।[1]

इससे अतिरिक्त एक मुख्य मान्यता—ऋत्विजों द्वारा सुरा-भक्षण है, जिसका निर्देश गत टिप्पणी में विद्यमान है। पर इस मान्यता में उन याजक-ऋत्विजों के हाथ सुरा-भक्षण के सिवाय अन्य कुछ न लगता था, तब दूसरों को पिलाने का सुझाव व अधिकार देकर शतमान सुवर्ण और कमा लिया। अन्यथा सुरा को छन्ने या शतछिद्र पात्र में छानते समय जो शतमान सुवर्ण रक्खा जाता है, उसका कौन-सा रासायनिक प्रभाव सुरा में उत्पन्न होकर दक्षिणाग्नि को प्रभावित करता होगा? इसे धार्मिक ठगी कहा जाय? या अन्य कुछ? यह सब किसी काल के सुरापायी याज्ञिकों द्वारा किया गया घोटाला है।

यह भी विचारणीय है, ऋत्विजों द्वारा सुरा-भक्षण को मान्यता[2] देकर यह कैसे सम्भव है कि स्विष्टकृत् और इडा-अवदानरूप शेष कार्य के लिए सौत्रामणी-

---

१. आप० श्रौत० १९।३।६७ ॥

२. सुरा-भक्षण-सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं के लिए देखें—कात्या० श्रौत० १९।३।१७-१८ ॥ आप० श्रौत० १९।३।३॥

याग-सम्बन्धी ग्रहों के शेष द्रव्य का उपयोग नहीं होता ? क्या ऋत्विजों द्वारा सुरा-भक्षण शेष कार्य नहीं है ? इसलिए सुरा-भक्षण का कथन उत्प्रकरण है, एवं अमान्य है ॥१५॥ (इति सौत्रामण्यां शेषकर्मानुष्ठानाधिकरणम्—३)।

(सर्वपृष्ठेष्टौ स्विष्टकृदिडादीनां सकृदनुष्ठानाऽधिकरणम्—४)

सर्वपृष्ठा नामक एक इष्टि है। उसके विषय में तैत्तिरीय संहिता [२।३।७] का पाठ है—'य इन्द्रियकामो वीर्यकामः स्यात् तमेतया सर्वपृष्ठया याजयेत' जो व्यक्ति इन्द्रिय-शक्ति एवं दैहिक शक्ति की कामनावाला हो, उसको इस सर्वपृष्ठा इष्टि से यजन कराये। इस इष्टि के छह याग हैं। संहिता के इसी प्रसंग में आगे पाठ है—'इन्द्राय राथन्तराय, इन्द्राय बार्हताय, इन्द्राय वैरूपाय, इन्द्राय वैराजाय, इन्द्राय शाक्वराय, इन्द्राय रैवताय (निर्वपति)।' राथन्तर आदि छह विशेषण इन्द्र के हैं। शास्त्र की व्यवस्था है, जब विशेषणविशिष्ट देवता का निर्देश होता है, तब वह विभिन्न देवता माना जाता है। रथन्तर आदि सामों के नाम हैं। उनसे सम्बद्ध देवता इन्द्र राथन्तर आदि रूप में निर्दिष्ट हुआ है। उन साम-मन्त्रों को गाते हुए पुरोडाश की आहुतियाँ दी जाती हैं। 'इन्द्राय रथन्तराय त्वा जुष्टं निर्वपामि' आदि मन्त्रों से प्रतियाग के लिए चार-चार मुट्ठी हवि का छाज (सूप) में निर्वाप कर, सब हवि को एकसाथ पीसकर, सीधे बारह कपालों में पुरोडाश पकाया जाता है। रथन्तर आदि पृष्ठसंज्ञक छह सामों को गाते हुए छह कर्मों में छह देवताओं के लिए उस पुरोडाश की आहुतियाँ दी जाती हैं। आहुतियाँ देने की विशेष पद्धति है, जिसमें पुरोडाश के निर्दिष्ट भाग से अंगुष्ठ-समान दो टुकड़े काटकर उपस्तरण और अभिघारणपूर्वक एक आहुति दी जाती है। यह एक कर्म है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—यहाँ सन्देह है—क्या प्रत्येक कर्म के अनन्तर बचे हवि से स्विष्टकृत् व इडा का अवदान करना चाहिए ? अथवा पुरोडाश-हवि के सर्वत्र समान होने से अवदान एक बार ही किया जाय ? देवता व कर्म के भिन्न होने से प्रतिकर्म अवदान होना युक्त प्रतीत होता है।

शिष्य के इस सुझाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात् प्रतिकर्म क्रियेरन् ॥१६॥

[द्रव्यैकत्वे] पुरोडाश-हविद्रव्य के सब कर्मों में समान होने पर भी [कर्म-भेदात्] कर्मों का भेद होने से अर्थात् छह भिन्न याग होने से [प्रतिकर्म] प्रति-याग स्विष्टकृत् और इडा का अवदान [क्रियेरन्] किये जाने चाहिएँ।

भले ही हविद्रव्य सब यागों में समान हो, पर देवता और याग के भिन्न होने से स्विष्टकृत् आदि के लिए अवदान प्रत्येक कर्म में अवशिष्ट हवि का होना

चाहिए ॥१६॥

आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

अविभागाच्च शेषस्य सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥१७॥

[शेषस्य] प्रत्येक याग से बचे पुरोडाश के [अविभागात्] विभाग का कथन न होने से, अर्थात् छहों यागों से बचे पुरोडाश हवि के सम्मिलित रक्खे रहने से [सर्वान् प्रति] सब यागों के प्रति पुरोडाश के [अविशिष्टत्वात्] अविशिष्ट = समान—साधारण होने से [च] भी प्रतिकर्म अवदान नहीं होता।

सूत्र में 'च' पद के स्थान पर कहीं 'तु' पाठ है। वह पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है, अर्थात् प्रतिकर्म स्विष्टकृत् का अवदान नहीं होता; क्योंकि प्रत्येक कर्म के लिए पुरोडाश के विभाग नहीं किये गये हैं। छहों यागों के अनुष्ठित हो जाने पर बचा पुरोडाश सम्मिलित रक्खा हुआ है। प्रत्येक कर्म के लिए पुरोडाश-पिण्ड से परिमित हविद्रव्य लेकर आहुतियाँ दी जाती हैं। छहों यागों के सम्पन्न हो जाने पर शेष पुरोडाश का इस प्रकार विभाग किये जाने का कोई कथन नहीं है कि पुरोडाश का अमुक अंश अमुक देवता या याग का भाग है। इसलिए सर्वपृष्ठा इष्टि में शेष पुरोडाश से एक बार ही स्विष्टकृत् और इडा का अवदान करना चाहिए ॥१७॥ (इति सर्वपृष्ठेष्टौ स्विष्टकृदादीनां सकृदनुष्ठानाऽधिकरणम्—४)।

(ऐन्द्रवायवग्रहे द्विःशेषभक्षणाऽधिकरणम्—५)

ज्योतिष्टोम याग के विषय में कहा है—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम याग से यजन करे। उसमें इन्द्र और वायु देवतावाले ग्रहों में सन्देह है। ग्रहसंज्ञक पात्र हैं, जिनमें सोम भरकर इन्द्र, वायु देवता के लिए आहुति दी जाती है। यहाँ सन्देह यह है—क्या आहुति से बचे सोम का एक बार भक्षण किया जाए? अथवा दो बार? शेष भक्षण सोम के संस्कार के लिए होता है। तब एक बार भक्षण में वह सम्पन्न हो जाता है।

सूत्रकार ने निश्चय किया—

ऐन्द्रवायवे तु वचनात् प्रतिकर्म भक्षः स्यात् ॥१८॥

[ऐन्द्रवायवे] इन्द्र और वायु देवतासम्बन्धी ग्रह में [तु] तो [वचनात्] वचन से—सूत्र-ग्रन्थोक्त वाक्य से [प्रतिकर्म] प्रत्येक आहुति के पश्चात् [भक्षः] शेष सोम का भक्षण [स्यात्] होता है।

'वचन' पद की व्याख्या में भाष्यकार ने वाक्य उद्धृत किया है—द्विरैन्द्रवायवस्य भक्षयति, द्विर्ह्येतस्य वषट् करोति'—इन्द्र-वायु देवतासम्बन्धी बचे सोम का

दो बार भक्षण करता है; क्योंकि दो बार ही इसका वषट्कार=होम होता है। यद्यपि यह वचन उपलब्ध वैदिक साहित्य में दिखाई नहीं दिया, पर आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१८।२५।२ तथा १२।२०।२४] में इसके संकेत उपलब्ध हैं—'द्विरैन्द्रवायवं भक्षयतः' तथा 'वषट्कृते जुहोति, पुनर्वषट्कृते जुहुतः' ऐन्द्र-वायव शेष सोम का दो बार भक्षण करते हैं। अध्वर्यु वषट्कार=होम करता है, होता और अध्वर्यु वषट्कार होम करते हैं। इन वचनों से स्पष्ट है, प्रतिहोम बचे सोम का भक्षण किया जाता है—दो बार होम है, दो बार भक्षण।

सूत्र में 'तु' पद का प्रयोग गत अधिकरण से यहाँ कुछ विशेषता दिखाने के लिए हुआ है। वहाँ सर्वपृष्ठा इष्टि में पुरोडाश का एक बार अवदान है, पर यहाँ सोम का दो बार भक्षण। इसका प्रयोग सन्देह की निवृत्ति के लिए माने जाने में भी कोई आपत्ति नहीं है।

भक्षण हुतशेष सोम का संस्कार बताया जाता है। यहाँ संस्कार का वास्तविक तात्पर्य उसके सदुपयोग का है। यदि एक होम से बचे सोम का भक्षण उसका संस्कार है, तो यह उसी बचे सोम का संस्कार है, अन्य सोम का नहीं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि एकत्र बचे सोम के संस्कार से सर्वत्र सोम संस्कृत हो जाता है। तब दूसरे होम के बचे सोम का सदुपयोग भी आवश्यक है और वह उसका भक्षण ही है। उसे फेंक देना सदुपयोग नहीं कहा जा सकता। अतः शेष सोम का प्रतिकर्म भक्षण उचित है, अभीष्ट है ॥१८॥ (इत्यैन्द्रवायवग्रहे द्विःशेष-भक्षणाऽधिकरणम्—५)।

(सोमे शेषभक्षणाऽधिकरणम्—६)

ज्योतिष्टोम के प्रसंग से ग्रहों और चमसों में भरे गये अनेक सोम कहे हैं। उनमें सन्देह है—क्या उन सोमों के शेष का भक्षण करना चाहिए? अथवा नहीं करना चाहिए? प्रतीत यही होता है कि भक्षण नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रसंग में उनके भक्षण का कोई वचन नहीं है।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

सोमेऽवचनाद् भक्षो न विद्यते ॥१९॥

[सोमे] ज्योतिष्टोम-यागीय सोम में [भक्षः] शेष सोम का भक्षण [न विद्यते] नहीं होता, [अवचनात्] प्रसंग में भक्षण के विधायक किसी वाक्य के न होने से।

ज्योतिष्टोम-यागीय शेष सोम के भक्षण का निश्चायक कोई वाक्य प्रसंग में उपलब्ध नहीं है, इसलिए प्रसंग में सोम का भक्षण वर्ज्य है। जहाँ भक्षण का

विधायक वाक्य उपलब्ध हो, वहाँ भक्षण करना चाहिए। यहाँ ऐसा नहीं है ॥१९॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

स्याद्वाऽन्यार्थदर्शनात् ॥२०॥

[वा] 'वा' पद पूर्वोक्त की निवृत्ति के लिए है। तात्पर्य है—विधान न होने से शेष-सोमभक्षण नहीं करना चाहिए, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि [अन्यार्थ-दर्शनात्] सोमभक्षण-सम्बन्धी अन्य अर्थों का उल्लेख देखे जाने से; हम जानते हैं कि [स्यात्] ज्योतिष्टोम याग में शेष-सोमभक्षण है।

सोमभक्षण-सम्बन्धी अन्य अर्थ को कहनेवाला वचन ज्योतिष्टोम याग में शेष-सोमभक्षण को प्रकट करता है। वचन है—'सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति' सब ओर सिर को घुमाते हुए अश्वी देवता के ग्रहसंज्ञक पात्र में विद्यमान सोम का भक्षण करता है। अन्य वचन है—'भक्षिताप्यायिताँश्चमसान् दक्षिणस्यानसोऽवलम्बे सादयन्ति'[1]—भक्षण किये और पुनः सोम से भरे चमसों को दक्षिण हविर्धान शकट के अवलम्ब के समीप रखते हैं। ज्योतिष्टोम याग में शेष-सोमभक्षण स्वीकार न किये जाने पर इस प्रकार के सोमभक्षण-सम्बन्धी उल्लेख सम्भव नहीं हैं। सिर घुमाते हुए सोमभक्षण का निर्देश करनेवाला वचन 'सिर घुमाना'-रूप अन्य अर्थ का बोध कराने के लिए है। इसी प्रकार दूसरा वचन 'भक्षण किये चमसों को पुनः भरकर विशिष्ट स्थान में रखना'-रूप अन्य अर्थ का बोध कराने के लिए है। इससे ज्योतिष्टोम में शेष सोम का भक्षण सिद्ध होता है ॥२०॥

---

१. यद्यपि ये वचन इसी आनुपूर्वी के साथ उपलब्ध वैदिक साहित्य में दृष्टिगत नहीं हैं, पर इनसे सन्तुलित वचन उपलब्ध हैं। द्रष्टव्य—तै० सं० ६।४।९॥ आप० श्रौ० १२।२५।१॥ तै० सं० के उक्त स्थल के भाष्य में भट्टभास्कर लिखता है—'आश्विनं तु सर्वतः परिहारं शिरः परितो भ्रमयित्वा भक्षयति।'

दूसरे वचन के लिए द्रष्टव्य—आप० श्रौ० १२।२५।७॥ कात्या० श्रौ० ९।११।२४॥

तै० सं० [६।४।९] में ऐन्द्रवायव ग्रह को तथा मैत्रावरुण ग्रह को मुँह के सामने रखकर, और आश्विन ग्रह को सब ओर सिर घुमाकर भक्षण-विशेषों का निर्देश मिलता है। आप० श्रौ० [१२।२५।१] में ऐन्द्रवायव ग्रह को नासिका के समीप में, मैत्रावरुण को आँखों के समीप में, और आश्विन ग्रह को श्रोत्र के समीप में रखकर भक्षण का विधान मिलता है।

(यु०मी०)

आचार्य सूत्रकार उक्त वचनों के आधार पर सोमभक्षण का विधान बताता है—

वचनानि त्वपूर्वत्वात् तस्माद् यथोपदेशं स्युः ॥२१॥

[तु] 'तु' पद अन्यार्थदर्शन के साथ सोमभक्षण के विधान का द्योतक है। [वचनानि] 'सर्वतः परिहारमश्विनम्' आदि वचन सोमभक्षण के विधायक हैं; [अपूर्वत्वात्] अपूर्व होने के कारण, [तस्मात्] इसलिए [यथोपदेशम्] उपदेश के अनुसार ही ये [स्युः] विधि-वचन हैं।

'सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति' सब ओर सिर घुमाकर अश्वी देवता के ग्रहपात्र में शेष सोम का भक्षण करता है, यह भक्षण का विधायक वाक्य है। सिर घुमाना उसकी विशेषता है। यह भक्षण का अङ्ग है। वाक्य का मुख्य प्रयोजन सोमभक्षण का विधान करता है। आगे उसके फल का कथन है—'तस्मात् सर्वा दिशः शृणोति' इसलिए सब दिशाओं से सुनता है। यह सब विशिष्ट सोमभक्षण विधान को स्पष्ट करता है। यह अपूर्व विधि है। अन्य किसी वचन से इसका विधान हुआ हो, उसका यहाँ अनुवादमात्र है,–यह कथन सर्वथा अयुक्त है। अपूर्व अर्थ का विधान करने से वचन की अर्थवत्ता=फलवत्ता सिद्ध होती है। इसलिए सर्वत्र विशिष्ट सोमभक्षण में भक्षण मुख्य है, विशेषण अङ्गभूत। फलतः प्रस्तुत वचनों में सोमभक्षण का विधान उपपन्न होता है ॥२१॥ (इति सोमे शेषभक्षणाधिकरणम्—६)।

(चमसिनां शेषभक्षणाऽधिकरणम्—७)

शतपथ ब्राह्मण [४।१।२९] के ज्योतिष्टोम-प्रसंग में पाठ है—'प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणां प्र यजमानस्य प्र यन्तु सदस्यानाम्' होता का चमस आवे, ब्रह्मा का चमस आवे, उद्गाता और उसके सहायक ऋत्विजों, प्रस्तोता तथा प्रतिहर्त्ता के चमस आवें, यजमान का चमस आवे, इन होता आदि सब सदस्यों के चमस आवें। तात्पर्य है—जहाँ बैठकर सोम पिया जाता है, उस सदःस्थान में यज्ञसम्बन्धी सब यजमान व ऋत्विजों के चमस आयें, उन्हें शेष सोम से भर दिया जाय।

यहाँ सन्देह है—क्या चमसोंवाले होता आदि के द्वारा यह सोमभक्षण का निर्देश है? अथवा नहीं है? प्रतीत होता है–सोमभक्षण का यह निर्देश नहीं है, क्योंकि गत सूत्र में विशिष्ट भक्षण का निश्चय किया गया है; अन्यत्र भक्षण नहीं होगा। यहाँ विशिष्ट भक्षण का निर्देश न होने से भक्षण नहीं है,—ऐसा जानना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने सन्देह का समाधान किया—

चमसेषु समाख्यानात् संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२२॥

[चमसेषु] चमसों में भरा सोम होता आदि का भक्षण है, [समाख्यानात्] 'होतुश्चमसः' होता का चमस—इस रूप में नाम लेकर कथन किये जाने के कारण, [संयोगस्य] चमसों के साथ ऋत्विजों के सम्बन्ध के [तन्निमित्तत्वात्] भक्षणनिमित्तक होने से। तात्पर्य है—होता आदि का चमस के साथ सम्बन्ध भक्षणरूप प्रयोजन के कारण है।

चमसों में भरा शेष सोम होता आदि के भक्षणनिमित्त ही है, क्योंकि वाक्य में—होता का चमस, ब्रह्मा का चमस, उद्गाता का चमस—इस प्रकार नाम-निर्देशपूर्वक कथन किया गया है। यदि होता आदि ऋत्विजों के द्वारा भक्षण के लिए यह न होता, तो नामनिर्देश अनावश्यक व निरर्थक था। होता आदि से सम्बद्ध चमस तभी कहा जाता है, जब होता आदि ने उस चमस में सोमभक्षण किया, या वह करेगा, अथवा अब करता है। यदि होता आदि चमस में सोम-भक्षण न करे, तो वह चमस होता आदि का नहीं कहा जाता।

चमस नियत परिमाण के रूप में काष्ठ के बने होते हैं। होता आदि के द्वारा चमसों में शेष सोम के भक्षण से उन्हें उच्छिष्ट या अशुद्ध नहीं माना जाता। उच्छिष्ट काष्ठपात्रों को शुद्ध करने के लिए मनु आदि स्मृतिकारों ने उन्हें थोड़ा-थोड़ा छील देना उपाय बताया है। यदि ऐसा किया जाय, तो यह पात्र अपने निर्धारित परिमाण का न रहने से यज्ञिय पात्र नहीं रहेगा, इसलिए उन पात्रों में सोमभक्षण करने पर भी उन्हें पवित्र माना जाता है।

अब्राह्मण (=क्षत्रिय या वैश्य) द्वारा ज्योतिष्टोम याग करने पर, उन्हें सोमभक्षण का निषेध किया गया है।[1] यदि वे ऐसा चाहें, तो सोमरस के स्थान पर उन्हें वट (बड़=बरगद) वृक्ष के कोंपल-पत्तों व फलों का रस दिया जाता है। क्षत्रिय आदि के लिए सोमभक्षण का यह निषेध—ज्योतिष्टोम में होता आदि द्वारा सोम-भक्षण की परम्परा को सिद्ध करता है। यदि मूलतः ज्योतिष्टोम में सोमभक्षण न होता, तो क्षत्रियादि के लिए उसका निषेध करना निरर्थक था।

---

१. क्षत्रिय आदि के लिए किया गया सोमभक्षण-निषेध यज्ञिय भावना के नितान्त विरुद्ध है। उसी कार्य को करनेवाला ब्राह्मण ऐसा करे, क्षत्रिय आदि न करे, यह वैदिक भावना नहीं है। ऐसी व्यवस्थाओं को जिन ब्राह्मण-व्यक्तियों ने बनाया, उनके मूल में घोर स्वार्थ रहा। उन्होंने समाज में पारस्परिक द्वेषपूर्ण भावनाओं का बीज बोया। इस प्रवृत्ति ने समाज और राष्ट्र को गहरी हानि पहुँचाई, जिसका प्रभाव अब भी चालू है, तथा राष्ट्र को छिन्न-भिन्न करने में सहयोग दे रहा है।

फलतः ज्योतिष्टोम में चमसियों (=होता आदि के) द्वारा सोमभक्षण सिद्ध होता है ॥२२॥ (इति चमसिनां सोमभक्षाऽधिकरणम्—७)।

(उद्गातॄणां सहस्रब्रह्मण्येन भक्षाऽधिकरणम्—८)

ज्योतिष्टोम याग के विषय में कहा गया है—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—स्वर्ग की कामनावाला व्यक्ति ज्योतिष्टोम से यजन करे। ज्योतिष्टोम प्रसंग से शतपथ ब्राह्मण [४।२।१।२९] में उल्लेख है—'प्रैत होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणाम्'—होता का चमस सदःस्थान को लाया जाये, ब्रह्मा का चमस सदःस्थान को लाया जाये, उद्गाताओं के चमस सदःस्थान को लाये जाएँ। सदःस्थान वह है, जहाँ होता आदि यज्ञशेष सोमरस का पान करते हैं। यहाँ समाख्या-बल से—होता आदि के चमसों में सोम का भक्षण होता है,—यह गत अधिकरण में निश्चय किया जा चुका है। पर 'प्रोद्गातॄणाम्' के विषय में सन्देह है। सन्देह का कारण है—'उद्गातॄणाम्' में बहुवचन का निर्देश। अन्य पद 'होतुः, ब्रह्मणः' एकवचनान्त हैं; एक ऋत्विक् एक चमस। 'उद्गातॄणाम्' पद बहुवचनान्त होने से यह सन्देह है—क्या इस चमस में विद्यमान सोम का भक्षण अकेला उद्गाता करे? अथवा उद्गाता के सहयोगी सभी सामगान करनेवाले ऋत्विक् करें? तथा सुब्रह्मण्य को छोड़कर शेष सब सामगान करनेवाले ऋत्विक् सोमभक्षण करें? अथवा सुब्रह्मण्यसहित सब ऋत्विक् करें? प्रतीत होता है—अकेला उद्गाता सोम का भक्षण करे, जैसे होता आदि अकेले अपने चमस-गत सोम का भक्षण करते हैं।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

उद्गातृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात् ॥२३॥

[उद्गातृचमसम्] 'प्रोद्गातॄणाम्' वचन में कहे गये उद्गातृचमस-स्थित सोम को [एकः] अकेला उद्गाता भक्षण करे, [श्रुतिसंयोगात्] 'प्रोद्गातॄणाम्' श्रुति के साथ उद्गाता का साक्षात् सम्बन्ध होने से।

वाक्य में जैसे होता, ब्रह्मा आदि साक्षात् श्रुत हैं, और अपने सम्बद्ध चमस के सोम का भक्षण करते हैं, ऐसे ही उद्गाता साक्षात् पठित है। अकेले उद्गाता को सम्बद्ध चमस के सोम का भक्षण करना चाहिए। बहुवचनान्त प्रयोग से इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। बहुवचन होने पर भी बहुत्व अर्थ अविवक्षित है। अविवक्षा का कारण है, उद्गाता का एक होना। उद्गातृ प्रातिपदिक के आगे बहुवचन का प्रत्यय लगा है। वह बहुवचन विवक्षित होता हुआ उद्गाता के बहुत्व को कहेगा। पर उद्गाता एक ही है। उद्गाता के विषय में सुना गया भी बहुत्व उद्गाता की एकता को बाधित नहीं कर सकेगा। इस कारण बहुवचन

अविवक्षित है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि वाक्य में साक्षात् उद्गाता का कथन है। अन्य सहयोगियों का—बहुवचन के प्रयोग से अनुमान किया जाता है। प्रत्यक्ष अनुमान से बलवान् होता है। अतः उद्गाता के अनेक सहयोगियों की अभिव्यक्ति का प्रयोजक होते हुए भी बहुवचन उद्गाता के सोमभक्षण में उनके प्रवेश का प्रयोजक नहीं होता। इसलिए उद्गातृचमस के सोम का अकेला उद्गाता भक्षण करे, ऐसा ज्ञात होता है ॥२३॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

सर्वे वा सर्वसंयोगात् ॥२४॥

[वा] 'वा' पद 'अकेला भक्षण करे' इस पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—अकेला उद्गाता भक्षण करे, यह कथन युक्त नहीं। इसलिए [सर्वे] सब भक्षण करें, [सर्वसंयोगात्] सबके साथ चमस का सम्बन्ध होने से।

उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता, सुब्रह्मण, इन सभी सामगान से सम्बद्ध ऋत्विजों को उद्गातृचमस-स्थित सोम का भक्षण करना चाहिए। यदि अकेले उद्गाता का सोमभक्षण कहा जाता है, तो 'उद्गातृणाम्' पद में बहुवचन का प्रयोग प्रमाद-पूर्ण ही समझा जाएगा; क्योंकि यह बहुत्व न अन्य कथन का अनुवाद है, न अन्यत्र इसका विधान है। यह कहना भी युक्त न होगा कि सबका भक्षण मानने पर वाक्य में 'उद्गातृ' पद का पाठ प्रमादपूर्ण हो जायगा; क्योंकि अन्य सह-योगियों का सोमभक्षण उद्गाता के सोमभक्षण को व्यावृत्त नहीं करता। तब वह प्रमादपाठ क्यों होगा? बहुवचन-प्रयोग के सामर्थ्य से सभी ऋत्विज् सोम-भक्षण में प्रवेश पा रहे हैं। 'उद्गातृ' पद का पाठ उसी अवस्था में प्रमाद कहा जा सकता था, जब उद्गाता का सोमभक्षण से बहिष्कार होता। उद्गाता आदि सभी ऋत्विज् समान रूप से उद्गातृचमस-स्थित सोम के भक्षण में उपस्थित हैं। अतः सबका सोमभक्षण करना युक्त है ॥२४॥

प्रथम सन्देह प्रकट करने के अवसर पर दूसरा विकल्प बताया है—क्या सुब्रह्मण्य को छोड़कर शेष तीन—उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता—ऋत्विज् ही सोमभक्षण करें? अथवा सुब्रह्मण्य के सहित सब भक्षण करें? प्रतीत होता है, वाक्य में साक्षात् उद्गातृ पद के प्रयोग से स्तोत्रकारी तीन ऋत्विजों को ही सोमभक्षण करना चाहिए, सबको नहीं। इसी अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्व-पक्षरूप में सूत्रित किया—

स्तोत्रकारिणां वा तत्संयोगाद् बहुत्वश्रुतेः ॥२५॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्रोक्त 'चमस के साथ सबका सम्बन्ध होने से सब सोम-भक्षण करें' पक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। [स्तोत्रकारिणाम्]स्तोत्रगान करने-

वाले ऋत्विजों का [तत्संयोगात्] चमस के साथ सम्बन्ध होने से चमस सोम-भक्षण तीन ऋत्विजों का ही कर्त्तव्य है; [बहुत्वश्रुतेः] बहुवचन के श्रवण से भी यह अर्थ पुष्ट होता है।

मूल वाक्य में पद हैं—'प्रैतु उद्गातॄणां चमसः' यहाँ उद्गाता का चमस के साथ सीधा साक्षात् सम्बन्ध है। उद्गातृ पद गायति-क्रिया के निमित्त से साम-गान करनेवाले तीन ऋत्विजों—उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता का बोधक है। इन तीनों का ही सोमभक्षण कर्त्तव्य है। इसमें बहुवचन का प्रयोग भी उपपन्न हो जाता है। अन्य ऋत्विज् सुब्रह्मण्य सामगान नहीं करता। वह केवल 'सुब्रह्मण्योमिन्द्रागच्छ' आदि निगद का उच्चारणमात्र करता है। निगद गद्यरूप होने से यजूरूप माने जाते हैं; उनपर गान सम्भव नहीं। इसलिए सुब्रह्मण्य ऋत्विक् का न तो उद्गातृ पद से ग्रहण सम्भव है, और न बहुवचन उसके संग्रह में कोई सहयोग देता है, क्योंकि बहुवचन तीन ऋत्विजों के ग्रहण में चरितार्थ हो जाता है। जैसे उद्गातृ पद का गायति-क्रिया के कारण तीनों ऋत्विजों के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, सुब्रह्मण्य के साथ बहुवचन का ऐसा साक्षात् सम्बन्ध भी नहीं है। अनुमानमात्र से ग्रहण करना व्यर्थ है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान से बलवान् होता है। फलतः उद्गातृ-चमस के सोम का भक्षण तीन ऋत्विजों का कर्त्तव्य है। सोमभक्षणकर्त्ताओं में सुब्रह्मण्य का प्रवेश नहीं ॥२५॥

आचार्य सूत्रकार ने इस पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—

सर्वे तु वेदसंयोगात् कारणादेकदेशे स्यात् ॥२६॥

[तु]सूत्र में 'तु' पद गत सूत्रोक्त पक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—सुब्रह्मण्य को छोड़कर तीन उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता, ऋत्विज् सोमभक्षण करें, यह पक्ष युक्त नहीं है। [सर्वे] सुब्रह्मण्य-सहित सभी सामवेदी ऋत्विज् सोमभक्षण करें, [वेदसंयोगात्] सामवेद में कहे कर्म के साथ सभी का सम्बन्ध होने से। [एकदेशे] एकदेश = सुब्रह्मण्य को छोड़कर शेष तीन ऋत्विजों के विषय—में उद्गातृ पद का व्यवहार [कारणात्] कारणविशेष से [स्यात्] होता है। वह कारणविशेष है—'उद्गातारो निषद्य साम्ना स्तुवते' उद्गाता ऋत्विज् बैठकर सामगान द्वारा स्तुति करते हैं—बैठकर सामगान द्वारा स्तुति करना।

गत सूत्र में जो यह कहा गया कि गायति-क्रिया के कारण तीन ऋत्विज् उद्गाता पद से व्यवहृत होते हैं, सुब्रह्मण्य की गणना उनमें नहीं होती, क्योंकि वह गान में सम्मिलित नहीं होता। इसलिए उद्गातृ-चमस का सोमभक्षण उन्हीं तीन ऋत्विजों का कर्तव्य है। सुब्रह्मण्य उसमें नहीं आता।

यह सब कथन युक्त नहीं है, क्योंकि गायति-क्रिया के आधार पर उद्गातृ पद से तीनों ऋत्विजों का ग्रहण नहीं हो सकता। साधारण लौकिक-वैदिक गान अलग

है, उद्गान अलग है। वह साम का एक भाग उद्गीथ = उत् उपसर्गपूर्वक गायति क्रिया का वाच्य प्रसिद्ध है। उद्गीथ-पाठ एक ही ऋत्विज् करता है; तब गायति क्रियानिमित्तक उद्गाता एक ही ऋत्विज् कहा जायगा, सब नहीं।

उद्गातृ पद से सब ऋत्विजों के ग्रहण करने में कारण—वेदसंयोग—है, सामवेद के साथ सम्बन्ध होना। औद्गात्र सामवेद का नाम है, तथा सामवेद-प्रतिपादित कर्म का नाम औद्गात्र है। जो व्यक्ति उसका अध्ययन करता, उसको जानता एवं उसका अनुष्ठान करता है, वह उद्गाता नाम से व्यवहृत होता है, यह सब जानते हैं। यदि किसी समय वह अपने कर्म में व्यापृत न भी रहे, तब भी वह उसी नाम से व्यवहृत होता रहता है। जैसे लकड़ी का शिल्पी शिल्प-व्यापार में न लगा हुआ भी तक्षा कहा जाता है, ऐसे ही सामकर्म के अध्येता-ज्ञाता-अनुष्ठाता सभी ऋत्विज् उद्गाता नाम से व्यवहृत होते हैं। सुब्रह्मण्य-सहित सभी ऋत्विज् साम-कर्मानुष्ठान में भाग लेने के कारण उद्गाता माने जाते हैं, इसलिए उद्गातृ-चमस-स्थित शेष सोम के भक्षण में सबका समान अधिकार रहता है, यह निश्चित सिद्धान्त है ॥२६॥ (इति उद्गातृणां सह सुब्रह्मण्येन भक्षाऽधिकरणम्—८)।

(ग्रावस्तुतोऽपि सोमभक्षाऽधिकरणम्—९)

ज्योतिष्टोम याग में होता का सहयोगी एक ग्रावस्तुत् नाम का व्यक्ति रहता है। उसके विषय में सन्देह है—क्या वह सोम का भक्षण करे? अथवा न करे?

आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में प्रथम पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

ग्रावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात् ॥२७॥

[ग्रावस्तुतः] ग्रावस्तुत् नामक व्यक्ति का [भक्षः] सोमभक्षण [न विद्यते] नहीं है, [अनाम्नानात्] ऐसा उल्लेख कहीं न होने से।

ग्रावस्तुत् सोमभक्षण करे, ऐसा उल्लेख कहीं नहीं है। हारियोजन ग्रह में चमसियों को ही सोमभक्षण का अधिकार है। ग्रावस्तुत् का वहाँ कोई निर्देश नहीं। तैत्तिरीय संहिता [१।४।२८] में प्रसंग है, 'हरिरसि हारियोजनः' मन्त्र पढ़ते हुए ग्रहसंज्ञक पात्र में सोम भरकर आहुति दी जाती है, इस कारण यह पात्र 'हारियोजन ग्रह' कहा जाता है। शतपथ ब्राह्मण [४।४।३।१०] में कहा है, अपने-अपने चमस को होता आदि भक्षण करते हैं, और हारियोजन ग्रहपात्र-स्थित शेष सोम के भक्षण की सभी लालसा रखते हैं। यहाँ चमसियों के ही सोमभक्षण का उल्लेख है। ग्रावस्तुत् व्यक्ति का न अपना चमस होता है और न 'सर्वे' पद से सबमें उसकी गणना की गई है। अतः ग्रावस्तुत् सोमभक्षण में अधिकारी नहीं है ॥२७॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

हारियोजने वा सर्वसंयोगात् ॥२८॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—हारियोजन ग्रहपात्र-स्थित शेष सोमभक्षण में ग्रावस्तुत् अनधिकारी है, यह कथन युक्त नहीं है; [हारियोजने] हारियोजन ग्रहपात्र-स्थित शेष सोमभक्षण में [सर्वसंयोगात्] सबका सम्बन्ध होने से ग्रावस्तुत् सोममक्षण का अधिकारी है।

शतपथ ब्राह्मण के उक्त सन्दर्भ में वाक्य है—'अर्थैषः (=हारियोजनः) सर्वेषामेव भक्षः' हारियोजन ग्रहपात्र-स्थित सोम सबका भक्षण है। यहाँ 'सर्व' पद के प्रयोग से चमसी और चमसहीन सब उन व्यक्तियों का ग्रहण हो जाता है, जो उस याग से सम्बद्ध हैं। ग्रावस्तुत् व्यक्ति होता का सहयोगी रहता है। भले ही वह चमसहीन हो, पर हारियोजन ग्रह के सोमभक्षण में अन्यों के समान उसका भी पूर्ण अधिकार है, यह वाक्य में 'सर्व' पद के प्रयोग से निश्चित होता है ॥२८॥

'सर्व' पद के प्रयोग को लक्ष्य कर शिष्य जिज्ञासा करता है, इस पद का प्रयोग प्रसंग में उन्हीं चमसियों के लिए माना जाना चाहिए, जिनके समीप में वह पठित है। ग्रावस्तुत् का ग्रहण—उसके चमसहीन होने से—नहीं किया जाना चाहिए।

आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

चमसिनां वा सन्निधानात् ॥२९॥

[वा] 'वा' पद—हारियोजन सोम के भक्षण में ग्रावस्तुत् अधिकारी है—इस कथन की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—हारियोजन सोम के भक्षण में ग्रावस्तुत् अधिकारी नहीं है, क्योंकि वहाँ 'सर्व' पद [चमसिनाम्] चमसियों के [सन्निधानात्] सन्निधान=समीप में पठित होने से उन्हीं का ग्रहण कर सकता है, अन्य का नहीं।

हारियोजन सोमभक्षण के विधायक वाक्य में जहाँ सबकी लालसा का उल्लेख किया है, उसके समीप प्रथम पाठ है—'यथा चमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति' अपने चमस के क्रमानुसार अन्य चमसों को चमसवाले भक्षण करते हैं। इन वाक्यों का—सन्निधान के कारण—परस्पर सम्बन्ध है। इस एकवाक्यता से स्पष्ट होता है, सन्दर्भ के अगले भाग में 'सर्व' पद का प्रयोग चमसवाले उन होता आदि के लिए किया गया है, जिनका सन्दर्भ के प्रथम भाग में निर्देश है। क्योंकि ग्रावस्तुत् चमसहीन व्यक्ति है, उसका ग्रहण 'सर्व' पद से नहीं किया जाना चाहिए। इसलिए हारियोजन सोम में चमसहीन ग्रावस्तुत् को भक्षण-अधिकार प्राप्त नहीं होता ॥२९॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सर्वेषां तु विधित्वात् तदर्था चमसिश्रुतिः ॥३०॥

[तु] 'तु' पद इस कथन की व्यावृत्ति का द्योतक है कि हारियोजन सोमभक्षण में केवल चमसी लालसा रखते हैं। [सर्वेषाम्] सबके सम्बन्ध का [विधित्वात्] विधायक वाक्य होने से, [चमसिश्रुतिः] सन्दर्भ के प्रथम भाग में चमसियों का श्रवण [तदर्था] हारियोजन सोम के स्तुतिरूप प्रयोजन के लिए है।

शतपथ ब्राह्मण [४।४।३।१०] गत सन्दर्भ का प्रथम भाग अनुवादमात्र है, जिसमें होता आदि द्वारा अपने-अपने चमस-सोमभक्षण का निर्देश है—'यथाचमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति'। सन्दर्भ का अगला भाग—'हारियोजनस्य सर्व लिप्सन्ते' सबके लिए हारियोजन सोमभक्षण का विधान करता है। चमसी अपने चमसों से सोमभक्षण करते ही हैं, उनके विधायक वाक्य अन्य हैं। यहाँ उनका कथन हारियोजन सोमभक्षण की स्तुति के लिए है। अपने-अपने चमस का सोमभक्षण उसी एक का कल्याण करता है, जो उसे खाता है; पर हारियोजन सोमभक्षण की सभी लालसा रखते हैं, वह सबका कल्याण करने से महाकल्याणकारी है, यह उसकी स्तुति है। इस वाक्यांश के 'सर्व' पद को केवल चमसियों के लिए एकदेश में सीमित करना निष्प्रयोजन होगा, क्योंकि वे तो अपने चमसगत सोम का भक्षण करते ही हैं। इस प्रकार एक ही वाक्य में दो अपूर्व विधियों के अशास्त्रीय कथन से भी बचा जा सकेगा। उक्त ब्राह्मण-सन्दर्भ इस अर्थ को स्पष्ट कर देता है। पाठ है—'यथाचमसं वा अन्ये भक्षा अर्थेषः (=हारियोजनः) अतिरिक्तः, तस्मादेतस्मिन्त्सर्वेषामेव भक्षः' अन्य चमस-सोमभक्षण चमसों के अनुसार होते हैं। पर यह हारियोजन सोम उनसे अतिरिक्त है। इसलिए इसमें सबका ही भक्षण-अधिकार है, चाहे वह चमसी हो, अथवा चमसहीन। फलतः हारियोजन-सोमभक्षण में ग्रावस्तुत् का अधिकार अक्षुण्ण है ॥३०॥ (इति ग्रावस्तुतोऽपि सोमभक्षाऽधिकरणम्—९)।

(वषट्कारस्य भक्षनिमित्तताऽधिकरणम्—१०)

केवल समाख्या (=नामनिर्देश) ही सोमभक्षण का निमित्त नहीं, अन्य भी निमित्त हैं। सूत्रकार वषट्कार को निमित्त बताता है—

वषट्काराच्च भक्षयेत् ॥३१॥

[वषट्कारात्] वषट्कार से [च] भी [भक्षयेत्] भक्षण करे। तात्पर्य है—जो 'वषट्' पद का उच्चारण करते हुए आहुति देता है, वह भी सोमभक्षण करता है।

होता ऋत्विक् 'वषट्' पद के उच्चारण के साथ होमाग्नि में आहुति प्रदान

करता है। उस विषय में वाक्य है—'वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्षः'[1] वषट् उच्चारण कर आहुति देनेवाले का प्रथम सोमभक्षण होता है। यहाँ वषट्कार सोमभक्षण का निमित्त है।

यद्यपि 'होतुश्चमसः' वाक्य के अनुसार होता का सोमभक्षण प्राप्त है, तब प्रस्तुत कथन में भक्षण को अनुवाद मानकर केवल प्राथम्य का विधान इस वाक्य से मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में यह अपूर्वविधि न होकर अनुवाद होने से सोम-भक्षण का विधायक नहीं माना जाना चाहिए। परन्तु यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि इससे वाक्यभेद-दोष उपस्थित होता है। एक ही वाक्य में एक अंश अनुवाद और अन्य अंश विधायक हो, यह अशास्त्रीय है। इसलिए 'वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्षः' वाक्य प्राथम्य विशिष्ट सोमभक्षण का विधायक होने से अपूर्वविधि है। इस प्रकार वषट्कार को सोमभक्षण में स्वतन्त्र निमित्त मानना युक्त है ॥३१॥ (इति वषट्-करणस्य भक्षनिमित्तताऽधिकरणम्—१०)।

(होमाभिषवयोरपि भक्षनिमित्तताऽधिकरणम्—११)

सोमभक्षण में—सोम के होम और सोम के अभिषव को भी सूत्रकार ने—निमित्त बताया—

होमाभिषवाभ्यां[2] च ॥३२॥

'भक्षयेत्' क्रियापद की यहाँ गतसूत्र से अनुवृत्ति है। [होमाभिषवाभ्याम्] होम और अभिषव करने से [च] भी [भक्षयेत्] भक्षण करे।

होम और अभिषव भी सोमभक्षण में निमित्त हैं। वाक्य है—'हविर्धाने ग्राव-भिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति'[3] हविर्धान[4]

१. तुलना करें—'पात्रे समवेतानां वषट्कर्त्ता पूर्वो भक्षयति' आप० श्रौ० १२।२४।६॥

२. अभिषव कर्म होम से प्रथम होता है। तब सूत्र में 'अभिषव' का पाठ प्रथम होना चाहिए था, पर पाणिनि-नियम [२।२।३४] के अनुसार द्वन्द्व समास में 'होम' पहले पढ़ा जाता है। यद्यपि सूत्ररचना के समय 'पाणिनि व्याकरण' नहीं था, तथापि पदनियोजन में लोकव्यवहार व पूर्ववर्त्ती व्याकरणों की निश्चित यह व्यवस्था रही होगी। उसी का अनुकरण पाणिनि ने अपने व्याकरण में किया। आज उसी के आधार पर पदनियोजन-निर्देश संभव है।

३. तै० सं० [६।२।११] के पाठ से तुलना करें—'हविर्धाने चर्मन्नधि ग्रावभि-रभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षयन्ति'।

४. यज्ञमण्डप में 'हविर्धान' वह स्थानविशेष है, जहाँ होम के लिए 'हवि' तैयार किया जाता है। तैत्तिरीय संहिता के उक्त प्रसंग [६।२।११] में इसका बहुत आकर्षक वर्णन है।

नामक स्थान में पत्थरों से सोम को कूट-पीस-छानकर, तैयार कर, आहवनीय अग्नि में होम करके, वापस लौटकर सदोमण्डप में शेष सोम का भक्षण करते हैं। इस वाक्य में अभिषव-होम व भक्षण-क्रियाओं के क्रम का विधान अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि क्रियाओं की स्थिति के कारण क्रम स्वतःसिद्ध है। सोम तैयार हुए बिना होम नहीं हो सकता। सोम की आहुति देने के लिए सोम को प्रथम तैयार करना होगा। होम सम्पन्न हुए बिना सोम का भक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि सोम का शेष रहना तभी सम्भव है, जब सोम की अपेक्षित आहुति देकर होम सम्पन्न कर लिया जाय। ऐसी स्थिति में स्वतःप्राप्त क्रम का विधान करना अनावश्यक है।

क्रम का विधान मानने पर वाक्यभेद-दोष भी प्रसक्त होता है। क्रम का विधान कहने से दो क्रियाओं का कथन प्राप्त होता है—'अभिषुत्य' अभिषव करके भक्षण करते हैं; तथा 'हुत्वा' होम करके भक्षण करते हैं; एक वाक्य में वाक्यभेद की प्राप्ति शास्त्र में दोष माना गया है। इसलिए भी उक्त वाक्य में क्रम का विधान मानना संगत नहीं है।

यह कहना भी युक्त न होगा कि अभिषव और होम भक्षण के अङ्ग हैं, अर्थात् भक्षण के लिए अभिषव और होम किया जाता है। भक्षण मुख्य अङ्ग है, और ये उसके अङ्ग हैं। इस कथन की अयुक्तता का कारण यह है कि अभिषव=सोम का तैयार करना मुख्यतः होम के लिए किया जाता है, और होम स्वर्गादपि फलप्राप्ति के लिए किया जाता है। इसलिए इनको भक्षण का अङ्ग नहीं माना जा सकता। अतः भक्षण अप्राप्त है। प्रस्तुत वाक्य उसी का विधान करता है; यह अपूर्वविधि है।

द्वादशाह सत्र में दीक्षा-वाक्य है—'अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति, तत उद्गातारम्' [आप०श्रौ० २१।१।१६।२०] अध्वर्यु गृहपति को दीक्षित कर ब्रह्मा को दीक्षित करता है, तदन्तर उद्गाता को। इस वाक्य में आचार्यों ने क्रम का विधान माना है। इसी के समान 'हविर्धाने' आदि वाक्य में भी क्रम का विधान मानना चाहिए। यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग में क्रम प्रयोजनवश स्वतःसिद्ध है; उसका विधान अनावश्यक व व्यर्थ है। क्योंकि अभिषव के बिना होम सम्भव नहीं, होम से पूर्व अभिषव करना ही होगा। ऐसे ही होम के बिना शेष सोमभक्षण सम्भव नहीं, भक्षण से पूर्व होम करना ही होगा। इसमें व्यतिक्रम असम्भव है। न सोम के पश्चात् अभिषव सम्भव है, न भक्षण के पश्चात् होम। ऐसी स्थिति द्वादशाह सत्र के दीक्षा-प्रसंग में नहीं है, वहाँ व्यतिक्रम सम्भव है; इसलिए वहाँ क्रम का विधान आवश्यक है।

प्रस्तुत वाक्य के 'प्रत्यञ्चः परेत्य' पदों के आधार पर वाक्य का विनियोग 'पीछे की ओर घूमकर' आने में मानना चाहिए, अर्थात् यह वाक्य 'पीछे की ओर घूमकर आने का' विधान करता है। यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि आहवनीय में सोमाहुति देकर भक्षण-निमित्त सदोमण्डप में जाने के लिए 'पीछे की ओर

लौटना' अनिवार्य है। अतः वह स्वतःसिद्ध है, उसका विधान करना अनावश्यक है।

फलतः उक्त वाक्य शेष सोमभक्षण का विधान करता है, यही मान्यता निर्दोष है। जो होता आदि अभिषव करते हैं, एवं होम करते हैं, वे शेष सोम का भक्षण करते हैं। इस प्रकार अभिषव और होम भक्षण में निमित्त हैं ॥३२॥ (इति होमाभिषवयोरपि भक्षनिमित्तताऽधिकरणम्—११)।

(वषट्कर्त्रादीनां चमसे सोमभक्षाधिकरणम्—१२)

ज्योतिष्टोम प्रसंग में वाक्य है—'प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातुर्णां प्र यजमानस्य' [श० ब्रा० ४।२।१।२९॥ कात्या० श्रौ० १०।१।१०] इत्यादि[1]। प्रस्तुत वाक्य में बताया गया है, होता आदि चमसोंवाले सोमभक्षण अपने चमसों में करें। यहाँ सन्देह है—क्या वषट्कार, अभिषव व होम करनेवाले चमसों में भक्षण करें? अथवा न करें? शिष्य जिज्ञासा करता है—'प्रैतु होतुश्चमसः' इत्यादि वाक्य में होता आदि के चमसों में सोमभक्षण का प्रत्यक्ष निर्देश है, पर प्रस्तुत वाक्य में ऐसा नहीं है, इसलिए यह क्यों न माना जाय कि वषट्कार, अभिषव व होम करनेवाले चमस में सोमभक्षण न करें?

आचार्य ने शिष्यजिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे ॥३३॥

[चमसानाम्] चमसों के 'प्रैतु होतुश्चमसः' इत्यादि वाक्य में [प्रत्यक्षोपदेशात्] प्रत्यक्ष=स्पष्ट उपदेश=कथन होने से जिनके चमस हैं, उन्हीं को चमसों में सोमभक्षण प्राप्त होता है, [अव्यक्तः] जहाँ व्यक्त=स्पष्ट चमसनिर्देश नहीं है, वहाँ [शेषे] चमसियों से अन्यत्र=भिन्न पात्र में सोमभक्षण होना चाहिए।

'वषट्कर्त्तुः प्रथममक्षः' तथा 'हविर्धाने ग्रावभिरभिषुत्य' आदि वाक्यों में चमस का स्पष्ट कथन नहीं है, अतः वषट्कार, अभिषव व होम करनेवालों का सोमभक्षण चमसों में न होकर अन्य पात्र में होना चाहिए।

यहाँ वषट्कर्त्ता आदि के सोमभक्षण में कोई सन्देह नहीं है। वह गत अधिकरण में निश्चित कर दिया गया है। 'हविर्धाने···सदसि भक्षान् भक्षयन्ति' वाक्य सोमभक्षण का स्पष्ट निर्देश है। सन्देह पात्र के विषय में है। वषट्कर्त्ता आदि को चमस में सोमभक्षण कराया जाय? अथवा अन्य पात्र में? क्योंकि 'वषट्कर्त्तुः' एवं 'हविर्धाने' आदि वाक्यों में सोमभक्षण का स्पष्ट कथन होने पर भी चमस का स्पष्ट निर्देश नहीं है, इसलिए वषट्कर्त्ता आदि को चमस में सोमभक्षण न कराकर

---

१. द्रष्टव्य—(३।५।२२) सूत्र का भाष्य।

अन्य पात्र में कराना चाहिए, पूर्वपक्ष का यही आशय है ॥३३॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

स्याद्वा कारणभावाद् अनिर्देशश्चमसानां

कर्त्तुस्तद्वचनत्वात् ॥३४॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। [स्यात्] वषट्कर्त्ता आदि का भी सोमभक्षण चमस में होना चाहिए, क्योंकि वहाँ [कारणभावात्] सोम-भक्षण के कारण विद्यमान होने से; [चमसानाम्] चमसों का [अनिर्देशः] स्पष्ट निर्देश न होना भले हो, पर [कर्त्तुः] वषट्कर्त्ता आदि के [तद्वचनत्वात्] सोम-भक्षण का स्पष्ट कथन होने से, उनका भी सोमभक्षण चमसों में होगा।

यह कहना किसी अंश में ठीक है कि 'प्रैतु होतुश्चमसः' वाक्य में चमस का स्पष्ट निर्देश है, वह—जिसका जो चमस है, उसके—चमस में सोमभक्षण का विधान करता है; परन्तु वषट्कर्त्ता आदि के चमस में सोमभक्षण का निषेध नहीं करता। जैसा सोमभक्षण का विधान 'प्रैतु' आदि वाक्य में है, वैसा ही 'वषट्कर्त्तुः, हविर्धाने' आदि वाक्यों में है। सोमभक्षण प्रत्येक दशा में चमसों में ही होगा, भले ही कहीं चमस का स्पष्ट निर्देश न हुआ हो ॥३४॥

सूत्रकार ने इसी की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

चमसे चान्यदर्शनात् ॥३५॥

[चमसे] चमस-प्रसंग में [अन्यदर्शनात्] अन्यों=जिनके चमस नहीं कहे उनके देखे जाने से [च] भी, वषट्कर्त्ता आदि का सोमभक्षण चमस में होता है।

'प्रैतु' वाक्य में जो चमस जिसके लिए निर्दिष्ट है, वही उसमें सोमभक्षण करे, अन्य न करे,—ऐसा नियम नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य वाक्य उन्हीं चमसों में अन्यों के सोमभक्षण का निर्देश करता है—'चमसांश्चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति, तान् स वषट्कर्त्रे हरति' चमसाध्वर्यु के लिए चमसों को देता है, चमसाध्वर्यु उनको वषट्कर्त्ता के लिए पहुँचाता है। यदि 'होतृचमस' नाम से एक ही द्वारा चमस में सोमभक्षण हो, तो वाक्य में 'तान्' बहुवचन का प्रयोग उपपन्न नहीं होता। इसकी उपपत्ति तभी सम्भव है, जब वषट्कर्त्ता आदि चमसों में भक्षण करें। इससे स्पष्ट होता है, जहाँ सोमभक्षण है, वह चमसों में ही है, अन्य पात्रों में नहीं।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'होतृचमस' नाम से चमस पर होता का स्वामित्व स्थापित नहीं हो जाता। चमस तथा अन्य सभी यज्ञिय पात्रों पर स्वामित्व यजमान का रहता है। जैसे होता या उद्गाता चमस का यज्ञकाल में उपयोग करने के लिए अधिकृत हैं, वैसे ही वषट्कर्त्ता आदि भी पूर्णरूप से अधि-

कृत हैं, भले ही कतिपय वाक्यों में उनके सोममक्षण-निर्देश के साथ चमस का उल्लेख न हुआ हो।

जिज्ञासा होती है—चमस में ही सोमभक्षण किया जाय, इसके लिए इतना आग्रह या दृढ़ नियम क्यों है ? ज्ञात होता है, चमस का निर्धारित माप = परिमाण होने के कारण यह व्यवस्था की गई, जिससे यागशेष सोम सब अधिकृत याज्ञिकों को पूर्णतया समानरूप में वितरित किया जा सके। अन्य यज्ञिय पात्रों के परिमाण न्यूनाधिक हो सकते हैं। उनमें सोमभक्षण होने पर किसी को अधिक सोम मिले, किसी को न्यून, यह उचित व न्याय्य प्रतीत नहीं होता। इसीलिए नियत परिमाण के पात्र चमस में सोमभक्षण की व्यवस्था की गई ॥३५॥ (इति वषट्कर्त्रादीनां चमसे सोमभक्षाधिकरणम्—१२)।

(होतुः प्रथमभक्षाधिकरणम्—१३)

शिष्य जिज्ञासा करता है–जब एक चमस पात्र में अनेक ऋत्विक् सोमभक्षण करते हैं, तब वहाँ क्रम क्या होना चाहिए ? सूत्रकार ने इस विषय में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् ॥३६॥

[एकपात्रे] एक पात्र में सोमभक्षण के अवसर पर [अध्वर्युः] अध्वर्यु [पूर्वः] प्रथम [भक्षयेत्] भक्षण करे, [क्रमात्] क्रम से; होम के समय सोमपात्र क्योंकि अध्वर्यु के हाथ में होता है, इसलिए सर्वप्रथम सोमभक्षण उसी को करना चाहिए, क्योंकि क्रम वहीं से प्रारम्भ होगा, जिसके सान्निध्य में सोम है। याग के समय 'प्रतिप्रस्थाता' नामक ऋत्विक् सोमपात्र को भरकर अध्वर्यु के हाथ में देता है। अध्वर्यु का कार्य है—आहवनीय अग्नि में सोम की अपेक्षित आहुतियाँ देना। याग के अनन्तर शेष सोम का भक्षण सब ऋत्विक् करते हैं। एक पात्र में भक्षण होने से सबको बारी-बारी से भक्षण करना होगा। ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम भक्षण का वही ऋत्विक् अधिकारी है, जिसके समीप सोम अवस्थित है। अतः अध्वर्यु का क्रम सबसे पहले है ॥३६॥

सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

होता वा मन्त्रवर्णात् ॥३७॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—'अध्वर्यु प्रथम सोमभक्षण करे' यह कथन युक्त नहीं। [होता] तब होता को सर्वप्रथम भक्षण करना चाहिए, [मन्त्रवर्णात्] मन्त्र में ऐसा कथन होने से।

ऋग्वेद [१०।९४।२] में मन्त्र है–'होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत' हे ग्रावाओ!

कदाचित् तुम होता से पहले ही भक्षणयोग्य हवि=सोम का रसास्वादन करते हो। यह आलङ्कारिक वर्णन है। सोमलता को पत्थरों से कूट-पीसकर सोम तैयार किया जाता है। पत्थरों में वह अनिवार्य रूप से लग जाता है, उसी को उत्प्रेक्षालङ्कार से भक्षण के रूप में कहा गया है। कहने की पद्धति है—सम्भवतः तुम होता से पहले ही सोमभक्षण करते हो। इसका तात्पर्य है—यज्ञशेष सोम का भक्षण करनेवाला सबसे पहला अधिकारी होता नामक ऋत्विक् है। ऋग्वेद [५।४३।३] में अन्य मन्त्र है—'होतेव नः प्रथमः पाहि' हे वायो ! उस मधुर रसपूर्ण सोम का हमारे लिये तुम देवताओं में सबसे पहले ऐसे ही पान करो, जैसे ऋत्विजों में होता यज्ञशेष सोम का सबसे पहले पान करता है। सोम तैयार होने पर तत्काल उसके साथ वायु-संस्पर्श अनिवार्य है। उसीको 'वायु द्वारा भक्षण' के रूप में वर्णन किया है। वह प्राणिजीवन के लिए अनुकूल स्थिति में सहयोग प्रदान करता है। उसके अनन्तर अध्वर्यु द्वारा सोम की आहुति आहवनीय अग्नि में दी जाती है। इससे प्राणियों के लिए अनुकूल जीवनीय तत्त्व और भी सूक्ष्म होकर वायु में मिल जाते हैं। यहाँ देवताओं में अग्नि से पहले वायु का सोमभक्षण है। उसी के लिए मन्त्र में 'होतेव' दृष्टान्त दिया गया है। जैसे ऋत्विजों में होता यज्ञशेष सोम का सर्वप्रथम भक्षण करता है, ऐसे ही देवताओं में वायु। मन्त्र में पद है 'नः'—हमारे लिए, यह सब हमारे अर्थात् प्राणियों के अभ्युदय के लिए होता है।

मन्त्रों के उक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है—यज्ञशेष सोम के भक्षण का सर्वप्रथम अधिकारी होता ऋत्विक् है। अतः पूर्वपक्ष का यह कथन युक्त नहीं कि सान्निध्य से अध्वर्यु को सोमभक्षण प्रथम करना चाहिए ॥३७॥

इसी की पुष्टि के लिए सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

वचनाच्च ॥३८॥

[वचनात्] वचन से [च] भी वषट्कर्त्ता का प्रथम भक्षण जाना जाता है।

वचन है—'वषट्कर्त्तुः प्रथम भक्षः' वषट्कर्त्ता=वौषट् उच्चारण करनेवाले को सोमभक्षण प्रथम है। वौषट् का उच्चारण होता करता है, उसके अनन्तर अध्वर्यु सोम की आहुति आहवनीय अग्नि में छोड़ता है। इस प्रत्यक्ष कथन से वषट्कर्त्ता होता ऋत्विक् का सर्वप्रथम सोमभक्षण होना स्पष्ट है। इसी अर्थ का उपपादक वाक्य आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१२।२४।६] में है—'पात्रे समवेतानां वषट्कर्त्ता पूर्वो भक्षयति' जहाँ एक पात्र में अनेक ऋत्विक् सोमभक्षण करनेवाले हों, वहाँ वषट्कर्त्ता होता ऋत्विक् सर्वप्रथम सोमभक्षण करता है।

इस विषय में यह कहना युक्त न होगा कि उक्त वाक्य केवल भक्षण का विधान करते हैं; यहाँ प्राथम्य अविवक्षित है। कारण यह है कि प्राथम्य अन्य किसी वाक्य से प्राप्त नहीं है, इसलिए उसे अनुवाद कहकर अविवक्षित नहीं माना जा

सकता। वह अपूर्वविधि है, उसकी उपेक्षा शक्य नहीं; अन्यथा 'प्रथम' पद का निर्देश व्यर्थ मानना होगा। एकसाथ अनेक गुणों का विधान करनेवाला वाक्य अशास्त्रीय नहीं है। अतः उक्तवाक्य भक्षण के साथ प्राथम्य के विधायक हैं ॥३८॥

सूत्रकार उक्त अर्थ की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

कारणानुपूर्व्याच्च ॥३९॥

[कारणानुपूर्व्यात्] कारण की आनुपूर्वी से [च] भी होता का प्रथम सोमभक्षण सिद्ध है।

सोमभक्षण के निमित्त हैं–वषट्कार और होम। पहला निमित्त वषट्कार है, अनन्तर होम। वषट्कार होता करता है, होम अध्वर्यु। होता प्रथम 'वौषट्' उच्चारण करता है, अनन्तर अध्वर्यु आहुति देता है। अनुष्ठान का यह नैमित्तिक क्रम होता के कार्य को प्रथम और अध्वर्यु के कार्य को उसके पश्चात् रखता है। कर्मानुष्ठान की इस आनुपूर्वी से भी होता का सोमभक्षण सर्वप्रथम होना निश्चित है। फलतः एक पात्र में अनेक ऋत्विजों के सोमभक्षण के अवसर पर उस पात्र में सर्वप्रथम सोमभक्षण होता करता है ॥३९॥ (इति होतुः प्रथमभक्षाधिकरणम्—१३)।

(भक्षस्यानुज्ञापूर्वकत्वाधिकरणम्—१४)

शिष्य जिज्ञासा करता है—एक पात्र में अनेकों द्वारा जो सोमभक्षण किया जाता है, वहाँ सन्देह है—क्या अनुज्ञापन करके या बिना अनुज्ञापन के ही सोमभक्षण करना चाहिए? अथवा आवश्यक रूप से अनुज्ञापनपूर्वक सोमभक्षण करना चाहिए? पहले पक्ष में अनुज्ञापन का अनियम है, करे या न करे। दूसरे पक्ष में अनुज्ञापन आवश्यक है।

'अनुज्ञा' पद का अर्थ है—अनुमति, सहमति, स्वीकृति। अनुज्ञापन है—अनुमति एवं स्वीकृति लेना। एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति को किसी विशिष्ट कार्य के हेतु आमन्त्रित करता है, और उसमें अन्य व्यक्ति की अनुमति या स्वीकृति जानना चाहता है। यह सब भाव अनुज्ञापन में आ जाता है। पहले विकल्प में कहे-सुने बिना या कभी कह-सुनकर भी अनियम से सोमभक्षण में लाघव प्रतीत होता है। नियम मानने पर व्यवस्था करनी पड़ती है। इसलिए पहला पक्ष मानना युक्त होगा; ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

वचनादनुज्ञातभक्षणम् ॥४०॥

[वचनात्] शास्त्रीय वचन से ज्ञात होता है, [अनुज्ञातभक्षणम्] अनुज्ञापनपूर्वक ही सोमभक्षण करना चाहिए।

काठक संहिता [११।१] में वचन है—'इन्द्रो वै त्वष्टुः सोममनुपहूतोऽपिबत् स विश्वक् सोमपीथेन व्यार्ध्यत, तस्मात् सोमो नानुपहूतेन पातवै' इन्द्र ने एक बार त्वष्टा के सोम को बिना बुलाए पिया; उस सोमपान से वह पूर्णरूप में तिरस्कृत हुआ, अतः सोमपान के लिए बिना बुलाये उपस्थित नहीं होना चाहिए।

वचन में 'अनुपहूतः' पद है। उपहूत बुलाया हुआ, अनुपहूत न बुलाया हुआ। उपह्वान व अनुज्ञापन पद एक ही अर्थ को कहते हैं। यह एक साधारण व्यवहार की बात है, खाने-पीने आदि के अवसर पर बिना बुलाये उपस्थित होना प्रायः तिरस्कार का कारण हो जाता है। यजमान ऋत्विजों को सोमभक्षण के लिए आमन्त्रित करता है, तब ऋत्विज् स्वीकृति देकर उपयुक्त अथवा पूर्वनिर्धारित स्थान में उपस्थित हो जाते हैं। इसी आशय को सूत्र प्रकट करता है ॥४०॥ (इति भक्षस्यानुज्ञापूर्वकत्वाधिकरणम्—१४)।

(वैदिकवचनेनानुज्ञापनाधिकरणम्—१५)

अनुमति प्राप्त होने पर सोमभक्षण के लिए उपस्थित होना चाहिए, ऐसा निश्चय हो जाने पर भी यह सन्देह रह जाता है कि अनुज्ञापन लौकिक वाक्य से किया जाय ? अथवा वैदिक वाक्य से ? इसके लिए कोई नियत व्यवस्था न होने के कारण साधारणतया लौकिक वाक्य से अनुज्ञापन करे, ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने व्यवस्था की—

तदुपहूत उपह्वयस्वेत्यनेनानुज्ञापयेल्लिङ्गात् ॥४१॥

[तत्] उस सोमभक्ष के लिए['उपहूत उपह्वयस्व' इति]'उपहूत उपह्वयस्व' [अनेन] इस वैदिक वचन से[अनुज्ञापयेत्] अनुज्ञापन करे[लिङ्गात्] उक्त वचन में अनुज्ञापन का सामर्थ्य देखे जाने से।

'उपहूत उपह्वयस्व' यह वचन शतपथ ब्राह्मण [२।४।४।२५] में पठित है। 'यजुर्वेद [२।११]में 'उपहूत उपह्वयताम्' पद पठित हैं। 'उपह्वयताम्' के आधार पर शतपथ में 'उपह्वयस्व' की ऊहा की गई प्रतीत होती है। यजुर्वेद में सर्वत्र जहाँ 'उपहूतः' पद प्रयुक्त है, प्राशन व भक्षण का निर्देश है। इससे 'उपहूत, उपह्वयस्व' वचन में अनुज्ञापन का सामर्थ्य निहित है, यह ज्ञात होता है। इस वैदिक वचन से अनुज्ञापन का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर इस कार्य के लिए लौकिक वचन की निवृत्ति हो जाती है ॥४१॥ (इति वैदिकवचनेनानुज्ञापनाधिकरणम्—१५)।

(वैदिकवाक्येन प्रतिवचनाधिकरणम्—१६)

यह निश्चित हो गया कि 'उपहूत उपह्वयस्व' इस वैदिक वचन से अनुज्ञापन करे, पर यह सन्देह अभी बना है कि प्रतिवचन—प्रत्युत्तर में लौकिक वाक्य का

प्रयोग किया जाय ? अथवा वह भी वैदिक वचन द्वारा हो ? वैदिक वाक्य का विनियोग प्रश्न में किया गया है; प्रतिवचन में लौकिक वाक्य का प्रयोग क्यों न माना जाय ?

आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त स्थिर किया—

तत्रार्थात् प्रतिवचनम् ॥४२॥

[तत्र] उस अनुज्ञापन में [अर्थात्] अर्थ-सामर्थ्य से 'उपहूतः' यह पद [प्रतिवचनम्] प्रतिवचन होता है।

अनुज्ञापन के लिए बताये गये वैदिक वचन में दो पद हैं—एक—'उपहूतः' दूसरा 'उपह्वयस्व'। दूसरा क्रियापद है। यजमान इसका उच्चारण करता है, ऋत्विक् का उपह्वान करता है, उसे आमन्त्रित करता है, बुलाता है—आओ, सोमभक्षण करो। यह प्रथम कहे जाने से प्रश्नरूप है। आमन्त्रण को स्वीकार कर ऋत्विक् 'उपहूतः' उच्चारण करता हुआ सोमभक्षण के लिए सदःस्थान में उपस्थित हो जाता है। तात्पर्य है—मैं उपहूत हूँ, आमन्त्रित हूँ, सोमभक्षण के लिए मुझे बुलाया गया है, वह स्वीकार है। वह सदोमण्डप में पहुँच जाता है।

इस प्रसंग में यह कहना संगत न होगा कि प्रश्नरूप में कहा गया वचन पहले पढ़ना चाहिए, उत्तररूप में कहा गया अनन्तर; पर मूल ग्रन्थ [श० ब्रा०] में इनका विपर्यय क्यों है ? वस्तुतः कोई भी पद अपने अर्थ-सामर्थ्य से उपयुक्त अवसर पर प्रयुक्त किया जाता है; उनकी आनुपूर्वी अर्थबोधन में बाधक नहीं होती। शास्त्र का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है—'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः—अर्थ-सामर्थ्य से पद का प्रयोग वहीं होगा, जिसके साथ उसका सम्बन्ध है, भले ही वह पाठ में पहले-पीछे कहीं पढ़ा गया हो। फलतः 'उपहूत उपह्वयस्व' इस वैदिक वचन के दूसरे पद का उच्चारण यजमान प्रथम करता है। उसके प्रतिवचन में अधिकृत ऋत्विक् 'उपहूतः' उच्चारण करता है। इस प्रकार प्रश्न-प्रतिवचन दोनों वैदिक वचन द्वारा किये जाते हैं। यज्ञ-प्रसंग में लौकिक वाक्य प्रयुक्त नहीं होने चाहिएँ, यही इसका तात्पर्य है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१२।२४।१५ व ४४] में उक्त आधार स्पष्ट लिखा है—'उपहूत इति प्रतिवचनः' ॥४२॥ (इति वैदिकवाक्येन प्रतिवचनाधिकरणम्—१६)।

(एकपात्राणामनुज्ञापनाधिकरणम्—१७)

वैदिक वचन से अनुज्ञापन किये जाने का निश्चय होने पर भी यह सन्देह है कि क्या जहाँ अनेक व्यक्ति एक पात्र में सोमभक्षण करते हैं, वहीं अनुज्ञापन होना चाहिए ? अथवा सर्वत्र सोमभक्षण के अवसर पर ? इस विषय में कोई विशेष कथन न होने से सर्वत्र सोमभक्षण के अवसर पर अनुज्ञापन किया जाना प्राप्त

होता है।

आचार्य सूत्रकार ने इसे व्यवस्थित किया—

तदेकपात्राणां समवायात् ॥४३॥

[तत्] वह अनुज्ञापन [एकपात्राणाम्] एक पात्र में सोमभक्षण करनेवाले व्यक्तियों का करना चाहिए, [समवायात्] अनेक व्यक्तियों का सोमभक्षण एक पात्र में इकट्ठा होने से।

जहाँ एक पात्र में अनेक व्यक्तियों ने सोमभक्षण करना हो, वहीं अनुज्ञापन (=अनुमति) आवश्यक है। अनुज्ञापन का स्वरूप है—जहाँ कोई कार्य एक व्यक्ति करता है, वहीं अन्य व्यक्ति कार्य करना चाहे, तो दूसरे की भावना को अनुकूल बनाने के लिए अनुज्ञापन अपेक्षित है। जहाँ एक पात्र में अनेक व्यक्तियों ने सोमभक्षण करना है, वहाँ एक-दूसरे की अनुमति से कार्य करने में संघर्ष की आशंका या सम्भावना टल जाती है। अपने-अपने भिन्न पात्रों में सोमभक्षण के अवसर पर ऐसी स्थिति आने की सम्भावना ही नहीं रहती, क्योंकि वहाँ एक के द्वारा प्रयोग किये गये पात्र में अन्य कोई भक्षण नहीं करता।

संघर्ष के दो आधार हो सकते हैं—एक, क्रम या आनुपूर्वी, अर्थात् पात्र का पहले प्रयोग कौन करे? दूसरा, भक्ष्य पदार्थ की न्यूनाधिकता का होना। संघर्ष के पहले आधार को टालने के लिए व्यवस्था की गई है—सर्वप्रथम सोमभक्षण होता ऋत्विक् करेगा, अनन्तर निर्धारित क्रम से अन्य ऋत्विक्। एक पात्र में भरा सोम समान भागों में बाँटा नहीं जाता। यथाक्रम उसी पात्र से चुल्लू में अन्दाज़ा के साथ सोम भक्षणार्थ दिया जाता है। उसमें स्वभावतः कुछ-न-कुछ न्यूनाधिकता सम्भव है। ऐसी स्थिति में परस्पर किसी के चित्त को ठेस न लगे, अनुज्ञापन आवश्यक होता है। कदाचित् भूल से न्यून या अधिक सोमभक्षण किसी के द्वारा हो जाय, तो उसमें कोई भी अन्य सदस्य अपने चित्त की प्रसन्नता नष्ट न होने दे; इसी भावना से अनुज्ञापन एक पात्र में अनेकों के द्वारा सोमभक्षण में सम्भव है, सर्वत्र सोमभक्षण में नहीं ॥४३॥ (इति एकपात्राणामनुज्ञापनाधिकरणम्—१७)।

(स्वयं यष्टुर्यजमानस्य भक्षास्वित्याधिकरणम्—१८)

ज्योतिष्टोम प्रकरण में ऋतुयाग[1] पठित हैं। वहाँ वाक्य है—'यजमानस्य याज्या, सोऽभिप्रेष्यति, होतरेतद् यज' इति। यजमान की याज्या है, प्रशास्ता द्वारा प्रेरित यजमान होता को प्रैष देता है—हे होतः! यह पढ़कर यजन करो।

---

१. इस विषय में द्रष्टव्य हैं—कात्या० श्रौ० ९।१३।१-१९॥ तथा आप० श्रौ० १२।२६।११ एवं १२।२७।१३॥

प्रधान याग के प्रारम्भ में जिन ऋचाओं से आहुतियाँ दी जाती हैं, उनका नाम 'याज्या' है। वे सब ऋचाएँ होत्रकाण्ड में पठित हैं, इसलिए होता ऋत्विक् उनका पाठ करता है, पाठ के अनन्तर 'वषट्' शब्द का उच्चारण करने पर अध्वर्यु आहवनीय अग्नि में सोम की आहुति देता है। प्रशास्ता से प्रेरित यजमान इसी यजन के लिए होता से कहता है—'एतद् यज' इति।

अन्यत्र पाठ है—'स्वयं वा निषद्य यजति' अथवा यजमान होता को यजन के लिए न कहकर स्वयं बैठकर यजन करता है। तात्पर्य है—यजमान स्वयं याज्या ऋचा का पाठ कर वषट् शब्द के उच्चारणपूर्वक आहवनीय अग्नि में सोम की आहुति देता है। यहाँ सन्देह है—क्या इस प्रसंग में सोमभक्षण यजमान को करना चाहिए ? अथवा नहीं ?

वाक्य में 'पठति' पद है, इससे यजमान के लिए केवल याज्या के पाठ का विधान विदित होता है। होता से याज्या-पाठ का अपनय (दूर हटाना) किया गया; भक्षण का अधिकार तो होता का रहेगा ही।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

याज्यापनये नापनीतो भक्षः प्रवरवत् ॥४४॥

[याज्यापनये] होता का याज्या से अपनय=सम्बन्ध-विच्छेद होने पर [भक्षः] होता का सोमभक्षण [न-अपनीतः] दूर नहीं होता, अर्थात् सोमभक्षण होता का ही रहता है, [प्रवरवत्] याग के प्रारम्भ में होता के वरण के समान।

याग के प्रारम्भ में यजमान 'होता'-रूप में एक ऋत्विक् का वरण करता है। सम्पूर्ण अनुष्ठान में वह एक कर्म है। होता द्वारा याज्या-पाठ न किये जाने पर भी उसका होता-पन बना रहता है। इसी प्रकार याज्यापाठ एक कर्म है, सोमभक्षण अन्य कर्म है। याज्यापाठ के अपनय से भक्षण का अपनय नहीं होगा। अतः सोम-भक्षण होता का होना चाहिए।

आशंका होती है—'याज्याया अधि वषट् करोति' याज्या-पाठ के अनन्तर वषट्कार करता है,—इस वाक्य के अनुसार जो याज्या का पाठ करता है, वही वषट्कार करता है। यजमान ने याज्या-ऋचाओं का उच्चारण किया है, तब वही पाठ के अनन्तर वषट् का उच्चारण करेगा। इस विषय में शास्त्रीय व्यवस्था है कि जो वषट्कार करता है, वही सोमभक्षण करता है। इस व्यवस्था के अनुसार सोमभक्षण यजमान का होना चाहिए, होता ऋत्विक् का नहीं।

यह आशंका वस्तुतः निराधार है; क्योंकि वषट्कार याज्या का अवयव या अङ्गरूप नहीं है, जो याज्या के साथ अनिवार्य रूप से बँधकर रहे। याज्या अपनी जगह है, वषट्कार अपनी जगह है। 'याज्याया अधि वषट् करोति'—'याज्या के अनन्तर 'वषट्' करता है' वाक्य के साथ उक्त स्थिति का कोई विरोध नहीं है।

यजमान द्वारा याज्या-पाठ किये जाने के अनन्तर होता वषट्कार करेगा। वषट्-कर्त्ता ही सोमभक्षण का अधिकारी है, इस प्रकार होता का सोमभक्षण सिद्ध है। 'स्वयं वा निषद्य यजति' वाक्य यजमान द्वारा याज्या-पाठ किये जाने का विधान करता है। यह वचन होता से याज्या का अपनय भले ही करे, इससे वषट्कार का अपनय नहीं होता, वषट्कार होता करेगा ही। वाक्य से जो अर्थ अभिव्यक्त होता है, उतना ही ग्रहण करना चाहिए। 'स्वयं वा निषद्य यजति' वाक्य केवल याज्या-विषयक है। अतः यजमान द्वारा याज्या-पाठ में सोमभक्षण होता का होना चाहिए ॥४४॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

यष्टुर्वा कारणागमात् ॥४५॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—'होता का याज्या से अपनय होने पर भी सोमभक्षण से अपनय नहीं होगा' यह कथन युक्त नहीं है। अतः [यष्टुः] यजन करनेवाले यजमान का सोमभक्षण निश्चित है, [कारणागमात्] कारण = सोमभक्षण कारण के आगम = प्राप्त होने से; तात्पर्य है—जो यजन करता है, उसी का सोमभक्षण होता है।

'स्वयं वा निषद्य यजति' वाक्य में 'यजति' का अर्थ है—यजन करता है। देखना चाहिए, 'यजन' का स्वरूप क्या है? याज्या-ऋचाओं का पाठ करना, उसके अनन्तर 'वषट्कार'-उच्चारणपूर्वक आहवनीय अग्नि में सोम की आहुति देना, यह सब व्यापार 'यजति' क्रिया के पेटे में आता है। वषट्कार का उच्चारण सोमभक्षण का कारण है; जो उच्चारण करेगा, उसी का सोमभक्षण है। याज्या-ऋचाओं के पाठ के अनन्तर यजमान वषट्कार-उच्चारणपूर्वक अग्नि में आहुति प्रदान करता है, अतः सोमभक्षण यजमान का है।

गत सूत्र की व्याख्या में जो यह कहा गया कि यजमान द्वारा याज्या-पाठ के अनन्तर वषट्कार का उच्चारण होता करेगा, यह कथन अशास्त्रीय है। यजन के विषय में शास्त्र का निर्देश है—'अनवानता यष्टव्यम्'—बीच में श्वास लिये बिना यजन करना चाहिए। याज्या ऋचा के अन्त में वषट्कार-उच्चारणपूर्वक अग्नि में आहुति देना, यह सब एक श्वास में होना चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब स्वयं यजमान याज्या-पाठ के अन्त में 'वषट्' उच्चारण करता हुआ आहुति देता है। मध्य में होता द्वारा वषट्कार का उच्चारण मानने पर एक श्वास में यजन का होना असम्भव है। इसलिए 'स्वयं वा निषद्य यजति' द्वारा विहित यजन-कर्म के मध्य में श्वास न लेने का [अनवानता यष्टव्यम्] विधान है। यजमान द्वारा स्वयं बैठकर यजन करने का विधान केवल याज्यामात्र-उच्चारण में

पर्यवसित नहीं है। यह साङ्ग कर्म के पूर्ण अनुष्ठान का विधान है, अतः इसमें यजमान का सोमभक्षण निश्चित है ॥४५॥

गत सूत्र में जो यह कहा गया कि स्वयं यजमान द्वारा यजन करने पर भी जैसे ऋत्विक् रूप में होता का वरण अपनीत नहीं होता, वैसे ही होता का सोम-भक्षण भी अपनीत नहीं होगा। इस विषय में सूत्रकार ने बताया—

प्रवृत्तत्वात् प्रवरस्यानपायः ॥४६॥

[प्रवृत्तत्वात्] प्रारम्भ से होता का वरण होकर याग की सम्पन्नता तक होता-पन प्रवृत्त=चालू रहने के कारण [प्रवरस्य] वरण का [अनपायः] अपनय=दूर होना=उच्छेद नहीं होता।

यजमान द्वारा होता ऋत्विक् का वरण याग के प्रारम्भ में हो जाता है। होता की यह स्थिति याग सम्पन्न होने तक सम्पूर्ण यागकाल में बनी रहती है। यदि विधान के अनुसार यजमान स्वयं याज्या का यजन करता है, तो इससे वरण किये होता का होतृभाव समाप्त नहीं हो जाता। ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग है; प्रकृतियागों में जो विधि जहाँ कहा है, वहाँ उसी प्रकार उसका अनुष्ठान होना चाहिए। ऐसा न करने पर कर्म विगुण हो जाता है। विगुण कर्म अभीप्सित फल देने में असमर्थ रहता है। विकृतियागों में ऐसा होता है कि जहाँ जो कर्म अपेक्षित है, पर कथित नहीं है, उसका 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' वचन के अनुसार प्रकृतियाग में उस अवसर पर जैसा कहा है, वैसा अनुष्ठान कर लिया जाता है। पर ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग है; यहाँ जो विधान जहाँ है, वह सब अपूर्वविधि है। यदि यजमान के द्वारा स्वयं याज्या-होम से होता का वरण उच्छिन्न माना जाय, तो आगे होम के लिये उसका पुनः वरण करना होगा। यह नितान्त विधिहीन हो जायगा, क्योंकि इस अवसर पर वरण का विधान नहीं है। ऐसा करने से समस्त कर्म विगुण व निष्फल हो जायगा। अतः यजमान के याज्या-होम से होता का होतृभाव अपनीत नहीं होता। याज्या-ऋचा के उच्चारणपूर्वक यजमान वषट्कार करता है, और आहवनीय अग्नि में सोम की आहुति देता है। 'यत्र वषट्कारस्तत्र भक्षणमपि' इस व्यवस्था के अनुसार सोमभक्षण यजमान का ही होगा। फलतः इस अनुष्ठान में होता से सोमभक्षण का अपनय है, होतृ-वरण का नहीं,—यह सिद्धान्त निश्चित होता है ॥४६॥ (इति स्वयं यष्टुर्यजमानस्य भक्षास्विताधिकरणम्—१८)।

(फलचमसस्य इज्याविकारताधिकरणम्—१९)

ज्योतिष्टोम-प्रसंग में सन्दर्भ पठित है—"स यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेत्, स यदि सोमं विभक्षयिषेत्, न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य

तमसौ भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्"[1]—यदि ज्योतिष्टोम याग करनेवाला क्षत्रिय अथवा वैश्य है, और वह सोमभक्षण करना चाहता है, तो उसको वट वृक्ष की कोंपल-कलियों का रस दही में मिलाकर भक्षण करावें, सोमभक्षण न करायें। यहाँ सन्देह है—क्या यह फलचमस (बड़ की कलियों के दधिमिश्रित रस से भरा चमस) भक्ष का विकार है? अथवा याग का विकार? तात्पर्य है—क्या यह केवल भक्षण के लिए है? और आहुति सोम की ही दी जायगी? अथवा आहुति भी फलचमस की दी जायगी?

सन्दर्भ-पदों के आधार पर ज्ञात होता है कि फलचमस का सम्बन्ध भक्षण के साथ है, इसलिए यह भक्ष का विकार होना चाहिए। इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में सूत्रकार ने कहा—

फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥४७॥

[नैमित्तिकः] निमित्तविशेष से प्राप्त हुआ [फलचमसः] फल-रसोंवाला चमस [भक्षविकारः] सोमभक्षण का विकार है; अर्थात् केवल सोमभक्षण के स्थान पर इसका प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि [श्रुतिसंयोगात्] श्रुति-पदों से भक्षण के साथ इसका सम्बन्ध ज्ञात होता है।

श्रुति-सन्दर्भ में पद हैं—'तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्' क्षत्रिय या वैश्य यजमान के लिए उस फलचमस को सोमभक्षण के स्थान में भक्षणरूप प्रदान करे। 'भक्षं प्रयच्छेत्' पद हैं, 'यजेत्' अथवा 'इज्यां कुर्यात्' यजन करे, ऐसा उल्लेख नहीं है। इसलिए फलचमस को भक्ष का विकार मानना चाहिए। आहुति सोम की दी जानी चाहिए ॥४७॥

पूर्वपक्ष का निवारण करता हुआ आचार्य सूत्रकार सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत करता है—

इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४८॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—फलचमस भक्षविकार नहीं है, [इज्याविकारः] याग का विकार है, [संस्कारस्य] संस्कार के [तदर्थत्वात्] याग के लिए होने से।

वट वृक्ष की घुंडियों और कोंपल-पत्तों को पीस-छानकर निकाले गये रस में दही मिलाकर संस्कार किया गया याग-साधनद्रव्य याग के लिए है। आहुति के लिए जिस चमस में यह संस्कृत द्रव्य भरा जाता है, वह 'फलचमस' है। जैसे—

---

१. इसका उल्लेख सूत्र [३।५।२२] पर भी हुआ है। वाक्य तुलना करें, आप० श्रौ० [१२।२४।५], तथा सत्या० (हिरण्य०) श्रौ० [८।७।४३]

सन्दर्भ के उपसंहार में फलचमस का 'भक्षति' के साथ सम्बन्ध है, ऐसे ही सन्दर्भ के उपक्रम में उसका 'यजति' के साथ सम्बन्ध है। प्रारम्भ में स्पष्ट कहा है—'क्षत्रियं वा वैश्यं वा याजयेत्' क्षत्रिय अथवा वैश्य को जब ज्योतिष्टोम यजन कराये। इस याग का साधन-द्रव्य क्या होगा? यह अगले पदों से स्पष्ट है—'न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य' वट वृक्ष की ताज़ा घुंडियों, कोंपल पत्तों व फलों को तोड़, उन्हें पीस-छानकर तैयार किये फलरस में दही मिलाकर सम्पन्न हुआ द्रव्य-याग का साधन है।

ज्योतिष्टोम में क्षत्रिय अथवा वैश्य यजमान होने पर उन्हीं के निमित्त से यह फलरस सोम के स्थान में याग-साधन होने के कारण यद्यपि नैमित्तिक है, तथापि ब्राह्मण यजमान होने पर जो कर्म सोम द्वारा सम्पन्न होता है, वह सब कर्म क्षत्रियादि यजमान होने पर फलरस द्वारा सम्पन्न होगा। नैमित्तिक होने से फलचमस का 'यजति' से सम्बन्ध तोड़ा नहीं जा सकता। जैसे भक्षण के साथ फलचमस का सम्बन्ध श्रुत है, ऐसे ही 'याजयेत्' यह 'यजति' के साथ सम्बन्ध श्रुत है। इससे उपक्रम और उपसंहार दोनों का सामञ्जस्य अबाधित रहता है। भक्षति के साथ फलचमस का सम्बन्ध तभी सम्भव है, जब पहले यजति के साथ सम्बन्ध हो। भक्षण यागकाल में यागशेष का ही माना गया है।

सन्दर्भ के अन्तिम पद 'न सोमम्' क्षत्रियादि यजमान होने पर 'सोम का निषेध' यह स्पष्ट करते हैं कि ऐसी स्थिति में सोम का पूरा प्रतिनिधित्व फलचमस ग्रहण करता है। यदि फलचमस का सम्बन्ध केवल भक्षण से माना जाय, तो प्रश्न होगा—ऐसे याग में आहुति किस द्रव्य की दी जाय? यदि आहुति सोम की मानी जाती है, तो भक्षण में सोम का निषेध अनुपपन्न होगा, क्योंकि भक्षण यज्ञशेष का ही होता है, और वह सोम होगा। इसलिये भक्षण में सोम का निषेध तभी उपपन्न होगा, जब फलचमस का 'यजति' से सम्बन्ध माना जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है, फलचमस इज्या (=याग) का विकार है; याग=यजन से सम्बद्ध है ॥४८॥

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

होमात् ॥४९॥

[होमात्] होम का निर्देश पाये जाने से सिद्ध होता है कि फलचमस इज्या का विकार है।

फलचमस से होम किये जाने का निर्देश पाया जाता है। वाक्य है—'यदान्यांश्चमसान् जुह्वति अथैतस्य दर्भतरुणकेनोपहत्य जुहोति'[1] जब ऋत्विज् अन्य चमसों

१. तुलना करें—'यदान्यांश्चमसान् जुह्वत्यथैतस्य दर्भतरुणेनोपहत्यान्तः परिध्याहवनीयादङ्गारं निवर्त्य अहं त्वदस्मि इति जुहोति' सत्या० (हिरण्य०) श्रौ०

का होम करते हैं, तब इस फलचमस को—दर्भ की दृढ़ डण्ठी अथवा दर्भमुष्टि [दाभ घास के अनेक तिनकों को मिलाकर बनाई कूंची] से हिलाकर होम करता है। फलचमस के होम का यह स्पष्ट निर्देश सिद्ध करता है कि फलचमस इज्या का विकार है, अर्थात् वह याग के लिए तैयार किया जाता है; केवल भक्षण के लिए नहीं। यागशेष का भक्षण तो स्वतः प्राप्त होता है ॥४९॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

चमसैश्च तुल्यकालत्वात् ॥५०॥

[चमसैः] अन्य चमसों के साथ [तुल्यकालत्वात्] फलचमस को होम के लिए उठाने का समानकाल होने से [च] भी जाना जाता है कि यह इज्या का विकार है, अर्थात् याग से सम्बद्ध है।

वाक्य है—'यदान्यांश्चमसानुन्नयन्ति, अथैतं यजमानचमसमत उन्नयति' [सत्या० श्रौ०, ८।७।४३] जब अन्य चमसों का द्रोणकलश से उन्नयन करते हैं, तब इस यजमान-चमस (फलचमस) का उपपात्र से उन्नयन करता है, जिसमें न्यग्रोधस्तिभियों का रस भरा रक्खा है। द्रोणकलश में सोमरस भरा है। होम के लिए चमसों से भरकर जैसे वह उठाया जाता है, ऐसे ही वट वृक्ष की घुंडियों व कोंपल-पत्तों का दधिमिश्रित रस जिस पात्र में भरा रहता है, वहाँ से होम के लिए उसको यजमान-चमस (फलचमस) में भरकर उठाया जाता है। इससे स्पष्ट होता

(८।७।४३) वाक्य के 'दर्भतरुणेन' पद के स्थान पर शत०ब्रा० (३।१।२।७) में 'दर्भतरुणकेनादधाति' पाठ है। तरुण पद से ह्रस्व अर्थ में [अष्टा० ५।३।८६] 'क' प्रत्यय होने से पद का अर्थ होगा—दाभ घास के तिनकों से बनाया गया छोटा-सा गुच्छा, न अधिक लम्बा हो न अधिक मोटा। तिनके केवल इतने होने चाहिएँ कि बँधकर जिनमें दृढ़ता आ जाय। लम्बाई छह अंगुल और मोटाई कनिष्ठिका अंगुली के अग्रभाग के बराबर पर्याप्त है। यह इसीलिये है कि फलचमस में भरे रस को गुच्छे के अग्रभाग से हिलाये जाने पर तिनके मुड़न जायें तथा रस गुच्छे के अग्रभाग में इतना लग जाय, जिससे आहवनीय में आहुति दी जा सके, अथवा आहवनीय से अंगारा निकालकर उसी परिधि (सीमा) में उसे रखकर गुच्छे से रस को उसपर छिटका जा सके।

उक्त सन्दर्भ में यही निर्देश है—जब अन्य चमसों को होमते हैं, तब इस फलचमस के रस को दर्भ के लघु गुच्छे के अग्रभाग से हिलाकर एवं आहवनीय की परिधि में ही आहवनीय से अलग रक्खे अंगार पर गुच्छे में लगे रस को 'अहं त्वदस्मि' यह उच्चारण करता हुआ होमता है।

है, फलचमस याग से सम्बद्ध है, केवल भक्षण से नहीं ॥५०॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५१॥

[लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग=हेतु के देखे जाने से [च] भी फलचमस इज्या-विकार सिद्ध होता है।

चालू अधिकरण के विवेचनीय प्रारम्भिक वाक्य के उपसंहार में कहा है—'तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्' अस्मै—इस क्षत्रिय व वैश्य यजमान के लिए उस भक्ष को देवे, सोम न देवे। सोमभक्षण का निषेध इस तथ्य का प्रयोजक है कि आहवनीय में आहुति न्यग्रोधस्तिभियों के दधिमिश्रित रस की दी गई है। यदि उसकी आहुति न दी जाती, तो सोम की दी जाती। उस अवस्था में सोमभक्षण का निषेध सम्भव न था, क्योंकि भक्षण हुतशेष का ही होता है। इससे सोमभक्षण-निषेध इस बात का प्रयोजक है कि क्षत्रियादि यजमान होने पर आहवनीय में आहुति न्यग्रोधस्तिभियों के दधिमिश्रित रस की दी गई है। उसी का शेष, भक्ष के लिए प्रस्तुत किया गया। आहवनीय में जिसकी आहुति दी जाती है, उसे याग से असम्बद्ध कौन कह सकता है? इसके परिणामस्वरूप फलचमस इज्या का विकार है, यह निश्चित है ॥५१॥ (इति फलचमसस्य इज्याविकारताऽधिकरणम्–१९)।

(ब्राह्मणानामेव राजन्यचमसानुसर्पणाधिकरणम्—२०)

राजसूय याग के अन्तर्गत 'दशपेय' नामक एक यागविशेष है। उस प्रसंग में वाक्य है—'शतं ब्राह्मणाः सोमान् भक्षयन्ति; दशदशैकैकं चमसमनुसर्पन्ति' सौ ब्राह्मण सोम का भक्षण करते हैं; दश-दश एक-एक चमस के प्रति अनुसर्पण करते हैं।

राजसूय याग के अनुष्ठान का अधिकार राज्याभिषिक्त राजा का माना गया है। इस याग के पूर्ण होने में एक वर्ष से कुछ अधिक दिन लग जाते हैं। इसका आरम्भ फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा से होता है। एक वर्ष और एक मास तक विभिन्न कर्म होते रहते हैं, तत्पश्चात् अगले वर्ष चैत्रशुक्ला प्रतिपदा के दिन अभिषेचनीय-संज्ञक सोमयाग होता है; वह पाँच दिन साध्य है। इसमें प्रथम दिन दीक्षा, अगले तीन दिन उपसत्, तत्पश्चात् एक दिन सुत्या=सोमयाग होता है। तदनन्तर दश संसृप[1] हवियों का याग। इनका विवरण है—षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी और एकादशी के छह दिनों में छह संसृप हविष्क याग होते हैं। तत्पश्चात्

---

१. संसृप हवि=तरल हवि आज्य, सोम तथा न्यग्रोधस्तिभियों का दधिमिश्रित स्वरस।

द्वादशी के दिन शेष चार संसृप हविष्क याग। द्वादशी से ही 'दशपेय' याग का आरम्भ होता है। दशपेय के प्रथम दिन का दीक्षा-कर्म अभिषेचनीय में हो जाता है, अतः द्वादशी, त्रयोदशी और चतुर्दशी में तीन उपसत्, और चौथे पूर्णिमा के दिन सुत्या=सोमयाग होता है।[1]

इसी अवसर पर 'शतं ब्राह्मणाः' आदि वाक्य श्रुत हैं, यद्यपि ये वाक्य वर्त्तमान वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं हैं। 'दशपेय' नाम का निमित्त बनाने के लिए वाक्य का उत्तरांश शतपथ ब्राह्मण [५।४।५।३] में निम्नांकित रूप से उपलब्ध है—'अथ यद्दशमेऽहन् प्रसुतो भवति तस्माद्दशपेयः, अथो यद्दशदशैकैकं चमसमनुसृप्ता भवन्ति तस्माद्वेव दशपेयः' दशपेय नाम के दो निमित्त बताये : एक—दसवें दिन अनुष्ठित होना; दूसरा—दस-दस की एक संख्या में एक-एक चमस के लिए अनुसर्पण करना।

यहाँ चमस दस हैं—एक यजमान का राजन्यचमस, नौ चमस ब्राह्मण ऋत्विजों के। एक-एक चमस के शेष हवि को दस-दस व्यक्तियों ने भक्षण करना है। यहाँ राजन्य चमस में सन्देह है—उसका भक्षण दस राजन्य करें? अथवा उसका भक्षण भी दस ब्राह्मण करें? यजमान राजन्य है, इसलिये उस चमस का भक्षण दस राजन्य व्यक्तियों द्वारा किया जाना प्राप्त होता है। इसी अर्थ को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् ॥५२॥

[अनुप्रसर्पिषु] राजन्यचमस सोम का अनुसर्पणपूर्वक भक्षण करनेवालों में [सामान्यात्] वर्णसाम्य से राजन्य ही अनुसर्पण करें, ऐसा जाना जाता है।

दस व्यक्तियों का एक-दूसरे के पीछे धीरे-धीरे सरकना अनुसर्पण है। यह सोमभक्षण के लिए होता है। अतः वर्ण की समानता के आधार पर राजन्यचमस-सोमभक्षण के लिए दस राजन्य व्यक्तियों का अनुसर्पण समञ्जस प्रतीत होता है।

शंका है—वाक्य में 'शतं ब्राह्मणाः' पठित है, यदि राजन्यचमस का दस राजन्य भक्षण करते हैं और शेष नौ चमसों का नब्बे ब्राह्मण, तो वाक्य में ब्राह्मणों की शत संख्या का कथन असंगत हो जाता है। अतः राजन्यचमस के भक्षण के लिए दश ब्राह्मणों का ही अनुसर्पण मानना चाहिए। यद्यपि आपाततः यह कथन युक्त प्रतीत होता है, पर वास्तविकता यह नहीं है। शत संख्या का असामञ्जस्य उस दशा में कहा जा सकता है जब शत संख्या का यहाँ विधान किया गया हो। वस्तुतः शतसंख्य 'दशदशैकैकं' से ही प्राप्त है। यहाँ 'शतं ब्राह्मणाः' में शतसंख्या अनुवाद-मात्र है। ब्राह्मण पद अधिक संख्या होने से दिया गया है। ग्राम में सभी वर्णों के

---

१. द्रष्टव्य—युधिष्ठिर मीमांसककृत शाबरभाष्य, हिन्दी व्याख्या, पृष्ठ ९९४॥

लोग रहते हैं, पर यह ब्राह्मणों का ग्राम है, यह ठाकुरों का, ऐसा व्यवहार उस वर्ण की अधिक संख्या होने के कारण लोक में देखा जाता है। फलतः 'शतं ब्राह्मणाः' में सौ संख्या राजन्य मिलकर अभिप्रेत है। इसके अनुसार राजन्यचमस के राजन्य व्यक्तियों का अनुसर्पण निर्बाध है।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि राजन्यचमस न्यग्रोधस्तिमियों से तैयार किया जाता है। वह सोमचमस नहीं है। सोमचमस उच्छिष्ट नहीं माना गया; पर राजन्यचमस में उच्छिष्टता-दोष होगा, जो ब्राह्मण के लिए अग्राह्य है। इसलिये राजन्यचमस में राजन्य का ही अनुसर्पण युक्त प्रतीत होता है ॥५२॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् ॥५३॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—राजन्यचमस-भक्षण के लिए राजन्य ही अनुसर्पण करें, यह कथन युक्त नहीं है; [ब्राह्मणाः] राजन्यचमस में ब्राह्मण अनुसर्पण करें, [तुल्यशब्दत्वात्] उक्त वाक्य में एकमात्र ब्राह्मण शब्द का प्रयोग होने से।

एक पद के अर्थ में जैसे 'समान' शब्द का प्रयोग होता है, ऐसे ही सूत्र में 'तुल्य' शब्द का प्रयोग एकार्थवाचक है। 'शतं ब्राह्मणाः' इत्यादि वाक्य में 'ब्राह्मणाः' यही एक शब्द वर्णवाचक प्रयुक्त है; राजन्य या क्षत्रिय आदि अन्य कोई पद पठित नहीं है। साक्षात् श्रुति-पठित पद को बाधित नहीं किया जा सकता। ब्राह्मणग्राम आदि न्याय से ब्राह्मणों की अधिक संख्या के कारण ब्राह्मण पद का प्रयोग है, यह कहकर ब्राह्मणों के अनुसर्पण में राजन्य व्यक्तियों का प्रवेश असंगत है। राजन्य-चमस-समेत दस चमस हैं, दस-दस के समूह के लिए एक-एक चमस विभक्त है। दस-दस के दस समूहों में सौ पूरे होते हैं। वे सौ ब्राह्मण हैं। इस प्रकार पूर्वापर वाक्यों का परस्पर सामञ्जस्य स्पष्ट है। सौ की संख्या में राजन्यसमूह के प्रवेश का कोई संकेत यहाँ नहीं है, अन्यथा ब्राह्मण पद बाधित होगा। 'भक्षयन्ति' और 'अनुसर्पन्ति' दोनों क्रियापदों का कर्तृपद 'ब्राह्मणाः' है। तब राजन्यचमस के भक्षण के लिए दस ब्राह्मण ही अनुसर्पण करेंगे।

'शतम्' पद का सीधा सम्बन्ध 'ब्राह्मणाः' के साथ है। यहाँ शत ब्राह्मणों का सोमभक्षणार्थ अनुसर्पण विहित है। उसी 'शत' को आगे दस-दस के दस समूहों में विभक्त किया है। इस विभाग के आधार पर 'शतम्' को अनुवाद कहना, उलटी गंगा बहाने अथवा वस्तुस्थिति का शीर्षासन कर देने के समान है। फलतः दस चमसों के भक्षण-निमित्त में सौ ब्राह्मणों का दस-दस के दस समूहों के रूप में अनुसर्पण निश्चित है। दस चमसों में एक राजन्यचमस है। उसके भक्षण-निमित्त भी

ब्राह्मणसमूह का अनुसर्पण मान्य है।

यहाँ यह कहना भी संगत न होगा कि अन्य सोमचमस विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भक्षण किये जाने पर भी उच्छिष्ट नहीं माने जाते। पर राजन्यचमस सोमचमस न होकर न्यग्रोधस्तिभियों का रस है। उसमें उच्छिष्टता-दोष रहने से वह ब्राह्मण के अयोग्य है। इस कथन की असंगति का कारण ब्राह्मण आचार्यों ने बताया है—न्यग्रोधस्तिभियों का रस राजन्य के लिए सोमस्थानीय है। सोम के धर्म उसमें भी मान्य होंगे। तब सोम के समान उच्छिष्टता-दोष उसमें भी मान्य न होगा। इसलिये राजन्यचमस में भी ब्राह्मण द्वारा भक्षण निमित्त अयोग्यता नहीं है।[1] फलतः शत ब्राह्मणों में दश ब्राह्मण राजन्यचमस के प्रति अनुसर्पण करते हैं, यह सिद्धान्त निश्चित होता है ॥५३॥ (इति ब्राह्मणानामेव राजन्यचमसानुप्रसर्पणाऽधिकरणम्—२०)।

इति जैमिनीयमीमांसासूत्राणां विद्योदयभाष्ये
तृतीयाध्यायस्य पञ्चमः पादः।

---

१. इस निर्णय से प्रतीत होता है, भक्षण के विषय में ब्राह्मण सदा सबसे आगे रहा है। भक्ष्य उत्तम होना चाहिए, भले ही वह उच्छिष्ट आदि दोषयुक्त हो।

तृतीयाध्याये षष्ठः पादः

(स्रुवादिषु खादिरतादिविधेः प्रकृतिगामिताऽधिकरणम्—१)
अथवा
(अनारभ्याधीतविधीनां प्रकृतिगामित्वाधिकरणम्)

कतिपय विधिवाक्य ऐसे हैं, जो किसी विशेष प्रकरण का आरम्भ करके नहीं पढ़े गये। तैत्तिरीय संहिता [३।५।७।१] में ऐसा एक वाक्य है—'यस्य खादिरः स्रुवो भवति (स) छन्दसामेव रसेनावद्यति। सरसा अस्य आहुतयो भवन्ति' जिस यजमान का स्रुव-पात्र खैर की लकड़ी का बना होता है, वह मानो छन्दों के रस से ही अवदान करता है। तात्पर्य है—ऐसा करना पूर्ण वेदोक्त कर्म है। खैर लकड़ी के बने स्रुव-पात्र से दी हुई आहुतियाँ फलवती—अभ्युदय को देनेवाली—होती हैं।

इसी के आगे संहिता में अन्य वाक्य है—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' जिस यजमान का जुहू नामक यज्ञिय पात्र पलाश (ढाक) की लकड़ी का बना होता है, वह निन्दायुक्त वचन नहीं सुनता।

इनके विषय में सन्देह है—क्या खैर की लकड़ी से स्रुव-पात्र बनाने का विधान तथा ढाक की लकड़ी से जुहू-पात्र बनाने का विधान प्रकृतियाग के साथ सम्बन्ध रखता है? अथवा प्रकृति और विकृति दोनों प्रकार के यागों के साथ? प्रतीत होता है—उक्त विधि का दोनों प्रकार के यागों के साथ सम्बन्ध होना चाहिए, क्योंकि इन पात्रों का दोनों प्रकार के यागों में समानरूप से उपयोग होता है। इसी अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

सर्वार्थमप्रकरणात् ॥१॥

उक्त विधान [सर्वार्थम्] सभी प्रकृति एवं विकृति यागों के लिए है, [अप्रकरणात्] किसी विशेष याग के प्रकरण में पठित न होने से।

जो विधिवाक्य किसी विशेष (=एक) याग का आरम्भ न करके—बिना विशेष प्रकरण के—पठित होते हैं, उन्हें 'अनारभ्याधीत' (=अनारभ्य-अधीत)

कहा जाता है। उक्त वाक्य इसी प्रकार के हैं। यह विधान प्रकृति-विकृति दोनों प्रकार के यागों से सम्बद्ध मानना चाहिए, क्योंकि ये किसी एक के प्रकरण में पठित नहीं हैं ॥१॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का निवारण करते हुए सिद्धान्त-पक्ष बताया—

प्रकृतौ वा अद्विरुक्तत्वात् ॥२॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। अप्रकरणपठित विधि-वाक्य दोनों प्रकार के यागों से सम्बद्ध माने जायँ, यह कथन युक्त नहीं है। [प्रकृतौ] वे वचन प्रकृतियाग में सम्बद्ध रहते हैं, [अद्विरुक्तत्वात्] दो बार कथन न हो जाय, इस कारण।

तात्पर्य है—अप्रकरणाधीत विधिवाक्य यदि प्रकृति-विकृति दोनों में सम्बद्ध माने जाएँ, तो विकृति में इस विधि का दो बार कथन हो जायगा। एक—प्रथम साक्षात् विधान; दूसरा—'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस व्यवस्था के अनुसार प्रकृतिगत खादिरतादि धर्म विकृति में पुनः प्राप्त होंगे। इस प्रकार स्रुव खदिर का और जुहू पलाश का होना चाहिए, यह द्विरुक्त हो जायगा। एक ही कर्म का दो बार विधान व्यर्थ होने से अशास्त्रीय है। इसलिए खादिरता आदि का विधान केवल एक प्रकृतियाग से सम्बद्ध मानना चाहिए। इससे विकृतियागों में खादिर स्रुव आदि के प्रयोग में कोई बाधा न होगी। अतिदेश-वाक्य (प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या) से वह विकृतियागों में अनिर्बाध प्राप्त है। इस कारण विकृतियाग अप्रकरण-पठित विधि की आकांक्षा नहीं रखता, अतः वह विधिवाक्य विकृति में विधान नहीं करेगा। इसलिए अनारभ्याधीत विधिवाक्यों का सम्बन्ध व सन्निवेश केवल प्रकृतियागों में मानना युक्त है ॥२॥

पूर्वपक्षवादी सिर उठाकर पुनः कहता है—अनारभ्याधीत विधिवाक्यों का विकृतियाग में सम्बन्ध मानने पर भी द्विरुक्तता-दोष प्राप्त नहीं होगा। आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के आशय को सूत्रित किया—

तद्वर्जन्तु वचनप्राप्ते ॥३॥

[तु] 'तु' पद पूर्व-सूत्रोक्त अर्थ की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—अनारभ्य-अधीत अथवा अप्रकरण-पठित विधियों का विकृतियागों में निवेश मानने से द्विरुक्ति-दोष आता है, यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि अतिदेशवाक्य की प्रवृत्ति [तद्वर्जम्] अप्रकरण-पठित विधियों के विकृतियाग में निवेश-प्रसंग को छोड़कर [वचनप्राप्ते] वचनप्राप्त विधि में होती है। तात्पर्य है—जो विधि-प्रकरणपठित हैं, उन्हीं में अतिदेश-वाक्य प्रवृत्त होता है।

'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' जो धर्म प्रकृतियागों में विहित हैं, उनका अति-

देश विकृतियागों में कर लेना चाहिए, यदि उन धर्मों का विकृतियागों में अनुष्ठान अपेक्षित है, और विधान वहाँ हुआ नहीं। यह अतिदेश उन्हीं स्थलों में प्रवृत्त होता है, जहाँ प्रकृतियागों में अनुष्ठेय धर्म विहित हैं, और विकृतियागों में वे अपेक्षित हैं। इसलिए अप्रकरण-पठित वचन से प्रकृति-विकृति उभयविध यागों के लिए खादिरतादि धर्मों का विधान है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि विकृति में खादिरतादि धर्म-चोदक वाक्य (प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या) से प्राप्त होते हैं। क्योंकि अप्रकरण-पठित विधि से विकृतियाग में उन धर्मों के प्राप्त हो जाने पर विकृतियाग चोदक वाक्य की आकांक्षा ही नहीं रखता, इसलिए अप्रकरण-पठित विधि को छोड़कर चोदक वाक्य अन्यत्र उन धर्मों को प्राप्त करायेगा। अप्रकरण-पठित वाक्य से स्रुव में खादिरता-धर्म प्रत्यक्ष है। विकृति में चोदक वाक्य से खादिरता आदि की प्राप्ति आनुमानिक है। आनुमानिक वाक्य से प्रत्यक्ष वाक्य बलवान् होता है। इसलिए अप्रकरण-पठित विधि प्रकृति-विकृति दोनों के लिए मानी जानी चाहिए॥३॥

पूर्वपक्षवादी द्वारा सिद्धान्त-पक्ष की ओर से प्रस्तुत आशंका को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

दर्शनादिति चेत् ॥४॥

[दर्शनात्] विकृतियागों में प्रयाज आदि के देखे जाने से अप्रकरण-पठित विधि चोदकवाक्य की अपेक्षा बलवान् नहीं है [इति चेत्] ऐसा यदि कहो तो, (वह युक्त नहीं; अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

गत सूत्र में पूर्वपक्षवादी ने कहा है कि अप्रकरण-पठित विधि की अपेक्षा चोदक वचन दुर्बल है, अतः अप्रकरणपठित विधि को छोड़कर चोदक वाक्य प्राप्त होता है। इसमें केवल दुर्बलता के अंश को लेकर सिद्धान्त-पक्ष की ओर से आशंका व्यक्त की गई है—यदि चोदक वाक्य दुर्बल है, तो विकृति में प्रयाजों का देखा जाना उपपन्न होगा। प्रायः समस्त इष्टि दर्श-पूर्णमास यागों के विकृति हैं। ब्रह्मवर्चस कामनावाले के लिए विहित सौर्येष्टि में वाक्य पठित है, 'प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति।'[1] प्रत्येक प्रयाज में कृष्णल का होम करता है। गुञ्जा, घोंगची या चौंटली का नाम 'कृष्णला' है। उतने परिमाण की सुवर्णगुटिका के लिए 'कृष्णल' पद का प्रयोग है। सौर्येष्टि में प्रयाज होम का दर्शन तभी उपपन्न हो सकता है, जब चोदक वाक्य को बलवान् माना जाय। इसलिए अप्रकरण-पठित विधिवाक्यों का निवेश प्रकृति-विकृति उभयविध यागों में न मानकर केवल प्रकृतियागों में मानना चाहिए। विकृतियाग में उन विधियों का अपेक्षित

---

१. द्रष्टव्य—तैत्तिरीय संहिता, २।३।२॥

प्रयोग चोदक वाक्य के आधार पर होगा ॥४॥

सिद्धान्तवादी की इस आशंका के समाधान को पूर्वपक्षवादी की ओर से सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न चोदनैकार्थ्यात् ॥५॥

[न] विकृतियाग में प्रयाजों के देखे जाने से चोदक=अतिदेश-वाक्य अप्रकरण-पठित विधिवाक्य से बलवान् नहीं है, [चोदनैकार्थ्यात्] चोदनवाक्य का अन्यत्र प्रयोजन होने से। तात्पर्य है—जहाँ अप्रकरण-पठित विधिवाक्य से विकृति में कर्म-प्राप्ति होती है, उससे अन्य स्थलों में चोदक वाक्य विधियों की प्राप्ति के लिए चरितार्थ है।

अप्रकरण-पठित और प्रकरणविशेष में पठित विधिवाक्यों के अपने-अपने कार्यक्षेत्र हैं। प्रकरणविशेष में पठित विधिवाक्य उसी प्रकृतियाग से सम्बद्ध हैं, जिसके प्रकरण में वे पठित हैं। विकृतियाग में उन विधियों की प्राप्ति चोदक-वाक्य से होती है। इससे विपरीत जो अप्रकरण-पठित विधिवाक्य हैं, उनका सम्बन्ध किसी एक प्रकृतियाग से न होकर दोनों प्रकार के प्रकृति-विकृति यागों में उनका निवेश मानना युक्त है; क्योंकि वे किसी विशेष प्रकृतियाग के प्रकरण में पठित नहीं है। फलतः 'यस्य खादिरः स्रुवो भवति' आदि अप्रकरण-पठित विधिवाक्य प्रकृति-विकृति दोनों यागों में स्रुव की खादिरता एवं जुहू की पालाशता के प्रत्यक्ष विधायक हैं। चोदक वाक्य का कार्यक्षेत्र इनको छोड़कर अन्यत्र है। इसलिए अप्रकरण-पठित विधिवाक्यों का प्रकृति-विकृति दोनों में निवेश मानना चाहिए ॥५॥

पूर्वपक्षवादी द्वारा सिद्धान्तपक्ष की ओर से उद्भावित अन्य आशंका को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

उत्पत्तिरिति चेत् ॥६॥

[उत्पत्तिः] सभी विधिवाक्यों की उत्पत्ति प्रकृतियागों में होती है, इसलिए खादिरत्वादि विशिष्ट स्रुव आदि के विधायक वाक्यों का प्रकृतियाग में निवेश मानना चाहिए; [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो—(वह ठीक नहीं, अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है।)

कोई भी विधिवाक्य—चाहे अप्रकरणपठित हो अथवा प्रकरणविशेष में—प्रकृतियाग में ही उत्पन्न माना जाता है। उसका उत्पत्ति-स्थान प्रकृतियाग है। प्रत्येक विधिवाक्य प्रथम प्रकृतियाग का निर्देश करता है। 'यस्य खादिरः स्रुवो भवति' वाक्य भी खादिरत्वादि विशिष्ट स्रुव का विधान प्रथम प्रकृतियाग से सम्बद्ध ही कहता है। विकृतियाग अनन्तर-काल में आता है। उस अवसर पर

अतिदेश-वाक्य प्रकृतिगत विहितधर्मा को विकृति में प्राप्त करा देता है। विकृति सदा प्रकृति की अपेक्षा व आकांक्षा रखती है। प्रकृतिगत अपेक्षित धर्म को विकृति में प्राप्त कराने का सामर्थ्य केवल अतिदेश-वाक्य को है; विधिवाक्य में यह सामर्थ्य नहीं। कारण है—विधि का विकृति से सीधा सम्बन्ध न होना। इसलिए अप्रकरण-पठित विधियों का निवेश केवल प्रकृतियाग में मानना युक्त है; प्रकृति-विकृति उभय में नहीं ॥६॥

सिद्धान्तपक्ष से उद्भावित उक्त आशंका के समाधान को पूर्वपक्षवादी की ओर से सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न तुल्यत्वात् ॥७॥

[न] गत सूत्र में कहा यह कथन ठीक नहीं है कि अप्रकरण-पठित विधि का केवल प्रकृतियाग से सम्बन्ध है, क्योंकि [तुल्यत्वात्] प्रकृति-विकृति दोनों में विधेय अर्थ के समान होने से।

जानना चाहिए—'उत्पत्ति' का स्वरूप क्या है? विधि की उत्पत्ति है—विधि-बोधित अर्थ का प्रयोगात्मक रूप से प्रकाश में आना, अर्थात् विधेय कर्म का अनुष्ठान। यद्यपि वह अनुष्ठानस्वरूप का लाभ प्रथम प्रकृति में करता है, पर विकृति में भी उसका रूप पूर्णतया वही रहता है, जो प्रकृति में है। प्रकृति-विकृति दोनों में विधेय अर्थ की यह समानता इस तथ्य का प्रमाण है कि अप्रकरण-पठित विधिवाक्य का प्रकृति-विकृति दोनों में निवेश मानना कोई आपत्तिजनक नहीं है। अनुष्ठान का पहले या पीछे होना इस स्थिति में कोई बाधा नहीं डालता। इसलिए अप्रकरण-पठित विधिवाक्यों का प्रकृति-विकृति दोनों में निवेश मानना युक्त है। इससे अतिदेश-वाक्य निरवकाश हो जायगा, यह कहना भी संगत नहीं है। अतिदेश-वाक्य उन स्थलों में चरितार्थ है, जहाँ विधिवाक्य प्रकरणविशेष में पठित हैं।

प्राचीन व्याख्याकारों ने इन दो (६-७) सूत्रों का अर्थ निम्न प्रकार से किया है—

६—यदि यह समझते हो—इन स्रुव आदि की अनारभ्यविधि[1] से उत्पत्ति प्रकृतिगत विधियों के तुल्य है। प्रकृति में अङ्गों का विधान संक्षेप और विस्तार से कहा जाता है। 'पञ्च प्रयाजान् यजति' पाँच प्रयाजों का यजन करता है, यह संक्षेप से विधान है। 'समिधो यजति' इत्यादि से विस्तार से। इसी प्रकार यहाँ भी 'यस्य खादिरः स्रुवो भवति' इत्यादि से विस्तार से और 'यस्यैवंरूपाः स्रुचः'

---

१. अनारभ्य विधि, अनारभ्याधीत विधि, अप्रकरणपठित-विधि—इन तीनों का एक ही अर्थ है।

जिसकी इस प्रकार की स्रुच् होती है, से संक्षेप से विधान है। इस प्रकार का संक्षेप-विस्तारूप विधि प्रकृति में देखी गई है; यह अनारम्य-विधि इसी प्रकार की है। इसलिए अनारभ्य-विधि प्रकृति में उपविष्ट है, यह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। इस कारण अनारभ्यविधि प्रकृति के लिए है। (शबरस्वामी)

७—ऐसा नहीं है। इस प्रकार का सामान्यतोदृष्ट साधक नहीं होता है। यहाँ—अनारभ्यविधि में केवल प्रकृतिगत विधि से सारूप्यमात्र है: प्रकृति में यह अनारभ्यविधि होती है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। और भी, विकृति में भी संक्षेप और विस्तार से अङ्गों का विधान किया जाता है। 'तिस्र आहुतीर्जुहोति' तीन आहुतियाँ देता है, यह संक्षेप है। 'आमनमस्यामनस्य देवाः' आमनमस्यामनस्य देवाः से आहुति देता है, यह विस्तार है। अतः वैकृत विधियों से भी अनारभ्य विधियाँ तुल्य हैं। इसलिए यह अनारभ्य विधि के प्रकृति में निवेश होने का हेतु नहीं है। (शबरस्वामी)

सुबोधिनी-वृत्ति में इन दोनों सूत्रों का अर्थ इस प्रकार किया है—

६—(उत्पत्तिः) अनारभ्याधीत विधि से विकृति में स्रुच् आदि की उत्पत्ति भी होवे, [इति चेत्] ऐसा मानें तो। इसका भाव यह है कि स्रुच् आदि की प्राप्ति के लिए चोदक की आकांक्षा नहीं है। (रामेश्वर सूरि)

७—(न) 'विकृति में चोदक की अपेक्षा नहीं है' ऐसा नहीं है, (तुल्यत्वात्) अनारभ्य-विधि के तुल्यत्ववाचक 'एवंरूपाः' से युक्त होने से। इसका भाव यह है कि 'यस्यैवंरूपाः स्रुचो भवन्ति' में 'एवंरूप' शब्द पूर्व-विद्यमान स्रुच् का निर्देश करता है। अतः चोदक से ही जुहू की प्राप्ति होगी। (रामेश्वर सूरि)

इन व्याख्याओं में 'विधि की उत्पत्ति' का अर्थ 'विधि का ऊपरी विवरण' किया गया ज्ञात होता है। वस्तुतः वह विधि की 'उत्पत्ति' नहीं है। 'उत्पत्ति' का अर्थ है—आत्मलाभ, विधि के स्वरूप का प्रकाश में आना। वह विधि का अनुष्ठानात्मक रूप है, जो प्रकृति-विकृति दोनों में पूर्णतः समान रहता है। प्रस्तुत प्रसंग में उत्पत्ति का यह अर्थ अधिक सूत्रानुसारी है। सूत्रव्याख्या प्रथम कर दी गई है ॥७॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

चोदनार्थकात्स्न्यात् तु मुख्यविप्रतिषेधात् प्रकृत्यर्थः ॥८॥

[तु] 'तु' पद अप्रकरणपठित-विधि के प्रकृति-विकृति उभय में निवेश की निवृत्ति का द्योतक है। [चोदनार्थकात्स्न्यात्] विकृति में चोदक वाक्य से सम्पूर्ण अर्थों=अनुष्ठेय कर्मों की प्राप्ति होने से, एवं [मुख्यविप्रतिषेधात्] मुख्य=प्रत्यक्षपठित अनारभ्य (=अप्रकरणगत) विधि के विप्रतिषेध=विरोध में चोदक-

वाक्य के प्रथम प्रवृत्त होने से [प्रकृत्यर्थः] अप्रकरण-पठित विधि प्रकृति के लिए है।

यद्यपि अप्रकरण-पठित विधि से विकृति में खादिरतादि विशिष्ट स्रुव का विधान प्राप्त होता है, तथापि विकृति में स्रुव आदि की प्राप्ति के लिए अतिदेश-वाक्य प्रथम उपस्थित रहता है। पूर्वपक्षवादी द्वारा अप्रकरण-पठित विधि का निवेश प्रकृति-विकृति उभय में मानने पर प्रथम प्रकृति में निवेश मानना आवश्यक है। विकृति का अवसर प्रकृति-निवेश के अनन्तर ही आता है। जैसे ही विधि का निवेश प्रकृति में होता है, अतिदेश-वाक्य वैसे ही विकृति में स्रुव आदि के विधान के लिए तत्पर हो जाता है। अनारम्भ्य-विधि को विकृति में निवेश के लिए वह अवसर ही नहीं आने देता। वस्तुतः उसकी आवश्यकता ही नहीं रहती कि अनारम्भ्य-विधि विकृति में स्रुव आदि का विधान करे। प्रकरणविशेष में पठित विधियों के विकृति में प्राप्ति के लिए अतिदेश-वाक्य का अस्तित्व अत्यावश्यक है। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। तब अनारम्भ्य-पठित विधियों की विकृति में प्राप्ति भी अतिदेश-वाक्य से हो जायगी। अनारम्भ्य-विधियों का विकृति में निवेश मानना अनावश्यक है। फलतः प्रकरणविशेष-पठित विधियों के समान अनारम्भ्य-विधि का निवेश भी प्रकृति में मानना युक्त है।

इस विषय में यह भी ध्यान रखने की बात है कि अनारम्भ्य-विधि का विकृति से सम्बन्ध मानने पर भी विकृतियाग निराकाङ्क्ष नहीं होता, क्योंकि खादिरता आदि पात्र धर्म हैं, याग धर्म नहीं। अनारम्भ्य-विधि केवल उसी को विकृति में प्राप्त करा सकेगा। इसलिए विकृतियाग अतिदेश-वाक्य के सम्बन्ध से से ही प्रकृति की अपेक्षा रखते हैं, और उसी के सहारे प्रकृति के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होते हैं। इसी स्थिति में याग से अपूर्व सिद्ध होता है। प्रकृतियाग के—विकृतियाग में अपेक्षित समस्त अर्थ—पात्र, पात्रधर्म, अङ्गभूत कर्म आदि अतिदेश-वाक्य के सहयोग से ही विकृति में प्राप्त होकर उसे निराकाङ्क्ष बनाते हैं। अनारम्भ्य-विधि का विकृतियागों के लिए कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। इसलिए प्रकरण-अप्रकरणपठित सब विधियों का निवेश प्रकृतियागों में होता है, यह सिद्धान्त निश्चित है ॥८॥ (इति स्रुवादिषु खादिरतादिविधेः प्रकृतिगामिताधिकरणम्—१)।

(सप्तदशसंख्याया विकृतिगामिताधिकरणम्—२)

शिष्य आशंका करता है—कतिपय सामिधेनियों का परिमाण अप्रकरण-पठित सुना जाता है—'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' सत्रह सामिधेनियाँ बोले; यद्यपि यह वचन वर्तमान वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है। शतपथ ब्राह्मण [१।३।५।१०] में 'सप्तदश सामिधेनीः' पाठ उपलब्ध है, पर वह दर्श-पौर्णमास

प्रकरण में पठित है, अप्रकरणपठित नहीं। तथापि, भाष्य-परम्परा में प्राप्त है। इसके विषय में सन्देह है—क्या सत्रह सामिधेनियों का निवेश प्रकृतियाग में माना जाय ? अथवा विकृतियाग में ? पूर्व-अधिकरण में उपपादित प्रक्रिया के अनुसार इसका निवेश प्रकृति में मानना चाहिए। पर प्रकृति में पन्द्रह सामिधेनियाँ कही हैं, उसके साथ इसका विकल्प मान लिया जायगा। आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विरोधि स्यात् ॥९॥

[तु] 'तु' पद पूर्व-न्याय की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—पूर्वाधिकरण निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार अनारभ्याधीत सत्रह सामिधेनियों का निवेश प्रकृतियाग में हो, यह कथन युक्त नहीं है, [प्रकरणविशेषात्] प्रकृतियाग=दर्श-पूर्णमास के प्रकरण में पन्द्रह सामिधेनियों के स्पष्ट कथन से; अतः [विकृतौ] विकृतियाग में सत्रह सामिधेनियों का निवेश मान्य है, अन्यथा [विरोधि] प्रकृति में पन्द्रह सामिधेनियों के साथ सत्रह का विरोध [स्यात्] प्राप्त होगा।

प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास में पन्द्रह सामिधेनियों का स्पष्ट विधान है। पन्द्रह सामिधेनी आहुतियाँ देने के लिए ऋचा केवल ग्यारह हैं। उनमें पहली और अन्तिम ऋचा को आहुति के अवसर पर तीन-तीन बार बोलकर पन्द्रह आहुतियाँ पूरी की जाती हैं।[1] अन्य आकांक्षा न रहने से प्रकृति में सत्रह का निवेश न होगा।

प्रकृति या विकृति में दोनों का विकल्प कहना भी युक्त नहीं है। दो विरोधी विधियों का विकल्प उसी दशा में माना जाता है, जब समानबल दो विधियाँ एक कर्म में प्राप्त हों। यहाँ ऐसा नहीं है। पन्द्रह सामिधेनी केवल प्रकृतियाग में हैं, सत्रह केवल विकृतियाग में। 'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' विधि अप्रकरणपठित होने से विकृतियाग में निविष्ट होने के कारण प्रकृतिगत पञ्चदशत्व के साथ इसके विकल्प का अवसर ही नहीं है। अवसर तब हो, जब दोनों विधियाँ एक कर्म

---

१. ऋग्वेद, मं० ३, सू० २७ की ग्यारह (१–११) ऋचाएँ सामिधेनी कही जाती हैं। प्रथम और अन्तिम ऋचा को तीन-तीन बार पढ़कर पन्द्रह सामिधेनी आहुतियाँ प्रकृतियाग में दी जाती हैं। उन्हीं दो ऋचाओं को चार-चार बार पढ़कर सत्रह सामिधेनी आहुतियाँ विकृतियाग में दी जाती हैं। प्रकृतियाग में पन्द्रह और विकृति में सत्रह आहुति निर्धारित हैं। किसी का कहीं अन्यत्र निवेश नहीं। श०ब्रा० [१।३।५।५–७] के दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग में स्पष्ट निर्देश है—'त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमाम्।...ताः पञ्चदश सामिधेन्यः सम्पद्यन्ते।'

में प्राप्त हों। प्रकृतियाग का पञ्चदशत्व अतिदेश-वाक्य के आधार पर विकृति-याग में प्राप्त होने से वहाँ उसकी प्राप्ति आनुमानिक होगी। विकृति में प्रत्यक्ष-पठित सप्तदशत्व-विधि बलवान् होने से विकृति में पञ्चदशत्व को बाधित कर देगी। तब वहाँ भी दोनों विधियों के एकत्र प्राप्त न होने से विकल्प का अवसर नहीं आता। फलतः सप्तदशत्व का विधान केवल विकृति में मान्य है, वह भी कतिपय सीमित यागों में। इसका कथन आगे [१०।८।१६–१९ सूत्र; अधि० ९ में] किया जायगा ॥९॥ (इति सामिधेनीनां सप्तदशसंख्याया विकृतिगामिताधिकरणम्—२)।

(गोदोहनादीनां प्रकृतिगामिताधिकरणम्—३)

दर्श-पूर्णमास प्रसंग [आप० श्रौ० १।१६।२] में पाठ है—'गोदोहनेन पशु-कामस्य प्रणयेत्' पशु की कामनावाले यजमान का जलसम्बन्धी कार्य गोदोहन पात्र से कराया जाय। गोदोहन पात्र वह है, जिसमें गायों का दूध निकाला जाता है। इसी प्रकार एक अन्य वाक्य अग्नीषोमीय याग में पशु-यूप के सम्बन्ध में पढ़ा है—'बैल्वो ब्रह्मवर्चसकामेन कर्त्तव्यः'—ब्रह्मवर्चस की कामनावाले यजमान को बिल्व (बेल) वृक्ष की लकड़ी का पशु-यूप (पशु को बाँधने का खूँटा) बनाना चाहिए। निमित्तविशेष से बताये गये इस प्रकार के द्रव्यों के विषय में सन्देह है—क्या इनका प्रकृतियाग में निवेश माना जाय? अथवा विकृतियाग में? प्रतीत होता है, इनका निवेश विकृतियाग में होना चाहिए, क्योंकि प्रकृति में चमस आदि पात्र से यजमान का अपःप्रणयन हो जाने के कारण अन्य पात्र की आकांक्षा नहीं रहती। इसी प्रकार अग्नीषोमीय पशु-याग में यूप का निर्माण खादिर, पलाश (=खैर, ढाक) आदि की लकड़ी से किये जाने के कारण अन्य किसी लकड़ी की आकांक्षा नहीं रहती। इसलिए इनका निवेश विकृति में ही माना जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में आचार्य सूत्रकार ने मान्य सिद्धान्त प्रस्तुत किया—

नैमित्तिकं तु प्रकृतौ तद्विकारः संयोगविशेषात् ॥१०॥

[तु] 'तु' पद सिद्धान्त-प्रस्तुति का द्योतक है [नैमित्तिकं तु] निमित्तविशेष से कहे गये द्रव्यादि का तो [प्रकृतौ] प्रकृतियागों में ही निवेश माना गया है, क्योंकि [संयोगविशेषात्] कामना के सम्बन्धविशेष के कारण वह [तद्विकारः] प्रकृति में सामान्यरूप से विहित का ही विकार=अङ्ग है।

अग्नीषोमीय पशुयाग में सामान्य रूप से खादिर, पलाश और रोहीजक वृक्ष की लकड़ी से यूप बनाने का विधान है, इसी प्रकार दर्श-पूर्णमास में अपःप्रणयन के लिए सामान्य रूप से चमस का विधान है। परन्तु पशु कामनावाले यजमान के लिए—अपःप्रणयन गोदोहन पात्र से करे, यह विशेष विधान है। इसी प्रकार

सामान्य रूप से विहित खादिर आदि यूप के साम्मुख्य में ब्रह्मवर्चस कामनावाले के लिए बिल्ववृक्ष की लकड़ी से निर्मित यूप का विशेष विधान है। विशेष विधि श्रुतिबोधित होने से प्रत्यक्ष है; इसके सामने सामान्य विधान परोक्ष-जैसा हो जाता है, प्रत्यक्ष के सामने आते लजाता है, छिप जाता है। तात्पर्य है, विशेष विधान सामान्य को बाधित कर देता है। तब दर्श-पूर्णमास प्रकृति में यजमान के अपःप्रणयन के लिए चमस तिरोहित हो जाता है, गोदोहन-पात्र सामने आ जाता है। इसी प्रकार अग्नीषोमीय पशुयाग प्रकृति में यूपनिर्माण के लिए सामान्यविहित खदिर आदि तिरोहित हो जाते हैं, विशेष विहित बिल्व उपस्थित होता है। इसलिए गोदोहन आदि द्रव्यों का प्रकृतियाग में निवेश मानना आवश्यक है, अन्यथा सामान्य विधान के तिरस्कृत हो जाने से अपःप्रणयन व यूपनिर्माण न होने पर कर्म विगुण हो जायगा ॥१०॥ (इति गोदोहनादीनां प्रकृतिगामिताधिकरणम्—३)।

(आधानस्य पवमानीष्टचनङ्गताधिकरणम्—४)

ब्राह्मणग्रन्थों में पवमान आदि इष्टियाँ पठित हैं—'अग्नये पवमानायाष्टाकपालं निर्वपेत्, अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये'—पवमान अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप करे, पावक अग्नि के लिए, शुचि अग्नि के लिए। इन्हीं के प्रकरण में पाठ है—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत' [तै० ब्रा० १।१।२।६] ब्राह्मण वसन्त में अग्नि का आधान करे। यहाँ सन्देह है—क्या अग्न्याधान पवमान आदि इष्टियों के लिए है? अथवा नहीं? अग्न्याधान इष्टियों के लिए होना चाहिए,—इस अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात् ॥११॥

[अग्न्याधेयम्] अग्न्याधान कर्म [इष्ट्यर्थम्] पवमान आदि इष्टियों के लिए है, [प्रकरणात्] एक ही प्रकरण में पठित होने से।

पवमान आदि इष्टियों के प्रकरण में अग्न्याधान-कर्म पठित है, इससे जाना जाता है, वह इष्टियों के लिए है। अग्न्याधान होने पर उसी अग्नि में इष्टियों का अनुष्ठान किया जाता है, इससे स्पष्ट है, अग्न्याधान इष्टियों के लिए है ॥११॥

आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

न वा तासां तदर्थत्वात् ॥१२॥

[न वा] सूत्र में 'न वा' यह निपात-समुदाय 'अग्न्याधान कर्म इष्टियों के लिए है' इस पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए है, अर्थात् उक्त कथन युक्त नहीं; क्योंकि [तासाम्] उन पवमान आदि इष्टियों के [तदर्थत्वात्] अग्न्याधेय के लिए होने

के कारण।

आहवनीय आदि अग्नियों का आधान (=संस्थापन) फल देनेवाले कर्मों के अनुष्ठान के लिए किया जाता है। इष्टियों का कोई फल नहीं होता। यदि इष्टियों के लिए अग्न्याधान हो, तो वह भी निष्फल होगा। पर अग्नियों का आधान निष्फल न होकर फलवाला होता है। अतः अग्न्याधान इष्टियों के लिए है, यह कथन अयुक्त है। वस्तुतः आहित अग्नि को सुरक्षित रखने के लिए इष्टियों का विधान है। आहित अग्नि में इष्टियों का अनुष्ठान इसलिए किया जाता है कि अग्नि प्रज्वलित व जागृत बना रहे। इसलिए यह कहना चाहिए कि इष्टियाँ ही आहित अग्नि के लिए हैं, अग्न्याधान इष्टियों के लिए नहीं ॥१२॥

इसी अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने एक उपोद्बलक हेतु द्वारा स्पष्ट किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१३॥

[लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग के देखे जाने से [च] भी यह ज्ञात होता है कि पवमान आदि इष्टियाँ अग्नियों के लिए हैं।

तीनों अग्नियों का प्रथम स्थापन करना अग्न्याधान कर्म है। उसके अनन्तर यथावसर पवमान आदि इष्टियों का अनुष्ठान किया जाता है, जिससे आहित अग्नियाँ ठण्डी न हो जाएँ। यह प्रतिपाद्य सन्दर्भ द्वारा स्पष्ट होता है। सन्दर्भ है—

'जीर्यति व एष आहितः पशुर्यदग्निः, तदेतान्येव अग्न्याधेयस्य हवींषि संवत्सरे संवत्सरे निर्वपेत्। तेन वा एष न जीर्यति तेनैनं पुनर्णवं करोति, तन्न सूर्यम्।'

[मैत्रा० सं० १।५।६]

पशु के समान घर में स्थापना किया गया यह अग्नि निश्चय ही जीर्ण होता है। इन्हीं अग्न्याधेय की हवियों का प्रत्येक संवत्सर के आरम्भ में निर्वाप करे। निश्चित ही उससे यह जीर्ण नहीं होता। उस निर्वाप (इष्टि-अनुष्ठान) से पुनः इसको नवीन करता है। इसकी उपेक्षा न करे।

प्रत्येक संवत्सर के प्रारम्भ में इष्टियों के अनुष्ठान द्वारा—आधान किये गये आहवनीय आदि—अग्नियों को जीर्ण होने से बचाना यह स्पष्ट करता है कि पवमान आदि इष्टियाँ आहित अग्नियों के लिए हैं। फलतः अग्न्याधान को इष्टियों का अङ्ग मानना होगा ॥१३॥ (इति आधानस्य पवमानेष्ट्यनङ्गताधिकरणम्—४)।

(आधानस्य सर्वार्थताधिकरणम्—५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—यह जो आहवनीय आदि अग्नियों का आधान

कहा है, क्या वह केवल दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग के लिए है ? अथवा सभी कर्मों के लिए है ? प्रतीत होता है, अप्रकरण-पठित विधियों के समान यह केवल प्रकृति-याग के लिए होना चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-सुझाव को पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

तत् प्रकृत्यर्थं यथाऽन्येऽनारभ्यवादाः ॥१४॥

[तत्] वह अग्न्याधान [प्रकृत्यर्थम्] प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास के लिए है, [यथा] जैसे [अन्ये] अन्य [अनारभ्यवादाः] प्रकरण का आरम्भ न करके कहे गये विधान हैं।

जैसे खादिरतादि अन्य अप्रकरण-पठित विधान प्रकृतियागों के लिए स्वीकार किये गये हैं, ऐसे ही यह अप्रकरण-पठित अग्न्याधान-विधान केवल प्रकृतियागों के लिए माना जाना चाहिए ॥१४॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सर्वार्थं वाऽऽधानस्य स्वकालत्वात् ॥१५॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्रोक्त 'अग्न्याधान केवल प्रकृतियाग के लिए है' पक्ष की निवृत्ति का द्योतक है, [सर्वार्थम्] अग्न्याधान प्रकृति-विकृति सभी कर्मों के लिए है। [आधानस्य] अग्न्याधान के [स्वकालत्वात्] अपने-अपने कालवाला होने से।

अग्न्याधान के लिए प्रत्येक वर्ण का अपना स्वतन्त्र काल है—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः'—वसन्त में ब्राह्मण अग्नि का आधान करे; ग्रीष्म में राजन्य=क्षत्रिय; शरद् में वैश्य। यह अग्न्याधान का अपना-अपना काल है। इसमें यह व्यवस्था समझनी चाहिए, जो व्यक्ति अग्नि का आधान करता है, उसी के द्वारा किये जानेवाले सब कर्मों के लिए वह आधान है, अन्य व्यक्ति के द्वारा किये जानेवाले कर्मों के लिए नहीं। जैसे अग्नि की प्राप्ति का उपाय आधान है, वैसे अन्य द्रव्यों के समान अग्नि की प्राप्ति का उपाय—किसी से अग्नि को माँग लेना या क्रय कर लेना आदि भी सम्भव है। आधान के बिना अन्य उपाय से प्राप्त अग्नि कर्म को फलीभूत नहीं बनाता। स्वयं आधान किये अग्नि में ही अनुष्ठित कर्म फल देनेवाले होते हैं। याचना या क्रय से प्राप्त अग्नि—चाहे वह लौकिक हो अथवा वैदिक (=अन्य के द्वारा आहित), वह सफल कर्मानुष्ठान के लिए उपयुक्त नहीं। इस प्रकार अग्नि की सिद्धि के लिए आधान, और कर्मों की सिद्धि के लिए अग्नि है; इसी रूप में अग्न्याधान सब कर्मों के लिए है।

अप्रकरण-पठित विधि का आधान के लिए इस रूप में, उदाहरण देना—कि वह केवल प्रकृत्यर्थ है—युक्त नहीं; क्योंकि उसका आधार भिन्न है, अप्रकरण

पठित विधि का प्रकृत्यर्थ कथन कर्म की सिद्धि के लिए है। परन्तु आधान साक्षात् अग्नि की सिद्धि के लिए है। अग्नि को सिद्ध कर आधान चरितार्थ है। आगे कर्मानुष्ठान आधेय अग्नि में होते हैं, आधान में नहीं। आधान को सर्वार्थ इसी रूप में कहा गया है कि उससे सिद्ध किये गये अग्नि में प्रकृति-विकृति सभी यागों का अनुष्ठान होता है।

'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' प्रत्येक वसन्त में ज्योतिष्टोम याग करे; यह विधान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सबके लिए समान माना गया है। पर क्षत्रिय, वैश्य का अग्न्याधानकाल ग्रीष्म व शरद् निर्धारित है। यदि वे वसन्त में ज्योतिष्टोम करते हैं, तो उसी आहित अग्नि में—वसन्त आने पर—ज्योतिष्टोम करेंगे। इसमें कोई असामञ्जस्य नहीं है। ब्राह्मण भी ब्राह्मण से याचना आदि द्वारा प्राप्त अग्नि में कर्मानुष्ठान न करे; स्वयं आहित अग्नि में सभी प्रकृतियागों एवं उसके अङ्गभूत विकृतियागों का अनुष्ठान करे। आधान के सर्वार्थ होने का यही तात्पर्य है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य को स्वयं आहित अग्नि में अपने सब कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।

श्रौतयाग तीन रूपों में बताये जाते हैं—हविर्याग, सोमयाग, पशुयाग। हविर्यागों में प्रकृतियाग दर्श-पूर्णमास हैं, उनके अङ्ग विकृति हैं। सोमयागों में ज्योतिष्टोम प्रकृति, तथा पशुयागों में अग्नीषोमीय पशु, इसी का अपर नाम 'पशुबन्ध' है। उनके अपने-अपने सब अङ्गभूत कर्म विकृति हैं। ब्राह्मण आदि के द्वारा इन सब कर्मों का अनुष्ठान—स्वयं आधान किये अग्नि में—करना शास्त्रीय है ॥१५॥ (इति आधानस्य सर्वार्थताधिकरणम्—५)।

(पवमानेष्टीनामसंस्कृतेऽग्नौ कर्त्तव्यताधिकरणम्—६)

पवमान आदि संज्ञक इष्टियों का अनुष्ठान असंस्कृत अग्नियों में किया जाना अधिकरण का विषय है। अग्नियों का 'संस्कृत-असंस्कृत' होना क्या है? इसे स्पष्ट रूप में इस प्रकार समझना चाहिए—

प्रथम विधिपूर्वक आहवनीय आदि अग्नियों का आधान-स्थापन यागमण्डप के निर्धारित स्थान में किया जाता है। आधान के समय अग्नि मन्द रहता है। आगे प्रधानयाग के अनुष्ठान के लिए उसे प्रज्वलित व उत्तेजित करना है। यह कार्य पवमान आदि संज्ञक इष्टियों के अनुष्ठान से किया जाता है। इस प्रकार दी गईं आज्य आदि की आहुतियों से अग्नि उत्तेजित व प्रज्वलित हो उठता है। यही अग्नि का संस्कार है। अब अग्नि संस्कृत है। इस अनुष्ठान से पूर्व आधान किया हुआ भी अग्नि असंस्कृत कहा जायगा। असंस्कृत अग्नि का तात्पर्य लौकिक अग्नि नहीं है। लौकिक अग्नि वह है, जो चूल्हे आदि अन्य स्थान से लाया गया हो, उसका आहवनीय आदि के रूप में आधान न किया गया हो। आधान हो

जाने पर अग्नि लौकिक नहीं रहता, वह यागीय हो जाता है; पर पवमानेष्टि-अनुष्ठान से पूर्व वह 'असंस्कृत' कहा जाता है, जिसका तात्पर्य केवल यह है कि अभी मन्द होने से वह यागानुष्ठान के योग्य नहीं है। पवमानेष्टि-अनुष्ठान से उसे इस योग्य बनाया जाता है। अब उत्तेजित अग्नि 'संस्कृत' है।

संस्कृत अग्नि में सर्वप्रथम प्रयाज अनुष्ठित होते हैं, तदनन्तर दर्श-पूर्णमास प्रकृतियाग। प्रयाज विकृति हैं, विकृतियाग की अनुष्ठान-प्रसंग में प्राप्ति अतिदेश-(प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या) वाक्य द्वारा होती है। क्योंकि प्रकृति दर्श-पूर्णमास संस्कृत अग्नि में अनुष्ठित होते हैं, उसी के अनुसार विकृति प्रयाज आदि इष्टियाँ संस्कृत अग्नि में की जाती हैं। इसी के अनुसार पूर्वपक्ष की ओर से यह आशंका उठाई गई है कि पवमान इष्टियाँ भी विकृति हैं; तब उनका अनुष्ठान भी प्रयाजों के समान संस्कृत अग्नि में प्राप्त होता है।

इसी को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत् स्यात् ॥१६॥

[तासाम्] उन पवमान आदि इष्टियों का [अग्निः] अग्नि [प्रकृतितः] प्रकृति से अतिदेश-वाक्य द्वारा प्राप्त होगा, [प्रयाजवत्] प्रयाजों के समान।

लोक में कहावत है—'वादी भद्रं न पश्यति' आशंकावादी या आक्षेपकर्त्ता अच्छाई को नहीं देखता, बुराई या दुर्बलता पर उसकी दृष्टि जाती है। यदि अच्छाई अर्थात् वास्तविकता को देखें, तो आशंका सिर उभार ही नहीं पायेगी। उसने यह तो देखा कि प्रयाज विकृति हैं। विकृति का अनुष्ठान अतिदेश-वाक्य के आधार पर प्रकृति के अनुसार होना चाहिए। दर्श-पूर्णमास प्रकृति का अनुष्ठान संस्कृत अग्नि में होता है, इसलिए विकृतियाग प्रयाजों का अनुष्ठान संस्कृत अग्नि में किया जाता है। तब प्रयाजों के समान पवमान इष्टियाँ भी विकृति हैं, उनका अनुष्ठान भी संस्कृत अग्नि में होना चाहिए,—यह आशंका प्रस्तुत कर दी। पर उसने इस वास्तविकता पर दृष्टि नहीं डाली कि आहवनीय आदि आहित अग्नियाँ पवमान आदि इष्टियों के अनुष्ठान द्वारा ही संस्कृत की जाती हैं, उससे पूर्व अग्नियाँ संस्कृत हैं कहाँ? उनका अनुष्ठान तो अग्नियों को संस्कृत बनाने के लिए किया जाता है। यह प्रथम कहा जा चुका है, अग्नियों का संस्कार पवमानेष्टियों द्वारा उन्हें प्रज्वलित व उत्तेजित करना है। तब यह अनिवार्य स्थिति है कि पवमानेष्टियों का अनुष्ठान असंस्कृत अग्नियों में किया जायगा। तात्पर्य है, मन्द व अप्रज्वलित अग्नियों को उक्त अनुष्ठान द्वारा उत्तेजित किया जायगा; यह अनुष्ठान अग्नियों के संस्कार के लिए ही होता है।

आचार्य सूत्रकार ने इसी वास्तविकता को आशंका के समाधान के रूप में

प्रस्तुत किया—

न वा तासां तदर्थत्वात् ॥१७॥

[न वा] १२वें सूत्र के समान 'न वा' यह निपात-समुदाय पूर्व-सूत्रोक्त 'पवमानेष्टियों में पवमानेष्टि संस्कृत अग्नियाँ होनी चाहिएँ' पक्ष की निवृत्ति का द्योतक है, [तासाम्] उन पवमानेष्टियों के [तदर्थत्वात्] उन आहित आहवनीयादि अग्नियों के संस्कार के लिए होने के कारण।

ध्यान देने की बात है, जब पवमानेष्टियों के अनुष्ठान द्वारा अग्नियों को संस्कृत किया जा रहा है, तब प्रकृतियाग है कहाँ? उसका अवसर अग्नियों के संस्कृत होने के अनन्तर आयेगा। उस समय विकृतियागों के अनुष्ठान के लिए अतिदेश-वाक्य प्रवृत्त होता है। पवमानेष्टियों के अनुष्ठान के समय तो वह सोया पड़ा है। तब अतिदेश-वाक्य प्रवृत्त ही नहीं होता। विकृतियाग प्रकृति का उपकारक होता है। प्रकृति का अङ्ग होने से विकृति का अनुष्ठान प्रकृति की सर्वाङ्गपूर्णता को सम्पन्न करता है। इसी कार्य के लिए अतिदेश-वाक्य प्रवृत्त हुआ करता है। परन्तु पवमानेष्टियाँ विकृति होने पर भी कर्म की उपकारक नहीं हैं, वे अग्नि की उपकारक हैं; अग्नि को संस्कृत कर वे चरितार्थ हो जाती हैं। अतिदेश-वाक्य की प्रवृत्ति उन्हीं विकृतियों के लिए होती है, जो कर्म की उपकारक हैं। इसलिए पवमानेष्टियों की संस्कृत अग्नि में प्राप्ति कराने के लिए अतिदेश-वाक्य प्रवृत्त ही न होगा। फलतः पवमानेष्टियों का अनुष्ठान असंस्कृत अग्नि में होना ही सम्भव है ॥१७॥ (इति पवमानेष्टीनामसंस्कृतेऽग्नौ कर्त्तव्यताधिकरणम्—६)।

(उपाकरणादीनामग्नीषोमीयपशुधर्मताधिकरणम्—७)

तैत्तिरीय संहिता [६।१।११] के ज्योतिष्टोम प्रसंग में पाठ है—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते' जो सोमयाग में दीक्षित यजमान जिस अग्नि और सोम देवतावाले पशु का आलभन=स्पर्श आदि करता है। यह अग्नीषोमीय पशु का विधान है, तथा सवनीय और अनुबन्ध्या पशु का विधान है। ऐसे ही उपाकरण, उपानयन, यूप-नियोजन आदि पशु-धर्मों का विधान है। यहाँ सन्देह है—क्या ये पशु-धर्म सभी पशुओं के हैं? अथवा केवल सवनीय पशु के हैं? अथवा अग्नीषोमीय और सवनीय दोनों के हैं? अथवा केवल अग्नीषोमीय पशु के हैं? अन्तिम सिद्धान्त-पक्ष है।

प्रतीत होता है—समान प्रकरण में पठित होने और किसी विशेष का कथन न होने से ये धर्म सभी पशुओं के हैं।

इसी अर्थ को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ॥१८॥

[प्रकरणाविशेषात्] प्रकरण के विशेष=भिन्न न होने से अर्थात् ज्योतिष्टोमरूप समान प्रकरण में पठित होने से [पशुविधिः] पशुधर्मों का विधान [सर्वेषाम्] सभी पशुओं का [तुल्यः] समान है।

यह सूत्रार्थ प्रथम विकल्प की भावना से है। द्वितीय विकल्प की भावना से सूत्रार्थ निम्न प्रकार से किया गया है—

[पशुविधिः] उपाकरण आदि पशुधर्मों का विधान [सर्वेषाम्] सब पशुओं का [तुल्यः] समान हो, यदि [प्रकरणाविशेषात्] प्रकरण का विशेष=भेद न हो, तो। परन्तु प्रकरण का भेद देखा जाता है। सवनीय पशुओं से प्रकरण में पशुधर्मों का विधान विद्यमान है; अतः पशुधर्म सवनीय पशु के मानने चाहिएँ।

यह अर्थ शाबर भाष्य में 'यदि' पद का अध्याहार करके किया गया है।[1] मैत्रायणी संहिता [३।६।५] के सवनीय पशु-प्रकरण में पशुधर्मों का विधान निम्न प्रकार से है—

'आग्नेयः पशुरग्निष्टोमे आलभ्यः; आग्नेयो हि अग्निष्टोमः। ऐन्द्राग्नः पशुरुक्थ्ये आलभ्यः, ऐन्द्राग्नानि हि उक्थ्यानि। ऐन्द्रो वृष्णिः षोडशिनि आलभ्यः; ऐन्द्रो वै वृष्णिः, ऐन्द्रः षोडशी। सारस्वती मेषी अतिरात्र आलभ्या; वाग्वै सरस्वती, वागनुष्टुप्, आनुष्टुभी रात्रिः'

सोमयाग के अन्तर्गत ज्योतिष्टोम की सात संस्था मानी गई हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम। संहिता के उक्त सन्दर्भ में पहली चार संस्थाओं को लक्ष्य कर सवनीय पशुप्रकरण में पशुधर्मों का विधान है। अग्निष्टोम संस्था में आग्नेय पशु आलभ्य है, क्योंकि अग्निष्टोम आग्नेय ही है। उक्थ्य संस्था में ऐन्द्राग्न पशु आलभ्य है, क्योंकि उक्थ्य संस्था ऐन्द्राग्न=इन्द्र-अग्नि देवतावाली ही है। षोडशी संस्था में ऐन्द्र वृष्णि=मेढ़ा आलभ्य है; क्योंकि ऐन्द्र ही वृष्णि है, ऐन्द्र षोडशी है। अतिरात्र संस्था में सरस्वती देवतावाली मेषी=मेढ़ी आलभ्य है, क्योंकि वाक् ही सरस्वती है, वाक् अनुष्टुप् है, अनुष्टुप्-सम्बन्धी रात्रि है। सवनीय प्रकरण में इस प्रकार पशुधर्मों का कथन किया गया है। इसलिए प्रकरण के आधार पर सवनीय पशु के ये उपाकरण आदि धर्म ज्ञात होते हैं।

---

१. युधिष्ठिर मीमांसक ने सुझाव दिया है—इस पक्ष का प्रतिपादक सूत्र 'प्रकरणविशेषात् सवनीयस्य' रहा होगा, जो त्रुटित हो गया है। इसी कारण द्वितीय पक्ष को उभारने के लिए मीमांसकों को क्लिष्ट कल्पनाएँ करनी पड़ी हैं।

[पृष्ठ १०१४]

उपाकरण—मन्त्रोच्चारणपूर्वक हाथ से अथवा कुशाओं से पशु का स्पर्श करना 'उपाकरण' कहाता है। एक स्थान से अन्यत्र ले-जाते समय प्रायः प्रत्येक ले-जानेवाला व्यक्ति पशु की पीठ, पार्श्व, सिर व पुट्ठे आदि पर हाथ फेरता है; मानो उसे प्यार देता हुआ अगले कार्य के लिए प्रेरित करता है।

उपानयन—पशुशाला से यज्ञमण्डप की ओर पशु का लाया जाना 'उपानयन' है।

यूपनियोजन—यज्ञमण्डप के समीप पशु के सत्कारार्थ यूप (पशु को बाँधने के लिए गाड़े गये खूँटे) में रस्सी द्वारा पशु को बाँधा जाना 'यूपनियोजन' है। रस्से का एक सिरा यूप में और दूसरा पशु के अगले सीधे पैर में अथवा सींग की जड़ या गर्दन में रहता है[1] ॥१८॥

तीसरे विकल्प को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने उसे पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

स्थानाच्च पूर्वस्य ॥१९॥

[स्थानात्] स्थान-प्रमाण से [पूर्वस्य] पूर्व=पहले कहे गये अग्नीषोमीय पशु के [च] भी उपाकरण आदि धर्म हैं, ऐसा जानना चाहिए।

ज्योतिष्टोम ऋतु छह दिन में सम्पन्न होता है। प्रथम दिन दीक्षणीय इष्टि का है। इसमें यजमान ज्योतिष्टोम-अनुष्ठान के लिए दीक्षित किया जाता है। अगले दूसरे-तीसरे-चौथे दिन उपसद् इष्टियों का अनुष्ठान होता है। पाँचवें दिन प्रधान सोमयाग अनुष्ठित होता है। छठे दिन अवभृथ इष्टि, जो ऋतु की सम्पन्नता का प्रतीक है। अग्नि और सोम देवतावाले (=अग्नीषोमीय) पशु का विधान प्रायणीय इष्टि के दिन किया गया है, जो इष्टियों का दूसरा दिन है। ऋतु के चौथे दिन अग्नीषोमीय पशुसम्बन्धी अनुष्ठान किया जाता है। सवनीय पशु का विधान भी चौथे दिन है, और अनुष्ठान पाँचवें दिन। इसलिए जो यह कहा कि प्रकरण के अनुरोध से उपाकरण आदि पशुधर्म सवनीय पशु के लिए हैं, वह ठीक है। परन्तु जहाँ सवनीय पशु का विधान है, उसी क्रम में अग्नीषोमीय पशुसम्बन्धी अनुष्ठान है, अतः स्थान=क्रम-प्रमाण के अनुसार (३।३।१४) उपाकरण आदि पशुधर्म सवनीय और अग्नीषोमीय दोनों के लिए हैं, ऐसा मानना युक्त प्रतीत

---

१. इस प्रसंग में तथा अन्यत्र भी मध्यकालिक रसनालोलुप याज्ञिकों ने अग्नि में पशुमांस की आहुतियों का उल्लेख किया है, पर मूलतः वह नितान्त अवैदिक है। यज्ञों के प्रारम्भिक काल में यज्ञों में पशुओं की हिंसा नहीं होती थी। अपेक्षित सत्करण के अनन्तर विसर्जन कर दिया जाता था। द्रष्टव्य—'श्रौत यज्ञ मीमांसा' (यु० मी०)।

होता है ॥१९॥

पूर्वोक्त सन्देह के चार विकल्पों में से तीन का पूर्वपक्षरूप में उपपादन कर चौथे विकल्प को उत्तरपक्षरूप में सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक् श्रुतिर्गुणार्था ॥२०॥

[तु] 'तु' पद गत सूत्रों में कहे गये अर्थ की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है उपाकरण आदि पशुधर्म न सब (=अग्नीषोमीय, सवनीय, अनुबन्ध्य) पशुओं के हैं, न केवल सवनीय पशु के और न अग्नीषोमीय-सवनीय दोनों मिलित के, क्योंकि [एकेषाम्] किन्हीं शाखावालों की शाखा में [श्वः] औपवसथ्य चौथे दिन के अगले पाँचवें—प्रधान सोमयाग के—दिन सवनीय पशुओं का विधान है; तात्पर्य है, उनको ऋतु के पाँचवें दिन यज्ञमण्डप में उपस्थित किया जाता—या लाया जाता—है। [तत्र] उन शाखावालों के विचार में [प्राक् श्रुतिः] पहले चौथे दिन पढ़ी गई सवनीय पशुसम्बन्धी श्रुति [गुणार्था] गौण प्रयोजनवाली है।

गौण का अभिप्राय है—वहाँ वह कथन द्वितीय स्तर का है, उपेक्ष्य है; क्योंकि सवनीय पशुसम्बन्धी अनुष्ठान पाँचवें दिन होना है, जिस दिन प्रधान सोमयाग अनुष्ठित किया जाता है। चौथे दिन अग्नीषोमीय पशुसम्बन्धी अनुष्ठान है, और वहीं उपाकरण आदि पशुधर्म पठित हैं, इसलिए उन्हें केवल अग्नीषोमीय पशुओं के लिए जानना चाहिए। पशुयाग में पशुसम्बन्धी मुख्य संस्कार अग्नीषोमीय पशुओं का है। पाँचवें दिन सवनीय पशु और अन्तिम छठे अवभृथ-इष्टि के दिन अनुबन्ध्य पशुओं का संस्कार होता है।[1] उपकरण आदि पशुधर्मों का विधान और अग्नीषोमीय पशुसम्बन्धी अनुष्ठान एक ही स्थान (=क्रम) में श्रुत होने से यह निश्चित जाना जाता है कि उपाकरण आदि पशुधर्मों का विधान अग्नीषोमीय पशु के लिए है ॥२०॥

पूर्वपक्ष की ओर से सिद्धान्ती द्वारा उद्भावित आशंका को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत् ॥२१॥

[तेन] 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा' आदि वचन से [उत्कृष्टस्य] चौथे दिन से पाँचवें दिन में खींचे गये सवनीय पशु के [कालविधिः] संस्कार-सम्बन्धी काल का विधान है, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो—(अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

पूर्वपक्ष का आशय है, क्रम के आधार पर, उपाकरण आदि पशुधर्म केवल

---

१. पशुओं के तीन भेद किस आधार पर हैं? विचारणीय है। भूमिका के पशु-याग प्रसंग में इसे समझने व स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

अग्नीषोमीय पशु के लिए हैं, ऐसा नहीं है। क्योंकि, प्रकरण के आधार पर वे सवनीय पशु के लिए हैं। चौथे दिन सवनीय पशुओं का पाठ उनका विधान करता है, और वहीं पशुधर्म पठित हैं। इससे पशुधर्म सवनीय पशुओं के लिए सिद्ध होते हैं। 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीमाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' आश्विन नामक पात्र को लेकर तीन लड़ में मानी हुई रस्सी से यूप को लपेटकर सवनीय पशु का उपाकरण संस्कार करता है; यह वाक्य केवल पाँचवें दिन संस्कार के काल का विधायक है। सवनीय पशु का विधान तो चौथे दिन है, वहीं पशुधर्मों का उल्लेख होने से सवनीय पशुओं के लिए उपाकरण आदि पशुधर्मों का मानना युक्त है। ऐसा यदि कहो, तो—॥२१॥

इस आशंका का निवारण सूत्रकार ने किया—

नैकदेशत्वात् ॥२२॥

[न] उपाकरण आदि पशुधर्म सवनीय पशु के नहीं हैं, ['एकदेशत्वात्] पुष्टि के एकदेश होने से। तात्पर्य है, 'आश्विनं' आदि वाक्य सवनीय पशु के पुष्टिरूप संस्कार का उत्कर्ष करता है, उपाकरण आदि का नहीं। अतः क्रम से उपाकरण आदि पशुधर्म अग्नीषोमीय पशु के लिए हैं। आश्विन काल का पाठ सवनीय पशु के विधान के लिए है, जो पाँचवें दिन में साध्य है। इसको गुणार्थ (कालविधि) मानने पर वाक्यभेद होगा। विधान मानने पर वाक्यभेद नहीं होगा। क्योंकि पुष्टि-धर्म पशु का एकदेश है, एक देश के निर्देश से सम्पूर्ण पशु-द्रव्य का उत्कर्ष नहीं होगा, इसलिए पुष्टि-प्रचार अपने समीप में पढ़े गये पुष्टि-सम्बन्धी संस्कारों का उत्कर्ष करेगा; उपाकरण आदि पशुधर्मों का उत्कर्ष नहीं करेगा। आश्विन वाक्य में सवनीय पशु के रस्से को यूप में लपेटने का कथन अनुवाद-मात्र है। सवनीय पशु मेष आदि हैं। इनको रस्से में बाँधा कहाँ जाता है? फिर इस यूपपरिनयन (=नियोजन) को 'उपाकरोति' क्रिया से कहना उपलक्षणमात्र है। वस्तुतः उपाकरण आदि पशुधर्म मुख्य रूप से अग्नीषोमीय पशु के लिए विहित हैं। अन्यत्र इनका यथापेक्षित व्यवहार सम्भव है जो शास्त्रीय दृष्टि से अनुवाद कहा जाता है॥२२॥

उपाकरण—पशुओं का बुलाया जाना आदि किसी विशेष प्रयोजन से निर्धारित दिन में होता है। प्रयोजन है—पशुओं का निरीक्षण करना, स्वास्थ्य आदि की जाँच-पड़ताल करना। जिस दिन बुलाया गया है, उसी दिन अग्नीषोमीय पशु के समान सवनीय पशु का भी उसी दिन निरीक्षण होना चाहिए।

इसी अर्थ को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

अर्थेनेति चेत् ॥२३॥

[अर्थेन] प्रयोजनविशेष से पशु एकत्रित किये गये हैं। वह निरीक्षण आदि

प्रयोजन उसी दिन सम्पन्न होना चाहिए। [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो वह—(अगले सूत्र से सम्बद्ध है) ॥२३॥

आशंका का सूत्रकार ने समाधान किया—

न श्रुतिप्रतिषेधात् ॥२४॥

[न] उक्त कथन ठीक नहीं है। तात्पर्य है, जिस दिन पशुओं को यज्ञमण्डप के समीप एकत्रित होने की घोषणा की गई हो, उसी दिन सबका निरीक्षण कर लिया जाय, ऐसा नहीं है, [श्रुतिविप्रतिषेधात्] श्रुति द्वारा विप्रतिषेध से। तात्पर्य है, श्रुति उक्त अर्थ का विरोध करती है।

प्रथम दिन अर्थात् ज्योतिष्टोम के चौथे दिन केवल अग्नीषोमीय पशु का उपाकरण आदि रूप में पूर्णनिरीक्षण कर पर्यग्निकरण के अनन्तर उनका उत्सर्जन कर दिया जाता है। सवनीय आदि पशुओं का उसी दिन निरीक्षण नहीं होता।

सवनीय पशु के विषय में श्रुति है—'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' अश्विनी देव चिकित्सक माने जाते हैं। 'आश्विनं ग्रहं' का तात्पर्य है—चिकित्सा-सम्बन्धी उपकरण। इस कार्य के लिए नियुक्त व्यक्ति चिकित्सा-उपकरणों को साथ लेकर सवनीय पशु का निरीक्षण करता है। मेष-मेषी, अज-अजा सवनीय पशु हैं। इनको सवनीय पशु इस कारण कहा जाता है, क्योंकि इनका निरीक्षण तीनों सवनों के अनुष्ठान के दिन होता है। यह प्रधान सवनों के अनुष्ठान का पाँचवाँ दिन है। तीनों सवनों में प्रधान सोम हवि की आहुतियाँ दी जाती हैं।

सवनों के साथ पशुओं का किस प्रकार का सम्बन्ध है?—'कथं सवनानि पशुमन्ति?' इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—'वपया प्रातः सवने प्र चरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने, अङ्गैस्तृतीये सवने' याज्ञिक अर्थ है—प्रातः सवन में चर्बी से होम करते हैं, माध्यन्दिन सवन में पुरोडाश से, तृतीय सवन में पशु-अङ्गों से। ऐसा अर्थ करने पर भी तीनों सवनों के साथ पशु का सम्बन्ध नहीं बनता। माध्यन्दिन सवन पशु-सम्बन्ध के बिना रह जाता है।

वस्तुतः वाक्य का 'वपा' पद पशु की पुष्टि का द्योतक है। लोक में हृष्टपुष्ट व्यक्ति को मनोरञ्जन की भावना से कहा जाता है—'चर्बी बहुत चढ़ गई दीखती है!' प्रातःसवन में पशु-सम्बन्धी यह कार्य है कि सवनीय पशुओं में से पुष्ट-स्वस्थ पशुओं को निरीक्षण कर अलग छाँट दिया जाय। यह काल का विधान है। प्रातः-सवन के समय पशु-सम्बन्धी यह कार्य किया जाय। यही सवन के साथ पशु का सम्बन्ध है। वपा से होम करना, अथवा वपा की आहुति देना, यह नितान्त निराधार कथन है। क्योंकि 'प्र चरन्ति' क्रियापद का 'आहुति देना या होम करना' अर्थ के लिए कोई आधार नहीं है। नियुक्त व्यक्ति पशुनिरीक्षण कर पुष्टि-निमित्त

से यह प्रचारित करता है कि यह सवनीय पशु पुष्ट-स्वस्थ-नीरोग है।

माध्यन्दिन सवन के अवसर पर सब आगत पशुओं को चारे पर बाँध दिया जाय। चारा पशु का खाद्य है। पुरोडाश पद इसी का प्रतीक है। 'पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने प्र चरन्ति' माध्यन्दिन सवन के साथ पशुओं का यही सम्बन्ध है। तृतीय सवन के अवसर पर दुर्बल पशुओं की परीक्षा की जाती है। उनके प्रत्येक अङ्ग की जाँच-पड़ताल कर उनकी दुर्बलता के कारण का पता लगाया जाता है, एवं उसे दूर करने के लिए उपाय सुझाये जाते हैं। 'अङ्गैस्तृतीये सवने प्र चरन्ति' का यही तात्पर्य है। अङ्गों की आहुति देना नितान्त नृशंस कार्य है, निश्चित ही इन्द्रियाराम याज्ञिकों ने प्रस्तुत विषय में वास्तविकता का शीर्षासन कर दिया है।

चालू प्रसंग में कहना यह है कि 'आश्विनं' वचन में सवनीय पशु का उल्लेख कर उपाकरण पशुधर्म का विधान किया है। उपाकरण अन्य पशुधर्मों का उपलक्षण है। तात्पर्य है—यहाँ उपाकरण आदि पशुधर्म सवनीय पशु के लिए विहित हैं। यदि इसे न मानकर पशुधर्म अग्नीषोमीय पशु के लिए माने जाते हैं, तो इस श्रुति के साथ विरोध होगा। अतः सवनीय पशु के ये धर्म हैं, ऐसा मानना युक्त है ॥२४॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥२५॥

सूत्र में 'तु' पद अवधारण अर्थ का वाचक है। [स्थानात्] स्थान = क्रम से [पूर्वस्य] पूर्वपठित अग्नीषोमीय पशु के [तु] ही उपाकरण आदि धर्म हैं, [संस्कारस्य] उपाकरण आदि संस्कारों के [तदर्थत्वात्] पशुओं के लिए होने के कारण। तात्पर्य है, उपाकरण आदि संस्कारों का प्रयोग पशुयाग में होता है, ज्योतिष्टोम में नहीं। इसलिए स्थान = क्रम-प्रमाण से उपाकरण आदि पशुधर्म अग्नीषोमीय पशु के ही हैं, सवनीय पशु के नहीं।

उपाकरण आदि धर्म पशुयाग-प्रेरित हैं। सवनीय पशुओं का यह प्रकरण नहीं है। १९वें सूत्र के अनुसार स्थानरूप प्रमाण से प्रथम पठित अग्नीषोमीय पशु के ही उपाकरण आदि धर्म हो सकते हैं। उपाकरण आदि पशु-संस्कार मुख्य रूप से पशुयाग में अपेक्षित हैं। वहाँ प्रथम अग्नीषोमीय पशु पठित है, अतः उसी के लिए उपाकरण आदि धर्मों का विधान है। सवनीय पशु ज्योतिष्टोम में उपस्थित होते हैं। वहाँ 'आश्विनं' वचन के अनुसार उनके काल का विधान है। उपाकरण आदि धर्म वहाँ अपेक्षानुसार अनुवादमात्र हैं। ज्योतिष्टोम में सभी प्रकार के पशु उपस्थित होते हैं। यदि उपाकरण आदि धर्मों को ज्योतिष्टोम-प्रेरित माना जाय तो उपाकरण आदि धर्मों का विधान सभी पशुओं के लिए

अनिवार्य माना जायगा, जो अनावश्यक है। इसलिए पशुयाग-विहित उपाकरण आदि पशुधर्मों का सम्बन्ध क्रम-प्रमाण से प्रथम पठित केवल अग्नीषोमीय पशु के साथ है। अन्यत्र उनका अनुवादमात्र समझना चाहिए।

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२६॥

[लिङ्गदर्शनात्] लिंग-दर्शन से [च] भी जाना जाता है कि उपाकरण आदि धर्म अग्नीषोमीय पशु के हैं।

ज्योतिष्टोम-प्रसंग में सवनीय पशु के (पुष्टि) वपा-प्रचार और पुरोडाश-संस्कार का उल्लेख है। यदि उपाकरण आदि संस्कार सब पशुओं के लिए समान होते, तो वपाप्रचार, पुरोडाश-संस्कार की भी गणना पशुयाग के अग्नीषोमीय प्रसंग में की जाती; पर ऐसा नहीं किया गया। इससे ज्ञात होता है, उपाकरण आदि पशु-संस्कार केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए विहित हैं। अपेक्षानुसार सवनीय पशु के लिए उनका उपयोग अतिदेश-वाक्य द्वारा प्राप्त हो जाता है। सवनीय पशु-संस्कारों के काल का विधान 'वपया प्रातः सवने' तथा 'आश्विनं ग्रहं' आदि वचनों द्वारा किया गया है। इससे ज्ञात होता है, सवनीय पशु के ये ही संस्कार हैं, उपाकरण आदि नहीं ॥२६॥

सवनीय पशु-सम्बन्धी संस्कारों के कालविधायक वाक्य अन्य किसी गौण प्रयोजन से कहे जाने के कारण अर्थवादमात्र हैं, कालविधायक नहीं, इस आशंका का समाधान सूत्रकार ने किया—

अचोदना गुणार्थेन ॥२७॥

[गुणार्थेन] गौण प्रयोजन द्वारा उक्त वाक्य [अचोदना] अविधायक है। तात्पर्य है—मुख्य प्रयोजन द्वारा विधायक है।

सवनीय पशु-संस्कारों के काल का विधान अन्य किसी वचन से प्राप्त नहीं है। यह अपूर्व विधान है। अन्य किसी गौण प्रयोजन से कहे जाने का बहाना लेकर इन्हें अर्थवाद बताना अप्रामाणिक होगा। फलतः प्रस्तुत अधिकरणगत समस्त विवेचना से यह परिणाम सामने आता है कि उपाकरण आदि पशुधर्म अथवा पशु-संस्कार केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए विहित हैं। सम्मिलित अग्नि और सोम कृषि के देवता हैं। कृषि का सर्वश्रेष्ठ बाह्यसाधन पशु वृष (बलीवर्द=बैल) है। सोम और अग्नि देवताओं के साथ कृषि-उपादक मुख्य पशु होने के कारण उसके स्वास्थ्य व रक्षा आदि के निमित्त सर्वप्रथम उपस्थिति उस अवसर पर इसी की उचित है, जब पशुओं की स्वास्थ्य आदि की दृष्टि से जाँच-पड़ताल की जाय। उससे सम्बद्ध संस्कारों का विवरण उसी के लिए उपयुक्त हो सकता है। सवनीय

पशु मेष-अज आदि के संस्कार उनके प्रसंग में कहे गये हैं। आदिकाल में यज्ञ के अवसर पर पशुओं को मारा नहीं जाता था ॥२७॥ (इति उपाकरणादीनामग्नीषोमीयपशुधर्मताऽधिकरणम्—७)।

(शाखाहरणादीनामुभयदोहधर्मताऽधिकरणम्—८)

'दर्श' इष्टि के प्रसंग में सायं और प्रातः गोदोहन का उल्लेख है। दोहन-सम्बन्धी कुछ धर्मों का भी उल्लेख है, जैसे—शाखाहरण, गायों का प्रस्थापन, प्रस्नावन, गोदोहन आदि। यहाँ सन्देह है, क्या ये धर्म दोनों काल के दोहनों में से किसी एक काल के दोहन के लिए हैं? अथवा दोनों कालों के दोहन के लिए? सायंकाल के दोह में पठित होने से सायं-दोह के ही धर्म होने चाहिएँ।

इस अर्थ को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं श्रुतं स्यात् ॥२८॥

[दोहयोः] दोनों दोहनों के [कालभेदात्] काल का भेद होने से [श्रुतम्] प्रातः दुहा सद्यष्क दूध [असंयुक्तं स्यात्] दोहधर्मों से संयुक्त नहीं होता।

'दर्श' इष्टि के हविद्रव्य दो प्रकार के होते हैं, एक—सान्नाय्य; दूसरा—पुरोडाश। सान्नाय्य हवि दही और दूध को मिलाकर बनाया जाता है। अमावास्या के पहले दिन सायंकाल दूध दुहकर जमा दिया जाता है। अगले दिन प्रातः ताज़ा दूध सान्नाय्य हवि बनाने के लिए दुहा जाता है। शाखाहरण आदि धर्म सायं-दोह के साथ पठित हैं, इसलिए सायं-दोह के धर्म माने जाने चाहिएँ। दोनों दोहनों के काल का भेद होने से प्रातर्दोह शाखाहरण आदि धर्मों से संयुक्त नहीं होगा। शाखाहरण आदि धर्म निम्न प्रकार हैं—

शाखाहरण—अमावास्या के दिन ढाक अथवा छोंकरे (=खेजडे, शमी) की शाखा काटकर लाई जाती है, जिससे बछड़े को—गाय के पसवाने के लिए—नीचे छोड़ने के पहले और पीते हुए बछड़े को हटाकर स्पर्श किया जाता है।

प्रस्नावन—गाय को पूरे पसवाने के लिए अर्थात् स्तनों में पूरा दूध उतारने के लिए गाय के स्तनों पर पानी का छींटा देते हुए बारबार हाथ फेरना 'प्रस्नावन' है।

गोदोहन—स्तनों से पात्र में दूध निकालना।

प्रस्थापन—दूध निकालकर गाय को चर पर बाँधने अथवा चरागाह में चरने के लिए भेजना।

जिस दिन सायंकाल गोदोहन है, उसी के साथ शाखाहरण आदि धर्म पढ़े हैं; इसलिए क्रम=स्थान-प्रमाण से सायं-दोहन के लिए ये दोहधर्म समझने चाहिएँ ॥२८॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य कालशास्त्रम् ॥२९॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्रोक्त—दोहधर्म सायं-दोह के हैं, प्रातर्दोह के नहीं—पक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। [प्रकरणाविभागात्] प्रकरण के अविभाग = अलग न होने से [तत्संयुक्तस्य] हविद्रव्य दही-दूध रूप अङ्गों (सान्नाय) से सम्बद्ध प्रधान याग का, यह [कालशास्त्रम्] काल का विधायक शास्त्र है। तात्पर्य है, 'दर्श' नामक इष्टि के प्रकरण में पठित दोहधर्म सायं-प्रातः दोनों दोह के लिए हैं; क्योंकि दही-दूध दोनों अङ्गों से संयुक्त प्रधान याग के काल का विधायक यह वचन है।

दही-दूध दोनों का प्रकरण समान है; जहाँ सायं-दोह है, उसी एक प्रकरण में प्रातर्दोह है। यद्यपि क्रम के अनुसार ये धर्म सायं-दोह के साथ पठित हैं, परन्तु क्रम की अपेक्षा प्रकरण बलवान् होता है। अतः प्रकरण-बल से ये दोहधर्म दोनों दोहनों के लिए हैं। पहले-पीछे उल्लेख से कोई अन्तर नहीं आता।

इसके अतिरिक्त वस्तुतः यदि ऐसा देखा जाय, तो दही और दूध दोनों अमावास्या के प्रातः एक ही क्रम पर होते हैं। दूध से दही बनने के लिए लगभग बारह घण्टा समय लग जाता है। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए अमावास्या के पहले दिन सायंकाल में दूध निकालकर जमा दिया जाता है। दही का अपना अस्तित्व लाभ करना अमावास्या के प्रातः ही हो पाता है। इसी वास्तविकता को शास्त्र में बताया है—'ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्, ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्' इन्द्र देवता-वाला दही अमावास्या में होता है; इन्द्र देवतावाला दूध अमावास्या में होता है। ये दोनों समान रूप से अमावास्या में कहे गये हैं। इसलिए प्रातः-सायं दोनों दोह के लिए दोहधर्म माने जाने में क्रम बाधक नहीं है। सायं-दोह के समय लाई गई शाखा यदि प्रातः-दोह के समय तक कार्योपयोगी नहीं रहती है, तो प्रातः-दोह के समय अन्य नई शाखा लाई जा सकती है ॥२९॥ (इति शाखाहरणादीनामुभय-दोहधर्मताऽधिकरणम्—८)।

(सादनादिग्रहधर्माणां[1] सवनत्रयधर्मताऽधिकरणम्—९)

ज्योतिष्टोम का विधान किया है—'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम से यजन करे। ज्योतिष्टोम छह दिन साध्य है। पाँचवें दिन प्रधान सोमयाग तीन सवनों में सम्पन्न किया जाता है। प्रातःसवन में ऐन्द्रवायव आदि दश ग्रह पठित हैं। ग्रह उन पात्रों का नाम है, जिनमें सोमरस

१. सम्मार्गादीनां ग्रहधर्माणां सवनत्रयार्थत्वम्।—सुबोधिनीवृत्तिः।

भरकर विभिन्न देवताओं के उद्देश्य से आहवनीय अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं। प्रातःसवन में ग्रहण किये जानेवाले दश ग्रह इस प्रकार हैं—(१) ऐन्द्रवायव, (२) मैत्रावरुण, (३) शुक्र, (४) मन्थी, (५) आग्रयण, (६-७-८) अतिग्रह (=आग्नेय-ऐन्द्र-सौर्य), (९) उक्थ्य, (१०) आश्विन। उन ग्रहों के कुछ धर्म कहे गये हैं—ग्रहों का यथास्थान रक्खा जाना, तथा ऊन के छन्ने के छोर से सम्मार्जन करना आदि। सम्मार्जन का वाक्य है—'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' दशापवित्र से ग्रह का सम्मार्जन करता है। 'दशा' छोर का नाम है; 'पवित्र' पुनने-छानने का ऊन का बना कपड़ा। अंगोछे के समान उस कपड़े के दोनों छोर आड़ी बुनाई न कर खुले छोड़ दिये जाते हैं। पात्र पर उस छन्ने को रखकर सोम छाना जाता है। छानते समय पात्र पर जो इधर-उधर सोमरस की बूँदें लग जाएँ, उन्हें छन्ने के छोर से पोंछ दिया जाता है, इसी का नाम सम्मार्जन है। इसी प्रकार माध्यन्दिन सवन के ग्रह अन्य हैं तथा तृतीय सवन के अन्य। माध्यन्दिन और तृतीय सबन में होनेवाले ग्रहों में सन्देह है—क्या सादन, सम्मार्जन आदि धर्म सभी ग्रहों में किये जाते हैं? अथवा केवल प्रातःसवन के ग्रहों में?

प्रातःसवन के ग्रहों के साथ पढ़े जाने के कारण उन्हीं ग्रहों के लिए इन धर्मों का उपयोग होना चाहिए। यह प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

तद्वत् सवनान्तरे ग्रहाम्नानम् ॥३०॥

[तद्वत्] गत अधिकरण में वर्णित दर्श इष्टि में सायं-प्रातः उभय गोदोह के शाखाहरण आदि धर्मों के समान [सवनान्तरे] अन्य माध्यन्दिन और तृतीय (—सायं) सवन में भी [ग्रहाम्नानम्] ग्रहधर्मों—सादन, सम्मार्जन आदि—का कथन जानना चाहिए।

यद्यपि सादन आदि धर्म प्रातःसवन के ग्रहों के साथ पढ़े गये हैं, पर ज्योतिष्टोम का महाप्रकरण सभी सवनों व ग्रहों के लिए समान है। सादन-सम्मार्जन आदि धर्मों का विधान वाक्य द्वारा सभी सवनों के ग्रहों के लिए किया गया है, भले ही पाठ का स्थान या क्रम प्रातःसवन के साथ हो। क्योंकि, स्थान से प्रकरण और वाक्य वलवान् होते हैं। इसलिए सभी सवनों के ग्रहों के लिए ये धर्म कहे हैं, यह निश्चित सिद्धान्त है ॥३०॥ (इति सादनादिग्रहधर्माणां सवनत्रयधर्मताऽधिकरणम्—९)।

(रशनात्रिवृत्त्वादीनां पशुधर्मताऽधिकरणम्—१०)

ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु की उपस्थिति का उल्लेख है—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते'—जो दीक्षित यजमान अग्नीषोमीय पशु का आलभन

करता है। उसी प्रकरण में पशु को बाँधने की रस्सी (=रशना) का उल्लेख है, **और उसके** धर्मों का भी। तात्पर्य है, रस्सी कैसी होनी चाहिए ? उसकी कतिपय **विशेषताओं को भी** बताया गया है, जैसे—रस्सी तीन लड़ में भानी हुई **होनी चाहिए,** मृदु हो, प्रविष्टान्त हो, अर्थात् दोनों किनारे रस्सी को भानते **हुए अन्दर को मोड़ दिये गये हों।** यदि ऐसा न किया जाय, तो रस्सी उधिड़ जायगी। **यहाँ** सन्देह है—क्या रशना के ये धर्म अग्नीषोमीय, सवनीय, अनुबन्ध्य सभी पशुओं की रशना के लिए साधारण हैं ? अथवा केवल अग्नीषोमीय पशु की रशना के हैं ? **अग्नीषोमीय** पशु के प्रकरण में पठित होने से उसी की रशना के ये धर्म हों, ऐसा **प्राप्त होने** पर सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

रशना च लिङ्गदर्शनात् ॥३१॥

[रशना] पशु बाँधने की रस्सी [च] तो अपनी विशेषताओं के साथ सब पशुओं के लिए साधारण है, [लिङ्गदर्शनात्] इस विषय में साधक हेतु देखे जाने से।

सवनीय पशु के विषय में स्पष्ट उल्लेख है—'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' आश्विन ग्रह का ग्रहण कर तीन लड़-वाली रस्सी से यूप को लपेटकर आग्नेय सवनीय पशु का उपाकरण करता है। यहाँ तीन लड़वाली रस्सी का सवनीय पशु के लिए स्पष्ट उल्लेख है। इससे जाना जाता है कि अपनी विशेषताओं से युक्त रस्सी का उपयोग केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए न होकर अपेक्षानुसार सभी पशुओं के लिए साधारण है। सन्दर्भ में 'त्रिवृत्' पद रशना के अन्य धर्मों—मृदुलता, प्रविष्टान्तता आदि—का उपलक्षण है। 'सवनीय' पद भी 'अनुबन्ध्य' पशुओं को उपलक्षित करता है।

यद्यपि सप्तम अधिकरण में रशनाविषयक आंशिक विवरण आ गया है, पर वहाँ रशना की विशेषताओं का उल्लेख नहीं हुआ। उसी के लिए यह अधि-करण है। वहाँ निर्णय किया गया है, समस्त पशुधर्मों—उपाकरण आदि—का विधान केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए है। शेष पशुओं के लिए उनकी प्राप्ति अतिदेश-वाक्य द्वारा होती है। उन धर्मों में 'श्लक्ष्णया बन्धः' भी एक है। उसमें रशना के मृदुता-स्निग्धता आदि धर्म तो आ जाते हैं, पर अन्य धर्म त्रिवृत् प्रवि-ष्टान्त आदि नहीं आते। उन्हीं के लिए प्रस्तुत अधिकरण का प्रारम्भ है ॥३१॥ (इति रशनात्रिवृत्त्वादीनां पशुधर्मताधिकरणम्—१०)।

(अंश्वदाभ्ययोरपि सादनादिधर्मवत्त्वाधिकरणम्—११)

तैत्तिरीय संहिता के तृतीय काण्ड में ज्योतिष्टोम-सम्बन्धी कुछ कर्म पढ़े हैं। वहाँ 'अंशु' और 'अदाभ्य' नामक ग्रह पठित हैं। उनमें सन्देह है—क्या

ज्योतिष्टोम में पठित ग्रहधर्म—सादन, सम्मार्जन आदि—अंशु और अदाभ्य ग्रहों में करने चाहिएँ ? अथवा नहीं करने चाहिएँ। ज्योतिष्टोम प्रकरण से दूर अन्यत्र पठित होने के कारण नहीं करने चाहिएँ। इस अर्थ को सूत्रकार ने पूर्व-पक्षरूप में सूत्रित किया—

आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैरसन्निधानात् ॥३२॥

[आरात्-शिष्टम्] दूर कहे गये ग्रह [इतरैः] अन्य ग्रहों के धर्मों से [असंयुक्तम्] संयुक्त=सम्बद्ध नहीं होते, [असन्निधानात्] पूर्वपठित ग्रहधर्मों के समीप न होने के कारण।

कोशकारों ने 'आरात् दूरसमीपयोः' कहकर 'आरात्' पद के 'दूर' और 'समीप' दोनों अर्थ माने हैं। सूत्र के व्याख्याकारों में से किसी ने समीप अर्थ मानकर व्याख्या की है, किसी ने दूर अर्थ मानकर। जब हम 'आरात्' पद से तृतीयकाण्ड-पठित अंशु और अदाभ्य ग्रहों को लक्षित करते हैं, तब 'आरात्' का अर्थ 'दूर' अभीष्ट होगा। जब ज्योतिष्टोम के मुख्य प्रकरण में पठित ग्रहधर्मों को 'आरात्' पद से लक्षित करते हैं, तब 'आरात्' का 'समीप' अर्थ अभीष्ट होगा। इस व्याख्या में 'असन्निधात्' हेतुपद का पाठ 'सन्निधानात्' अभीष्ट होगा। इस व्याख्या में भी 'इतरैः' पद से अंशु और अदाभ्य के लक्षित होने पर हेतुपद का पाठ तदवस्थ बना रहेगा। इस रूप में आपाततः भिन्न अर्थ प्रतीत होने पर भी सूत्र के भावार्थ में कोई अन्तर नहीं आता। सादन, सम्मार्जन आदि जो ग्रहों के धर्म ज्योतिष्टोम के मुख्य प्रकरण में बताये हैं, वे उन्हीं ग्रहों के समझने चाहिएँ जो मुख्य प्रकरण में पठित है।

यह ऐसा ही प्रसंग है, जैसा 'पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति' कहा है। मैत्रावरुण नामक ग्रह में स्थित सोम को दूध के साथ मिलाता है। इस वचन के अनुसार मैत्रावरुण ग्रह में विद्यमान सोम को ही दूध के साथ मिलाया जाता है; अन्य ग्रहों में विद्यमान सोम को दूध के साथ नहीं मिलाया जाता। इसी प्रकार सादन, सम्मार्जन धर्म भी उन्हीं ग्रहों के माने जाने चाहिएँ, जो वहीं प्रकरण में पठित हैं। अंशु-अदाभ्य ग्रह प्रकरण में पठित नहीं हैं, अतः उनके ये धर्म नहीं माने जाएँगे ॥३२॥

इस पूर्वपक्ष का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३३॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्र में कहे गये 'अप्रकरणस्थित अंशु और अदाभ्य ग्रहों के सादन-सम्मार्जन ग्रह-धर्म नहीं होते' की निवृत्ति का द्योतक है। [संयुक्तम्] प्रकरण से अन्यत्र पठित भी अंशु और अदाभ्य ग्रह भी सादन-सम्मार्जन ग्रह-धर्मों

से सम्बद्ध होते हैं, क्योंकि इन ग्रहों के [तदर्थत्वात्] ज्योतिष्टोम की सम्पन्नता के लिए होने के कारण [शेषस्य] कहे गये सादन आदि ग्रह-धर्मों के [तन्निमित्तत्वात्] ज्योतिष्टोम निमित्तक होने से। तात्पर्य है—ग्रहों का कथन ज्योतिष्टोम याग की सम्पन्नता के लिए है। अतः कोई ग्रह कहीं भी पढ़े गये हों, सम्मार्जन आदि ग्रह-धर्मों का सम्बन्ध सभी ग्रहों से होगा। अन्यथा, ज्योतिष्टोम याग विगुण हो जायगा।

तैत्तिरीय संहिता का तृतीय काण्ड वस्तुतः प्रकीर्णक काण्ड है। बिखरे हुए विभिन्न कर्मों का कथन उसमें हुआ है। किसी एक मुख्य कर्म का प्रारम्भ करके तत्सम्बन्धी अन्य कर्मों का कथन वहाँ किया गया हो, ऐसा नहीं है। इसलिए वे अनारम्याधीत कर्म हैं। उनका जिस मुख्य कर्म से सम्बन्ध हो, वहाँ उन्हें जोड़ लेना चाहिए। ग्रह उन पात्रों का नाम है, जिनमें आहुति के लिए सोम भरा जाता है। इनका उपयोग सोमयाग की संस्था ज्योतिष्टोम में होता है। अंशु और अदाभ्य नामक ग्रह भी ज्योतिष्टोम के उपकारक हैं। ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित ग्रह-धर्मों का सम्बन्ध उनके साथ भी होगा, भले ही वे प्रकरण से अन्यत्र पठित हों। आचार्यों का कथन है—'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः'—जिनका परस्पर अनिवार्य सम्बन्ध है, उनके दूरस्थित होने पर भी सम्बन्ध को हटाया नहीं जा सकता। फलतः ज्योतिष्टोम से सम्बद्ध अंशु और अदाभ्य ग्रहों को सादन-सम्मार्जन आदि ग्रह-धर्मों से सम्बद्ध मानना ही होगा।

'ग्रहं सम्मार्ष्टि' वाक्य में ग्रहमात्र को लक्ष्य कर सम्मार्जन का विधान किया है। प्रकरण से वाक्य बलवान् होता है। प्रकरण-पठित ग्रहों के समान अंशु और अदाभ्य ग्रह भी उसी प्रकार ज्योतिष्टोम के उपकारक हैं। इसलिए सम्मार्जन आदि धर्म जैसे प्रकरण-पठित ग्रहों में किये जाते हैं, वैसे ही अंशु और अदाभ्य ग्रहों में भी करने चाहिएँ ॥३३॥

मैत्रावरुण ग्रहस्थित सोम में दूधमिश्रण का उदाहरण देकर जो यह कहा गया कि अंशु और अदाभ्य ग्रहों में ग्रह-धर्म नहीं होने चाहिएँ, आचार्य सूत्रकार ने उसका समाधान किया—

निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत ॥३४॥

मैत्रावरुण ग्रहस्थित सोम में दूध मिलाना कार्य [निर्देशात्] 'पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति' वाक्य-निर्देश से [व्यवतिष्ठेत] एकमात्र मैत्रावरुण ग्रह में व्यवस्थित हो जाता है। तात्पर्य है, दूध मिलाना कार्य अन्य ग्रहों में स्थित सोम में प्रवृत्त नहीं होता।

चालू प्रसंग में वस्तुतः यह उदाहरण विषम है। 'पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति' वाक्यनिर्देश मैत्रावरुण ग्रह का नाम लेकर उसमें विद्यमान सोम के साथ दूध-

मिश्रण का कार्य एक विशेष कथन है, परन्तु ज्योतिष्टोम में ग्रहों के सादन और सम्मार्जन का कार्य एक सामान्य कथन है। वहाँ किसी विशेष ग्रह का नाम लेकर सादन-सम्मार्जन नहीं कहे गये। 'उपोप्तेऽन्ये ग्रहाः साद्यन्ते' तथा 'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' वाक्यों में सामान्य ग्रह पद का निर्देश है। वह सभी ग्रहों में समान रूप से लागू होगा। ज्योतिष्टोम-सम्बन्धी ग्रह प्रकरण में या अन्यत्र कहीं पढ़ा गया हो, सादन-सम्मार्जन धर्म समानरूप से सभी ग्रहों के लिए माने जाएँगे। मैत्रावरुण विशेष निर्देश है, विपरीत होने ये वह प्रकृत प्रसंग में दृष्टान्त नहीं हो सकता। मैत्रावरुण ग्रह में स्थित सोम के साथ दूध के मिश्रण का जैसे विशेष कथन है, ऐसे ही मन्थी ग्रह में स्थित सोम के साथ सत्तू के मिश्रण का कथन है, 'सक्तुभिः श्रीणात्येनम्' [कात्या० श्रौ० ९।६।१३]। ये विशेष कथन सामान्य स्थलों में लागू नहीं होते; अपने में सीमित रहते हैं, जो सर्वथा युक्त है।

सादन—यज्ञमण्डप में विशेष स्थान होता है, जहाँ सोम से भरे ग्रह=पात्र रक्खे जाते हैं। 'उपोप्तेऽन्ये ग्रहाः साद्यन्ते अनुपोप्ते ध्रुवः' वाक्य में स्थान के दो नाम कहे हैं—उपोप्त और अनुपोप्त। 'उपोप्त' पूर्वनिर्धारित वह विशिष्ट स्थान है, जिसे जल से अच्छी तरह धोकर उसपर बालू की मोटी तह बिछा दी जाती है। यह छोटा-सा चौंतरा=घड़ा बन जाता है। इसपर सोम से भरे ऐन्द्रवायव ग्रह रक्खे जाते हैं। उपोप्त से भिन्न स्थान अनुपोप्त है, जहाँ ध्रुवसंज्ञक ग्रह रक्खे जाते हैं। यह ग्रहसम्बन्धी 'सादन' कर्म है, अर्थात् ग्रहों का यथास्थान रक्खा जाना। सभी ग्रहों के लिए यह समान है। सम्मार्जन का निर्देश प्रथम (सूत्र ३० की अवतरणिका में) कर दिया है ॥३४॥ (इति अंश्वदाभ्ययोरपि सादनादिधर्मवत्त्वाधिकरणम्—११)।

(चित्रिण्यादीष्टकानामन्यङ्गताऽधिकरणम्—१२)

अग्निचयन कर्म का आरम्भ न करके कहा है—'चित्रिणीरुपदधाति' चित्रिणी नामक इष्टकाओं (ईंटों) को स्थापित करता है। 'वज्रिणीरुपदधाति' वज्रिणी नामक ईंटों को स्थापित करता है। 'भूतेष्टका उपदधाति' भूतेष्टक नामक ईंटों को स्थापित करता है। ईंटों का उपयोग अग्निचयन-कर्म में होता है, पर उक्त कथन अग्निचयन-कर्म के बाहर किया गया है। अग्निचयन-प्रकरण में इष्टकाओं के कुछ कर्म बताये हैं—'अखण्डामकृष्णलामिष्टकां कुर्यात्' बिना टूटी-फूटी और बिना काले रंग की अर्थात् लाल रंग की ईंट बनावे। और बताया—'भस्मना इष्टकाः संयुज्यात्' ईंटों को आपस में भस्म[1] से जोड़े। यहाँ

१. पत्थर फूंककर बनाई राख (चूना) तथा पत्थर के कोयले की राख। चूने और इस राख का सम्मिश्रण सीमेंट से अधिक पकड़ करता है।